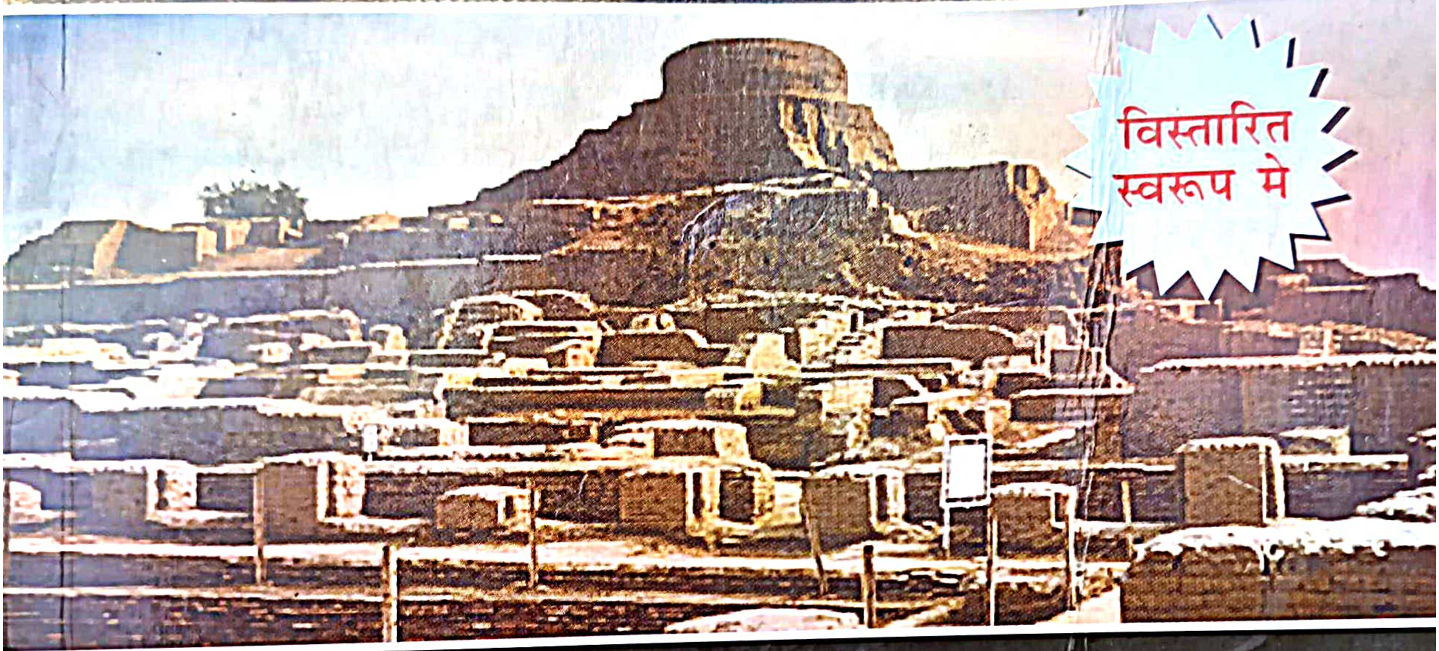




विस्तारित स्वरूप मे

वैदिक युग का घालमेल



लेखक : राजीव पटेल



सम्यक प्रकाशन

वैदिक युग का घालमेल

लेखकद्वय

राजीव पटेल
संजय कुमार

सम्यक प्रकाशन

लेखक की कलम से

आज भारत में अधिकांश लोगों के अंदर बौद्ध संस्कृति और वैदिक संस्कृति पर काफी मतभिन्नता बनी हुई है। इन दोनों संस्कृतियों पर अधिकांश लोगों के मन में प्रश्न पैदा होता है कि दोनों में पहले कौन स्थापित हुई? इस मतभिन्नता के दो कारण आज स्पष्ट रूप से दिखते हैं। पहला, प्रायः आज के लेखकों में उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के निर्विकार अवलोकन की कमी और दूसरा बौद्ध धर्म एवं वैदिक धर्म में जो **धर्म धातु** है उस धर्म की सही विवेचना और समुचित शाब्दिक अर्थों का अभाव।

आइए, अब हम उत्खनन से प्राप्त सभी साक्ष्यों के आधार पर बौद्ध संस्कृति में वैदिक संस्कृति के घालमेल का अवलोकन करते हैं। प्रथमतः गुप्तकाल, ईस्वी सन से पूर्व मौर्य काल एवं सिंधु काल या पूर्व सिंधु काल के जो भी साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, उन सभी साक्ष्यों को आप भी अपनी नजरों से देखते हुए अध्ययन व आकलन कर लें। दूसरा, बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म में समान शब्द **'धर्म'** के शाब्दिक अर्थ को जब तक नहीं जानेंगे, तब तक दोनों में अंतर को स्पष्ट नहीं समझ पाएंगे।

आइए उस **'धर्म'** के शाब्दिक अर्थ को भी जानें। **'धर्म' (पालि भाषा में धम्म)** का अर्थ प्रकृति के सामान्य गुण-स्वभाव से होता था, अर्थात कुदरत के कानून को 'धम्म' के नाम से जाना जाता था। इसका अन्य अर्थ निसर्ग का नियम अथवा सृष्टि का विधान था। इस बात की पुष्टि 9वीं शताब्दी से पूर्व मिले अनगिनत लिखित अभिलेखों (बाम्ही लिपि में) से होती है। उन सभी अभिलेखों पर धम्म की लिखित व्याख्या इस प्रकार की गई है। **'धारेती'ति धम्मो'** यानि **'धारण करे सो धर्म है'**, धारण क्या करें! **'अत्तनो सभावं, अत्तनो लक्खनं, धारेती'ति धम्मो'** अथवा जो अपने स्वभाव को धारण करता है, जो अपने लक्षण को धारण करता है, उसे ही धर्म कहते हैं। लेकिन बाद के समय में कुछ तथाकथित धूर्तों ने अपने छद्म स्वार्थ की पूर्ति करने हेतु, उस कुदरती

गुण-धर्म-स्वभाव की जगह पर अपने अहम और स्वार्थ द्वारा उत्पादित व स्थापित संप्रदाय (शैव पंथ, वैष्णव पंथ, शाक्त पंथ, रामानंदी पंथ, कबीर पंथ, तुलसी पंथ, आर्य पंथ, गायत्री पंथ आदि) को उस कुदरती धर्म का पर्यायवाची बनाते हुए उसकी जगह पर एक खास संप्रदाय विशेष का रूप देने का काम करने लगे, जबकि साक्ष्य कहता है कि यह **'धर्म'** (पालि भाषा में धम्म) संपूर्ण भारतवासियों के लिए गुण-धर्म-स्वभाव के रूप में हमेशा स्वतंत्र नाम के साथ उपयोग होता रहा था, इसके अलावा **'धर्म'** किसी भी अन्य स्वरूप या नाम के साथ उपयोग में नहीं मिलता है।

आइए। उक्त सभी घालमेल को देखते हैं।

–राजीव पटेल

विषय सूची

घालमेल नंबर एक

भारतीय इतिहास का प्रकार और इन सभी के बीच में घालमेल—

1) मान्यतावादी इतिहास

2) शैक्षणिक इतिहास

3) उत्खनन का इतिहास

मान्यतावादी इतिहास कहता है कि भारत में मनुष्य की संस्कृति एक लाख वर्ष से भी काफी पूर्व से स्थापित है, जबकि शैक्षणिक इतिहास कहता है कि भारत में मनुष्य की संस्कृति मात्र 10 हजार वर्ष के अंदर की है।

शैक्षणिक इतिहास कहता है कि भारत में वैदिक संस्कृति का उद्‌भव आज से 3500 वर्ष पूर्व में होते हुए यह आज तक सतत और निरंतर समाज में विराजित चली आ रही है, जबकि उत्खनन का इतिहास कहता है कि भारत में वैदिक संस्कृति का कोई भी नगर, गांव, मकान, वैदिक अनुयायी का शासक या उसका किला, उसका राज्यादेश, मुद्रा, सील, अभिलेख, मृदभांड, लिपि, विदेशी यात्री का यात्रा वृत्तांत जैसी बातों का मिलना अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है।

उत्खनन का इतिहास कहता है कि भारत में बौद्ध संस्कृति के असंख्य साक्ष्य उत्खनन द्वारा जमीन के नीचे से मिलते हैं, जबकि मान्यतावादी ब्राह्मणी वैदिक संस्कृति का इतिहास अभी तक जमीन के ऊपर-ही-ऊपर से मिलने का ही है।

इन सब विसंगतियों से स्पष्ट पता चलता है कि भारतीय इतिहास की शैक्षणिक पुस्तकों में सत्ता भोगी और (जातिगत) सम्मान भोगी वर्गों द्वारा जान-बूझकर पाठ्यक्रम में एक निश्चित एजेंडा (निश्चित विषय सूची) के तहत घालमेल युक्त लेखन करवाया गया है, ताकि समाज का नवशिक्षित वर्ग इसी ज्ञान को सर्वोपरि मानता रहे।

—राजीव पटेल

घालमेल नंबर दो

वेद, सम्यक काल की भाषा पालि के

'वेदना'

से निकला हुआ शब्द है।

जिस वेदना का शाब्दिक अर्थ पालि में अनुभूति होता था

और वेद का अर्थ अनुभव होता है।

लेकिन

धूर्तों द्वारा उत्पादित संस्कृत भाषा में वेद का शाब्दिक अर्थ शून्य होते हुए, एक कहानी युक्त पुस्तक का नाम सिर्फ 'वेद' होकर रह गया है।

—राजीव पटेल

घालमेल नंबर तीन

जिस प्रकार से जीव-जंतु, पेड़-पौधों के जीवन प्रमाण हेतु
चार प्राकृतिक महाभूत मिट्टी, पानी, हवा, उष्मा की आवश्यकता होती है,
उसी प्रकार से ब्राह्मणी वेद, वैदिक संस्कृति के जीवन प्रमाण हेतु भी
चार वैदिक महाभूत
वैदिक मंत्र (संस्कृत के छंद द्वारा निर्मित)
वैदिक ग्रंथ (वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, रामायण, महाभारत)
वैदिक यंत्र (वैदिक देवी-देवता की मूर्ति के साथ-साथ उन सभी का मंदिर)
वैदिक तंत्र (वैदिक कर्मकांड से युक्त जीवन-संस्कार के प्रचलन का प्रमाण)
की आवश्कता होती है।

अब प्रश्न उठता है कि यह चार वैदिक महाभूत का साक्ष्य कब से दिखता है?

–राजीव पटेल

घालमेल नंबर चार

वैदिक लेखक लिखते हैं कि मौर्यकाल के समय चाणक्य था,
जिसने कौटिल्य का अर्थशास्त्र लिखा था।
अब प्रश्न उठता है कि
मौर्यकाल में लेखन हेतु सिर्फ शिलाओं का प्रयोग होता था
लेकिन
चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के लेखन हेतु
कागज का प्रयोग किया था।
क्या उस समय कागज का आविष्कार हो चुका था?
मौर्यकाल की सभी वस्तुओं का साक्ष्य खुदाई द्वारा मिला है
लेकिन
चाणक्य का साक्ष्य किस स्थान की खुदाई से मिला है?

–राजीव पटेल

घालमेल नंबर पांच

वैदिक पक्ष और विपक्ष के लेखक लिखते हैं कि पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण था।

फिर शुंग काल में

ब्राह्मणी ग्रंथ, ब्राह्मणी मंत्र, ब्राह्मणी यंत्र का निर्माण

जरूर हुआ होगा।

अब कोई यह बताए

कि

शुंग द्वारा निर्मित इस प्रकार का ब्राह्मणी ग्रंथ, मंत्र, यंत्र का साक्ष्य कब और कहां मिला है?

–राजीव पटेल

घालमेल नंबर छः

शैक्षणिक पुस्तकों के माध्यम से वैदिक सभ्यता की शिक्षा दी जाती है।
पुनः शैक्षणिक पुस्तकों
के अंदर उत्खनन को आधार मानकर वैदिक
से पूर्व और वैदिक के बाद की रही
सभ्यता-संस्कृति का मिलना बताया जाता है।
लेकिन वैदिक सभ्यता-संस्कृति का साक्ष्य कब और कहां मिला है?

–राजीव पटेल

वैदिक युग का घालमेल

आज, भारत में धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में बहुत ही विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। पूर्व में स्थापित 'सम्यक संस्कृति' (आज के अनुसार बौद्ध संस्कृति) के संबंध में आज कुछ लोगों की मान्यता है कि ईसा पूर्व में हुए शुंग वंश के सम्राट 'पुष्यमित्र शुंग' द्वारा बौद्ध संस्कृति को खत्म करते हुए पूर्व की वैदिक संस्कृति या ब्राह्मणी संस्कृति को पुनर्स्थापित किया गया था। पुनः इस विषय पर दूसरे मत के लोगों की मान्यता है कि पूर्व के भारत में स्थापित 'वैदिक संस्कृति' में वर्णवाद जैसी कुरीति आने की वजह से बौद्ध संस्कृति का उदय हुआ था, जो कुछ वर्षों बाद स्वतः ही समाप्त हो गई। जबकि वैदिक मान्यता से प्रभावित लोगों की मान्यता है कि भारत में बौद्ध संस्कृति में आई विकृति की वजह से बौद्ध संस्कृति स्वतः समाप्त हो गई और पूर्व की वैदिक संस्कृति पुनः स्थापित हो गई, क्योंकि भारत में वैदिक संस्कृति ही सबसे पुरानी संस्कृति है।

यानी इस मान्यता के अनुसार गौतम बुद्ध और पुष्यमित्र शुंग के पूर्वकाल में भी वैदिक संस्कृति रही होगी?

जबकि भारत के उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्य कुछ और ही कहानी की ओर संकेत करते हैं। क्या आपने कभी उस ओर ध्यान दिया है?

भारतीय इतिहास का प्रकार और इन सभी के बीच में घालमेल—

(1) मान्यतावादी इतिहास, (2) शैक्षणिक इतिहास, (3) उत्खनन का इतिहास।

मान्यतावादी इतिहास कहता है कि भारत में मनुष्य की संस्कृति एक लाख वर्ष (सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलयुग) से भी आगे से स्थापित है, जबकि शैक्षणिक इतिहास कहता है कि भारत में मनुष्य की व्यवस्थित संस्कृति मात्र 10 हजार वर्ष के अंदर की है।

शैक्षणिक इतिहास कहता है कि भारत में वैदिक संस्कृति आज से 3500 वर्ष पूर्व से है, जबकि उत्खनन का इतिहास कहता है कि भारत में वैदिक संस्कृति का कोई भी नगर, गांव, मकान, किसी शासक का कोई किला, उसका राज्यादेश, मुद्रा, सील, अभिलेख, मृदभांड, लिपि, विदेशी यात्री का यात्रा वृत्तांत जैसी बातों का मिलना अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। उत्खनन का इतिहास कहता है कि भारत में बौद्ध संस्कृति के सभी साक्ष्य आज उत्खनन द्वारा जमीन के नीचे से मिले हैं, जबकि ब्राह्मणी वैदिक मान्यता वाली सभी संस्कृति का साक्ष्य जमीन के ऊपर से मिला है।

आइए, उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों का अवलोकन करते हुए पूर्व में स्थापित सभ्यता-संस्कृति की वस्तु-स्थिति को जानने-समझने का प्रयास करते हुए आज के लेखकों के घालमेल को देखते हैं।

आज आपको सिर्फ भारत में खुदाई से प्राप्त उन साक्ष्यों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने की जरूरत है।

सर्वप्रथम, आपको शुंग काल से पूर्व के प्राप्त अवशेषों को देखना होगा कि सच में पुष्यमित्र शुंग ने पूर्व के किसी बौद्ध-स्थल को नष्ट भी किया था!! या फिर पूर्व के अधिकांश बौद्ध-स्थलों को सुरक्षा प्रदान करते हुए, उनमें से कुछेक बौद्ध-स्थलों का पुनरुद्धार करते हुए उन्हें नए रंग-रूप में सुसज्जित भी किया था? दूसरा, उसने सत्ता और राजनीतिक मजबूरी के चलते पक्ष-विपक्ष में रहे किन्हीं खास लोगों की हत्या की थी या समूचे भारत में रह रहे बौद्ध मतावलंबियों की भी हत्या कर दी थी?

इन सभी बातों के बाद दूसरी बातों पर भी बारीकी से ध्यान देना होगा कि क्या वास्तव में गौतम बुद्ध के पहले भी वर्णाश्रम पर आधारित समाज का साक्ष्य मिलता है या यह वर्णागत समाज सिर्फ कपोल-कल्पित है?

तीसरी बात, यह भी देखना होगा कि क्या गौतम बुद्ध के पूर्व-काल में भी संस्कृत भाषा में वैदिक ऋचाओं के साथ-साथ आज के देवताओं में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले मंत्र या ब्राह्मणों द्वारा देवताओं को अपने वश में करते हुए कर्मकांड करने वाले मंत्र का मिलना होता था? या फिर कहीं ऐसा तो नहीं कि यह सिर्फ आज की कपोल-कल्पना द्वारा रचित मंत्र का नाम देते हुए ठगी करने की भाषा है?

चौथी बात, यह भी प्रमुखता से देखना होगा कि क्या वैदिक सभ्यता का

मूलाधार देवी-देवता की मूर्तियां हैं? अगर देवी-देवता की मूर्तियां हैं तो क्या ये सभी देवी-देवता की मूर्तियां ईसा पूर्व के भारत में भी मिलती थीं? अगर नहीं मिलती थीं तो इन सभी का बनना कब और किस आधार पर शुरू हुआ है? आज का प्रमाण तो इन सभी मूर्तियों का निर्माण ब्रिटिश भारत के समय स्थापित गीता प्रेस में कार्यरत चित्रकारों के कल्पना की बुनियाद पर प्रमाणित होता है। अगर इस बात पर किसी को आपत्ति है तो गीता प्रेस की स्थापना से पूर्व वैदिक पात्रों का चित्र दिखाया जाए?

पांचवीं बात कुरीति से संबंधित है, इसमें एक प्रश्न उठता है कि वैदिक ब्राह्मणी परंपरा में देवदासी प्रथा, सती प्रथा, हरिबोल प्रथा, नर-बलि प्रथा, पशु-बलि प्रथा, नियोग प्रथा, कन्या शुद्धि प्रथा जैसी अनेक कुरीतियां होने के बाद भी यह ब्राह्मणी-वैदिक संस्कृति खत्म नहीं हुई, लेकिन आज के कुछ तथाकथित विद्वान पंडित लोग पूर्व की बौद्धिक (बौद्ध) परंपरा का खात्मा का कारण अज्ञात कुरीतियों को बताते नहीं थकते हैं! आखिर ऐसी दोरंगी सोच क्यों?

जब तक इन सभी बिंदुओं पर सूक्ष्म दृष्टिकोण को रखते हुए साक्ष्यपरक विश्लेषण नहीं करेंगे, तब तक किसी के पक्ष में कुछ भी कहना अपनी मनोनुकूलता के अनुसार तारतम्य बैठाने के समान समझा जाएगा।

आइए, भारत में उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्रथम ज्ञात सभ्यता काल की संस्कृति से लेकर आज तक की दिख रही संस्कृति पर नजर डालते हैं। लेकिन इस उत्खनन युक्त साक्ष्य का अवलोकन करने से पूर्व अगर किसी उदाहरण के द्वारा किसी सभ्यता और संस्कृति का खात्मा या रूपांतरण होने वाली घटना के घालमेल को समझने के लिए उद्धृत किया जाए तो शायद इस कल्पित कहानी को समझने में काफी सहायता मिलेगी, क्योंकि कभी-कभी कोई बात उदाहरण से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

आइए साक्ष्य से पूर्व कुछ घालमेल वाले उदाहरण को देखते हैं!

बौद्ध संस्कृति या वैदिक संस्कृति का खात्मा या रूपांतरण को समझने के लिए उदाहरण स्वरूप किसी नदी का खात्मा या रूपांतरण को लेकर समझने की कोशिश करते हैं। किसी भी नदी के उद्गम स्थल से लेकर उसके सागर तक के मिलने वाले नामों और प्रक्रिया पर गौर करें! फिर आप उस नदी के जैसे इस संस्कृति को भी समझ जाएंगे कि किसी संस्कृति का खात्मा या रूपांतरण कैसे

होता है या उसके अंदर तथाकथित धूर्तों द्वारा घालमेल कैसे किया जाता है।

भारत की सबसे प्रमुख नदी 'गंगा' है, लेकिन जब यह नदी हिमालय पहाड़ में प्राकृतिक रूप से बने हिमखंड से निकलती है तो इस नदी का नाम 'गंगोत्री' होता है। लेकिन यह गंगोत्री जैसे ही आगे बढ़ती है तब इसमें 'अलकनंदा' और 'मंदाकनी' नाम की दो नदियां आकर मिलती हुई भारत के मैदानी भागों पर विचरण करती हैं तो इस नदी को लोग 'गंगा' नदी के नाम से जानते हैं। यानी गंगा की कोई भी अपनी स्वतंत्र उद्गम स्थली नहीं है। यही गंगा नदी जब मैदानी भागों को चीरते हुए बंगाल की खाड़ी में मिलने को बेचैन होती है तो प. बंगाल और बंगलादेश में यह गंगा नदी अपने 'गंगा' नाम रूपी अस्तित्व को समाप्त करते हुए 'हुगली' और 'पद्मा' के नाम में परिवर्तित होकर समुद्र में मिलती है।

अब आपको देखना होगा कि हुगली और पद्मा नदी का अपना कोई वजूद बंगाल (आज का पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बंगलादेश) से पूर्व में भी किसी राज्यों में है या यह नदी किसी नदी का बदला हुआ नाम है?

उसी प्रकार से आपको पुनः देखना होगा कि मैदानी भागों में से गुजरने वाली गंगा का अपना कोई जल-स्रोत यानी अपने नाम पर उद्गम नदी है या यह भी पूर्व में किसी उद्गम नदी का परिवर्तित नाम है?

आगे आपको उस 'गंगोत्री' नदी को भी देखना होगा कि यह भी स्वतः निकलने वाली जल-स्रोत धारा है या यह भी किसी के सहारे पैदा होने वाली जल-धारा है?

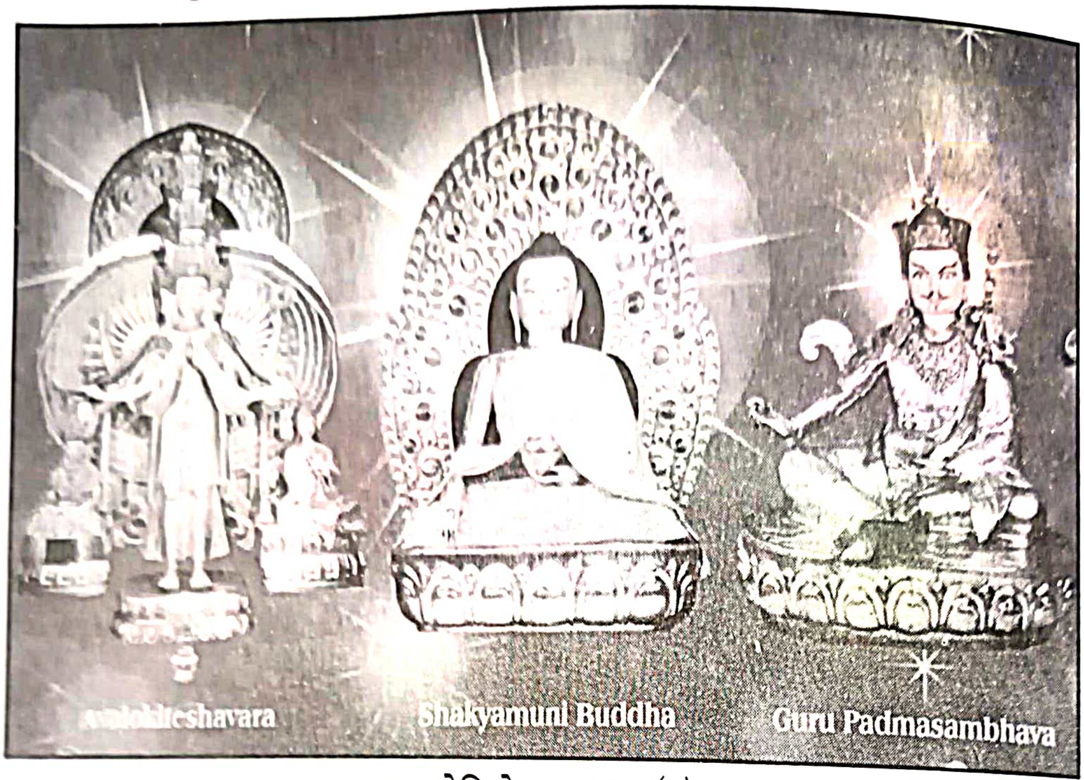
इन सब विषयों पर जब आप अपनी सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे तो पाएंगे कि प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सिद्धांत **'प्रतीत्य-समुत्पाद'** के नियमानुसार पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर 'हिमखंड' का बनना होता है और उसी हिमखंड से ग्लेशियर का निर्माण होता है। जब इस ग्लेशियर से बर्फ पिघलती है तो एक 'जलधारा' का रूप ले लेती है और यह जलधारा 'गंगोत्री' के नाम से पहाड़ों को चीरते हुए नीचे उतरती है, जिसमें आगे मंदाकनी और अलकनंदा जैसी जलधारा का मिलन होते हुए मैदानी भागों पर आती है, जिसे भारत के मैदानी भागों में हम लोग **'गंगा नदी'** के नाम से जानते हैं। अब यह गंगा नदी जब अपनी विकरालता को समाप्त करते हुए विकृत अवस्था में पहुंचती है तो यह अनेक शाखाओं में बटती

हुई समुद्र में मिलने को आतुर होती है, उस समय इस गंगा नदी की पहचान अपने परिवर्तित नाम 'हुगली' और 'पद्मा नदी' के रूप में होती है, लेकिन यह 'पद्मा नदी' भी आगे जाकर 'मेघना', 'तेतुलिया', 'गलचिया', 'बलस्वर', 'भैरव नदी' जैसे अनेक नामों में विभक्त होकर समुद्र में मिलती है।

इसी को पूर्ववत से चली आ रही प्राकृतिक परंपरा के नामों का काल और स्थान के अनुसार बदलते रूप और नाम का रूपांतरण कहा जाता है।

लेकिन, अगर हुगली और पद्मा नदी का स्वयं का अपना उद्गम स्थल होता तो, आज हुगली और पद्मा नदी के नाम को रूपांतरित नाम की नदी नहीं साबित करते। आगे इस गंगा नदी का भी स्वयं का अपना कोई जल-स्रोत होता या उद्गम स्थल होता, तो इस गंगा को भी आज गंगोत्री से रूपांतरित नदी नहीं कहकर स्वयं की उद्गम नदी कहते। उसी प्रकार से गंगोत्री भी स्वनिर्मित जलभंडार से निकलती तो, उस गंगोत्री को भी ग्लेशियर और ग्लेशियर के प्राकृतिक हिमखंडों का रूपांतरित रूप नहीं कहते।

यानी कि साक्ष्य के तौर पर जिस प्रकार हिमखंडों से निकलकर गंगोत्री की धारा प्रस्फुटित होती है और आगे उसमें अलकनंदा, मंदाकनी की जलधारा मिलकर मैदानी भागों में गंगा बनते हुए बंगाल में जाकर हुगली और पद्मा बनते हुए समुद्र में विलीन हुई है, उसी प्रकार से भारत की सभ्यता-संस्कृति भी 5000 वर्षों से अपने प्राकृतिक गुण-धर्म-स्वाभाव वाली हिमखंड से प्रचुर मात्रा में साक्ष्य (स्तूप, चीवरधारी पुरुष, साधनारत पुरुष, पीपल पत्ता) वाली सभ्यता से निकलकर किसी कारणवश गुम हो गई थी, जिसको ईसा पूर्व 563 में जन्मे महामानव गौतम बुद्ध उस प्राकृतिक गुण-धर्म-स्वाभाव वाली परंपरा में अलकनंदा और मंदाकनी जैसी प्रतीत्य-समुत्पाद, आर्य-सत्य और उसमें बहुजनों के दुख मुक्ति हेतु आष्टांगिक मार्ग को जोड़ते हुए भारतीय समाज रूपी मैदानी भागों में ले जाकर गंगा जैसे विराट रूप में सभी को दर्शन करवाए थे। उस समय इस प्राकृतिक गुण-धर्म-स्वभाव वाले मार्ग को थेरवादी मार्ग भी कहा जाता था। पुनः ईस्वी सन के आसपास इस थेरवादी गुण-धर्म वाली संस्कृति में मध्य एशिया से आए हुए मूर्ति-पूजक (हिंद बैक्ट्रिआई कुषाण) परंपरा के सम्राट कनिष्क का मिलन हो जाता है और वे लोग इस थेरवादी परंपरा, संस्कृति में महामानव मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति बनाते हुए मूर्ति पूजा की शुरुआत करते हैं। यानी



अवलोकितेश्वर बुद्ध (1)

अब भारत ही नहीं विश्व के कई देशों में प्राकृतिक गुण-धर्म, आर्य-सत्य, आष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य-समुत्पाद के साथ-साथ इसके प्रवर्तक महामानव गौतम बुद्ध की मूर्ति स्थापित करते हुए उनके मूर्ति की पूजा की शुरुआत भी हो गई थी, जिसे महायानी मार्ग भी कहा जाने लगा था। इस महायानी बौद्ध परंपरा का बहुत ही व्यापक प्रभाव सम्राट कनिष्क से लेकर गुप्तवंश और हर्षवर्धन वंश तक रहा था, जिसको प्रामाणिक तौर पर आज खुदाई में मिलने वाली गौतम बुद्ध की अनगिनत मूर्तियों के साक्ष्यों को देखकर कोई भी समझ सकता है।

महायानी परंपरा में महामानव मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ तीसरी शताब्दी के बाद से एक 'अवलोकितेश्वर बुद्ध' की मूर्ति का प्रचलन बढ़ने लगा था। उसी अवलोकितेश्वर बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियों के चलते 700 ईस्वी के बाद से इस महायानी परंपरा का रूपांतरण क्रमशः वज्रयानी, तंत्रयानी, शाक्त पंथ, शैव पंथ, वैष्णव पंथ जैसी अनेक शाखाओं में होने लगा। **"अवलोकितेश्वर बुद्ध"** की मूर्ति देखने हेतु **चित्र संख्या (1) देखें।**

जो आज समुद्र में मिलने को व्याकुल हुगली और पद्मा जैसी नदियों के सदृश्य मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति का रूपांतरण करते हुए अंतिम कगार पर खड़ा है। अब वह दिन दूर नहीं है, जिस प्रकार से गंगा से विकृत होकर कई नामों से निकलने वाली हुगली और पद्मा नदी समुद्र में विलुप्त होते हुए

प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धांत पर वर्षा द्वारा पुनः हिमखंड में परिवर्तित होकर शुद्ध होती है, उसी प्रकार से आज की पाखंड और अंधविश्वास से युक्त शैव पंथ, शाक्त पंथ, आर्य-समाज पंथ, वैष्णव पंथ, गायत्री पंथ वाली सभ्यता संस्कृति भी पुनः प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम से प्राकृतिक गुण-स्वभाव को जन्म देते हुए पुराने कुदरत के कानून में बदलने को व्याकुल है।

इस उदाहरण से कोई पाठकगण अगर विचलित हुए हैं तो आप हुगली और पद्मा के जैसे साक्ष्यों द्वारा सत्यापित करें कि आज की ब्राह्मणी परंपरा (शैव पंथ, वैष्णव पंथ, शाक्त पंथ, लिंगायत पंथ, रामानंद पंथ, कबीर पंथ, तुलसी पंथ, आर्य समाज़ पंथ, गायत्री पंथ आदि), जिसे लोग आज वैदिक परंपरा भी कहते हैं, क्या उसका कोई अपना उद्गम स्थल भी है?

मैं आप सभी का ध्यान एक बात पर आकृष्ट करना चाहूंगा कि वैदिक परंपरा का मूलाधार **'वेद'** है और उस वेद का मूलाधार **'वैदिक ऋचाएं'** हैं और उन वैदिक ऋचाओं का मूलाधार **'संस्कृत'** है। यांनी संस्कृत भाषा उस वैदिक सभ्यता की मूल है। क्योंकि बगैर संस्कृत के वैदिक ऋचाओं का बनना नामुमकिन है और बगैर ऋचाओं के वेद ग्रंथ (**श्रुत या लिपिबद्ध**) का बनना नामुमकिन है। फिर आपको बताना होगा कि संस्कृत और वेद की उत्पत्ति एक साथ क्यों नहीं हुई थी? फिर उस संस्कृत के बिना वेद की ऋचाओं का निर्माण कब और कैसे हुआ? अगर ऋचाएं बनी होंगी तो उसका साक्ष्य भी होगा या फिर यह सिर्फ कपोल-कल्पित कल्पना की उपज है? यदि इस वेद का कुछ साक्ष्य और प्रमाण है, तो जरूर दिखाएं!

दूसरा, अगर वेद का मूलाधार **'वर्ण'** है तो उस वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था भी वर्णागत रही होगी? अतैव आप सभी को साक्ष्य के रूप में उस समय के **'वर्णागत'** समाज को भी दिखाना होगा? भारत में **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र** का लिखित साक्ष्य किस सम्राट के अभिलेख से शुरू होता है यह भी बताएं? क्योंकि अभी तक जितने भी सम्राटों के अभिलेख को पढ़ा गया है, उनमें हर सम्राट ने अपने को सिर्फ वंश से जोड़कर रखा है या लिखा है, लेकिन किसी ने भी अपने आपको किसी जाति या वर्ण से जोड़कर क्यों नहीं लिखा? जबकि वेद और वैदिक काल कहता है कि वह समाज वर्णागत था और ब्राह्मण या क्षत्रिय के अलावा कोई भी शासक नहीं बन सकता था।

जबकि ऐसा लिखा हुआ भारत में 850 ईस्वी से पूर्व किसी भी शासक के अभिलेख से क्यों नहीं प्राप्त हुआ है? वैदिक वर्णागत समाज की रट लगाने वाले रटंतु तोता अगर कुछ बोलते हैं या उसे कोई अपने स्वार्थपरक लाभ हेतु 200 वर्षों में कहीं लिख देता है तो क्या उसे हम सभी को आज प्रमाण के रूप में साक्ष्य मान लेना चाहिए?

तीसरा, वेद और वैदिक परंपरानुसार देवताओं की आराधना का प्रावधान है, यानी वेद में उद्धृत देवताओं की मूर्तियां या मंदिर भी वैदिक काल से लेकर आज तक जरूर स्थापित होनी चाहिए थीं! फिर उन मंदिर या मूर्तियों का मिलना भी तथाकथित वैदिक काल (सतयुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग और कलयुग) या प्रामाणिक व सत्यापित काल जो पुरा-पाषाण काल (ईसा पू. 8000 से पहले का काल), नव-पाषाण काल (8000 से 3000 ई.पू.), आरंभिक एवं विकसित सिंधु काल (3000 ई.पू. से 1500 ई.पू.), मौर्यकाल (ई.पू. तृतीय शताब्दी), कुषाण काल (ईस्वी सन के बाद), गुप्त काल (तृतीय शताब्दी) और हर्षवर्धन काल (सातवीं शताब्दी) तक में जरूर होना चाहिए था?

क्या ऐसा कुछ किसी उत्खनन में कहीं मिला है?

क्योंकि जब वैदिक सभ्यता या परंपरा पूर्व से है तो इन तीनों साक्ष्यों का होना भी उसी प्रकार से कहा जा सकता है जैसे दिन का होना और सूर्य का दिखना! क्योंकि दिन होगा तो सूर्य और सूर्य की किरणों का प्रकाश भी अवश्य दिखेगा, अगर किसी कारणवश कुछ समय के लिए बादल से सूर्य छिप भी जाए तो उस समय सूर्य की किरण उस बादल रूपी पर्दे को भेधते हुए उस समय के रह रहे लोगों पर अपने झीने-झीने प्रकाश का उजाला तो जरूर फैलाएगी। ऐसा तो कतई नहीं होगा कि दिन का समय हो और किसी कारणवश बादल में सूर्य छिप जाए तो झीना-झीना प्रकाश के उजाले की जगह चारों ओर अमावस्या की घोर काली रात जैसी कालिमा छा जाए!

अभी तक वैदिक मत वाले जितने भी लेखक हुए हैं, वे सभी अपनी वर्णागत परंपरा के अनुसार मुफ्त का सामाजिक मान-सम्मान प्राप्त सुविधा भोगी लोग हुए हैं और वे नहीं चाहते हैं कि उनका सामाजिक मान-सम्मान सच जानने की वजह से गुण और ज्ञान आधारित हो जाए अथवा मानव-मानव के बराबर हो जाए। इस वजह से वे सभी लोग वैदिक सभ्यता नाम की कल्पना को आज

से 3000-3500 वर्ष पूर्व में जाकर (ईसा से 1000-1500 वर्ष पूर्व) अंधकारमय वाले काल में अपनी वैदिक सभ्यता और संस्कृति को काली अमावस्या की रात में छिपा देते हैं, जबकि आज से 3000 वर्ष पूर्व ही नहीं बल्कि 8-10 हजार वर्ष पूर्व पाषाण काल के भी उत्खनन द्वारा प्राप्त साक्ष्य सब राज्यों में बने संग्रहालयों में उपस्थित हैं। जरूरत सिर्फ आज उसे देखते हुए अवलोकन करने की है।

बंधु, अगर आप सिर्फ पुस्तकों और धारावाहिकों के पीछे-पीछे भागने के आदी हो गए हैं तो आज आपको उस हिमखंड, गंगोत्री, गंगा और उससे रूपांतरित होने वाली हुगली और पद्मा जैसी नदी के बनते-बिगड़ते नामों को देखने-समझने की जरूरत है, अन्यथा सिर्फ काल्पनिक-कथायुक्त पुस्तकों और धारावाहिकों के माध्यम से अर्जित ज्ञान द्वारा बाबा शंकर की जटा में से पिता भागीरथ के द्वारा माता गंगा को निकालकर धरती पर लाने वाली नदी के रूप में जानते और पूजते रहेंगे।

आइए! देखें कि भारत का पुरातात्विक साक्ष्य क्या कहता है?

जिस प्रकार गंगोत्री नामक जलस्रोत प्रकृति निर्मित हिमखंड से निकली है, जिसे आज ग्लेशियर भी कहते हैं, उस ग्लेशियर के बर्फ को किसी दैविक शक्ति या किसी मनु महाराज ने अपने फ्रीजर में नहीं बनाया है, बल्कि वह प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम से बनते हुए, प्रकृति द्वारा जल के ठंड में जमने से बनी है। उसी प्रकार भारत की सभ्यता और संस्कृति भी प्राकृतिक गुण-स्वभाव वाली कुदरत के कानून से निकली है। इस कुदरत के कानून का भी कोई रचनाकार नहीं है, बल्कि इस कुदरत के कानून को अनेक मार्गदाताओं ने अपने ज्ञान अनुभव द्वारा जानकारी प्राप्त करते हुए, शील-सदाचार के रूप में उस समय के जनमानस की दुखमुक्ति और निर्वाण प्राप्ति हेतु विकसित किया था। इस ज्ञान के कई मार्गदाता हुए, जिनमें कुछ का तो आज साक्ष्य और प्रमाण भी लोगों के सामने है, जिसमें उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा है कि मुझे इस मार्ग पर चलने से लाभ हुआ है, तुम अगर चलोगे तो तुमको भी लाभ होगा, मैं जिस रास्ते पर चला हूं वह रास्ता मुझे मालूम है, अगर तुम चलना चाहते हो तो मैं वह रास्ता बता सकता हूं, पर उस पर चलना तो तुमको ही पड़ेगा।

लेकिन काल्पनिक कथा के रचनाकारों ने जिस प्रकार शंकर की जटा को

बर्फ वाली फ्रीजर बनाकर उसमें से गंगा नदी निकाल दी है, उसी प्रकार सृष्टि के काल्पनिक रचयिता ब्रह्मा द्वारा वैदिक सभ्यता निकालते हुए उस ब्रह्मा के द्वारा बिना किसी लिपि, भाषा का अभ्युदय किए ही वेद की रचना भी करवा दी है, इतने से भी उन काल्पनिक लेखकों को तृप्ति नहीं मिली, तो उसी ब्रह्मा के शरीरिक अंगों से वर्णागत मनुष्य का जन्म कराते हुए भारतीय समाज को भी अपनी कल्पना में वर्णाश्रम पर आधारित समाज बना देते हैं। परंतु उन काल्पनिक कथावाचकों से शंकर की जटा का साक्ष्य और ब्रह्मा के द्वारा उद्धृत वेद और वर्णागत समाज का साक्ष्य मांगने पर वे अपनी काल्पनिक बातों के जाल में उलझाने लगते हैं। भाई! झूठ की बुनियाद बालू के घर के सामान कच्ची होती है, जो साक्ष्य रूपी फूंक मारने से गिर जाती है। अब आपका झूठी वैदिक रूपी बालू का ढेर आपके सामने है।

भारत में उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों पर आधारित सभ्यता को दो भागों में बांटकर देखा जाता है। पहली सभ्यता साक्ष्यों द्वारा ज्ञात है (जैसे सिंधु सभ्यता), लेकिन उस काल के उत्खनन से प्राप्त लिखित लिपि पठन-पाठन योग्य नहीं बन पाने की वजह से यह पता लगाना आज बहुत ही कठिन हो गया है कि उस समय किस-किस नाम के लोग रहते थे? लेकिन प्राप्त साक्ष्यों को देखकर यह जरूर कहा जा सकता है कि वह सभ्यता-संस्कृति बहुत ही विकसित सभ्यता रही थी। उस सभ्यता के साक्ष्यों को देखकर आज बिल्कुल यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी भवनों का निर्माण आज के वैज्ञानिक वास्तुविदों के आधार जैसे व्यवस्थित ढंग से किया जाता था। उन भवनों में व्यवस्थित ढंग का स्नानागार होता था, जो आज खुदाई में प्राप्त हुआ है। उस समय लिखने की लिपि का आविष्कार भी हो गया था, जिसका साक्ष्य उस समय की मुद्रा या अन्य सील-मुहरों से प्राप्त होता है। यानी कि उस समय लिपि और लिखने का आविष्कार हो गया था।

लेकिन, यह बात आज शत-प्रतिशत दावे के साथ कही जा सकती है कि उस समय ब्रह्मा, वेद, वैदिक और संस्कृत युक्त ऋचाओं के साथ-साथ वर्णागत समाज का कुछ भी साक्ष्य नहीं मिला है। फिर आज के तथाकथित लेखक महोदय यह कैसे दावा करते फिरते हैं कि भारत में आज से 2600 वर्ष पूर्व भी वेद और वैदिक संस्कृति थी?

प्रथम खंड यानी ईसा पूर्व 3500 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक की प्राप्त मुद्राएं, मृदभांड, सील-मुहरें, टेराकोटा की छोटी मूर्तियां, लिपि, नगरीय प्रमाण, स्तूपनुमा आकर की बनावटें, शिक्षण संस्थान जैसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य आज मिले हैं, जिसे आज आप भी देख और समझ सकते हैं।

दूसरे खंड के अंतर्गत 600 ई.पू. के बाद का काल है, जिसके अंतर्गत लिखित साक्ष्य और कई शासकगण के साक्ष्य भी मिलते हैं। साथ ही इन सभी सम्राटों के अभिलेख या अन्य मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं और वे पठन योग्य हैं, इसलिए उन सभी को जानना समझना बहुत ही सरल हो गया है। उस काल में विद्या प्राप्त करने के विद्यालय व शिक्षण संस्थानों के अवशेष जो आज मिल रहे हैं, उससे उस समय में प्रचलित सभ्यता-संस्कृति को जानना, समझना और भी सुलभ हो गया है। साथ ही इन शिक्षण संस्थानों में बहुत से दूसरे देशों के प्रतिभावान विद्यार्थी भी शिक्षा ग्रहण करने आते रहते थे, जिन्होंने भारत के अंदर रह रहे वर्ग-समूह के रहन-सहन और सभ्यता-संस्कृति के बारे में काफी विस्तारपूर्वक पठनीय योग्य भाषा में लिखा है, जिसको पढ़कर आज कोई भी भारत की सभ्यता-संस्कृति को जान-समझ सकता है।

लेकिन आज भारत का दुर्भाग्य कहें कि अभी तक भारत की जितनी भी पुस्तकों में यहां की सभ्यता-संस्कृति की जानकारी लिखी गई है वह काल्पनिक ऋग्वेद के चारों तरफ सिमट कर रह जाती है।

भाई! पहले आप लोग ऋग्वेद की पुस्तक को तो सत्यापित कर लो। उसके बाद ही इसके इर्द-गिर्द किसी सभ्यता संस्कृति को घुमाना।

850 ईस्वी से पूर्व के भारत में विद्या अपने शिखर पर थी, फिर भी उस काल में इस ऋग्वेद का कोई नामो-निशान नहीं मिलता है। फिर यह ऋग्वेद मुगल काल के बाद से अचानक यह कहते हुए कैसे प्राप्त हुआ कि इसका वजूद 3000 वर्ष से भी ज्यादा पुराना है?

इसको आप एक उदाहरण से समझें!

एक समय की बात है कि एक बहुत ही शानदार समारोह में तीन मित्रों को बुलावा आया। तीनों मित्र एक साथ उस समारोह में शामिल हुए। इन तीनों मित्रों का परिचय भी जान लें, इनमें से एक ऊंचा प्रशासनिक पदाधिकारी था, दूसरा मित्र सत्ताधारी राजनीतिक पार्टी का वरिष्ठ नेता था

और तीसरा उस देश का सर्वोच्च उद्योगपति था। जब तीनों मित्र उस समारोह में पहुंचे तो उस समारोह की सकारात्मक व्यवस्था को देखकर वे अनायास ही अपने-अपने तरीके से व्याख्या करने से स्वयं को नहीं रोक पाए। परंतु उस व्याख्या में तीनों का नजरिया अपने प्राप्त मान-सम्मान, कार्य और पृष्ठभूमि के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। उसी प्रकार भारत के उत्खनन से प्राप्त भव्यता का विश्लेषण भी तमाम लेखकों ने अपने-अपने मान-सम्मान और कार्य लगाव के अनुसार किया है। अब आप इन मित्रों की प्रतिक्रिया एवं उसके लगाव के प्रभाव को देखें— उस समारोह की विशाल भव्यता और सुव्यवस्थता को देखकर प्रथम मित्र जो कि प्रशासनिक पदाधिकारी है, वह बोला कि यह समारोह जरूर ही किसी प्रशासनिक पदाधिकारी का होगा, क्योंकि इस समारोह में इतनी भीड़ होने के बाद भी कोई अव्यवस्था नहीं है। इस प्रकार की निपुणता सिर्फ प्रशासनिक पदाधिकारियों में ही पाई जाती है। तभी उनकी बगल में बैठा दूसरा राजनीतिक मित्र बोल पड़ा— आप ऐसा क्यों बोलते हैं? इस प्रकार के विशाल जनसमूह को व्यवस्थित करने का हुनर सिर्फ राजनीतिक आकाओं के पास ही होता है, इसलिए यह निश्चित ही किसी बड़े राजनीतिक व्यक्ति के यहां का समारोह होगा। भला तीसरा मित्र इतना अनुभवी होने के बाद कैसे चुप रह सकता था। वह भी अपनी बातों का गुब्बार निकालते हुए बोला कि आप लोगों को कुछ नहीं मालूम है, बड़े-बड़े उद्योगों में असंख्य कर्मचारियों से सेवा लेते हुए, सही रूप से प्रबंधन का गुण सिर्फ उद्योगपतियों को ही प्राप्त है, इसलिए यह निश्चित तौर पर किसी बड़े व्यापारी परिवार का समारोह है।

यानी समारोह किसी का भी हो, उससे उस समारोह की व्याख्या पर ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है, फर्क सबसे ज्यादा तब पड़ता है जब उस समारोह को अपने-अपने मनोनुकूल व्याख्या करते हुए अपने हित में साबित करने में लोग किसी भी हद तक चले जाते हैं, जिसे आप देख सकते हैं। आज कुछ ऐसी ही स्थिति ईसा पूर्व काल में मिले उत्खनन द्वारा प्राप्त साक्ष्यों से संबंधित विश्लेषण की भी है।

वैदिक मत के सभी समर्थक लेखकों से कहना है कि आप लोग मनोनुकूल विश्लेषण क्यों करते हो, लिखित वेद का कुछ साक्ष्य है तो दिखाओ और साथ ही अपनी ब्राह्मणी धार्मिक बनावट का कुछ साक्ष्य हो तो उसको भी बताओ।

आज तक आप लोगों ने किसी भी पुरातात्विक साक्ष्य को आधार मानते हुए ईसा पूर्व के प्राचीन सभ्यता-संस्कृति की सच्चाई को स्वीकार क्यों नहीं किया है? हर उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों को अपनी कल्पनाओं वाली ऋग्वेद की ऋचाओं से क्यों जोड़ते हैं? प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों को पर्दे के पीछे रखते हुए अपना विश्लेषण और व्याख्या क्यों करते हो? आज तक वेद नामक ग्रंथ का प्राचीन साक्ष्य नहीं मिला है, फिर भी वेद-वेद चिल्लाना! संस्कृत का कोई प्राचीन साक्ष्य आज तक नहीं मिला है, फिर भी संस्कृत में उद्धृत ऋचाओं को उद्धृत करना और उन्हें अत्यंत प्राचीन बतलाना, कहां तक उचित है? आप लोग बोलते हो कि उस समय सभी वैदिक ऋचाएं श्रुति-स्मृति में थीं इस वजह से उसका साक्ष्य नहीं मिलता है।

फिर ये बताओ कि ये सभी ऋचाएं उस काल के किस भाषा-वोली में थीं, जो आज श्रुति-स्मृति द्वारा स्थानांतरित होते हुए भी वर्तमान के लेखन काल में आ गई!

कोई बताएगा क्या?

आज वेद की ऋचाएं संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं, जो प्राचीनकाल में बगैर लिपिबद्ध होते हुए भी आज की पीढ़ी को श्रुति-स्मृति द्वारा आधुनिक कागज पर छापकर जबरदस्ती प्राप्त हो गईं। लेकिन ईसा पूर्व काल से लेकर ईसा बाद 850 ईस्वी तक के काल के प्रमुख सम्राटों और ज्ञान केंद्रों द्वारा लिपिबद्ध ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध रहते हुए भी आज के वैदिक मानसिकता वाले लेखकों ने उनको जमींदोज क्यों कर दिया है? क्यों ये लोग साक्ष्य और कल्पना में अंतर नहीं कर पाते हैं? इस सच्चाई से आपको अपने मान-सम्मान जाने का डर सताता है क्या? आखिर उस सच्चाई को कितने दिन दबाएंगे? वह तो धन्य कहो कि कुछ विदेशी लेखकों और विद्वानों के प्रयासों से पुरातात्विक साक्ष्य सामने आए, अन्यथा आप लोग आज भी भारत के इतिहास में शंकर की जटा से गंगा नदी के निकलने वाली कहानी को ही पढ़ाते रहते!

आइए! विभिन्न काल में प्राप्त अवशेषों को देखते हुए साक्ष्यपरक विश्लेषण करें—

ऐसे तो लोग विश्व के सभी ऐतिहासिक काल को ईसा पूर्व और ईसा बाद के काल के रूप में बांटते हुए देखते हैं, लेकिन इस पुस्तक में भारत के ऐतिहासिक काल को विभिन्न काल में विभाजित करते हैं, ताकि पाठकगण को समझने और समझाने में सहूलियत हो।

सन 950 ईस्वी से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक का काल– इसमें जो भी लिखित साक्ष्य मिले हैं, वह पठनीय हैं और इसके पूर्व यानी ईसा पूर्व 600 वर्ष से पहले प्रारंभिक मानव तक का काल—इस भाग में जो भी लिखित-अलिखित साक्ष्य मिले हैं वह अपठनीय, लेकिन दर्शनीय जरूर हैं।

उसके बाद 950 ईस्वी के बाद का काल खंड है, जो राजपूत और ब्राह्मणों का है और फिर मुगल काल में परिवर्तित होकर अंग्रेज और आजाद भारत में प्रवेश का काल है।

आइए, अब उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों को देखते हुए ईसा पूर्व भारतीय काल को एक पठनीय और दूसरा अपठनीय खंड में बांटते हैं। ईसा पूर्व मानव उत्पत्ति से लेकर ईस्वी सन 950 तक का साक्ष्य आज कमोबेश काफी उपलब्ध है (इसे प्राचीन भारतीय काल भी कहते हैं।), लेकिन इसमें भी ईसा पूर्व 2500 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 1500 वर्ष तक का जो साक्ष्य मिला है वह आज बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी काल को सिंधु घाटी की सभ्यता कहते हैं। अतः यदि कुल काल को पांच भागों (ABCDE) में विभक्त कर देंगे तो समझने में काफी सुविधा होगी।

काल खंड

मानव उत्पत्ति से लेकर ईसा पूर्व 2500 वर्ष तक **(भाग-A)**

ईसा पूर्व 2500 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 2000-1500 वर्ष तक **(भाग-B)**

ईसा पूर्व 2000 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक **(भाग-C)**

ईसा पूर्व 600 वर्ष से लेकर ईस्वी सन 950 ईस्वी तक **(भाग-D)**

950 ईस्वी के बाद से मुगलकाल तक **(भाग-E)**

(भाग-A)

मानव उत्पत्ति से लेकर ईसा पूर्व 2500 वर्ष तक

इस काल के आरंभिक समय को पुरापाषाण काल, मध्यपाषाण काल, नवपाषाण काल तथा बाद के समय को पूर्व हड़प्पा की सभ्यता भी कहते हैं, जिसमें मेहरगढ़, अमरी, किली गुल मुहम्मद धोलावीरा और बागोर आदि पुरातात्विक दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण जगह हैं। यहां खुदाई में काफी अवशेष जैसे मिट्टी के बर्तन, पत्थर और तांबे के औजार, टोकरी और अन्य सामान मिले हैं। हड़प्पा से पूर्व इन्हीं जगहों से कच्चे-पक्के ईंटों के मकान भी मिले हैं। जिसे प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति कहते हैं।

पुरापाषाण काल अर्थात पाषाण युग के पूर्व का काल : प्रागैतिहासिक युग (Prehistoric Age) का वह समय है जब मानव ने पत्थर के औजार का उपयोग सबसे पहले आरंभ किया। यह होमोसेपियन्स (आधुनिक मानव) के उदय और उनके आरंभिक विकास का काल था। इस दौरान मानव इतिहास का विकास हुआ। इस काल के बाद से मध्यपाषाण युग का प्रारंभ हुआ।

भारत में पुरापाषाण काल के अवशेष तमिलनाडु के कुरनूल, कर्नाटक के हुंस्गी, ओडिशा के कुलिआना, राजस्थान के डीडवाना के शृंगी तालाब के निकट और मध्य प्रदेश के भीमबेटका और छत्तीसगढ़ के रायगढ़ जिले के सिंघनपुर में भी मिलते हैं। इन अवशेषों की संख्या मध्यपाषाण काल के प्राप्त अवशेषों से बहुत कम है।

इस काल को जलवायु परिवर्तन तथा उस समय के पत्थर के हथियारों तथा औजारों के प्रकारों के आधार पर निम्न तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(1) निम्नपुरापाषाण काल

(2) मध्यपुरापाषाण काल

(3) उत्तर या उच्चपुरापाषाण काल

1. निम्नपुरापाषाण— इस समय मनुष्य पत्थरों से निर्मित औजार का प्रयोग करते थे। जैसे— हस्तकुंठार, खंडक, विदारणी। अधिकांश पुरापाषाण युग हिम युग से गुजरा है। निम्नपुरापाषाण स्थल भारतीय महाद्वीप के लगभग सभी क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं। जिसमें असम की घाटी, सिंधु घाटी, बेलन घाटी और नर्मदा घाटी प्रमुख हैं।

2. मध्यपुरापाषाण काल— मध्यपुरापाषाणकाल में शल्क उपकरणों का प्रयोग बढ़ गया। मुख्य औजार के रूप में पत्थर की पपड़ियों से बने विभिन्न प्रकार के फलक, वेधनी, छेदनी और खुरचनी मिलते हैं। पुरातत्व विभाग को वेधनियां और फलक जैसे हथियार भारी मात्रा में मिले हैं।

3. उच्चपुरापाषाण काल— उच्चपुरापाषाण काल में आद्रता कम हो गई थी तथा हिमयुग की अंतिम अवस्था थी। इस काल के औजार अधिक तेज व चमकीले थे। ये औजार हमें आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश और बिहार के पठार में मिले हैं।

पुरापाषाण काल की मिली कुछ तस्वीर को **चित्र संख्या (2) में देखें।**

मध्यपाषाण काल मनुष्य के विकास का वह अध्याय है जो पुरापाषाण काल और नवपाषाण काल के मध्य में आता है। कुछ विद्वान इस काल को ई.पू. 40,000 वर्ष से लेकर ई.पू. 10,000 वर्ष तक मानते हैं।

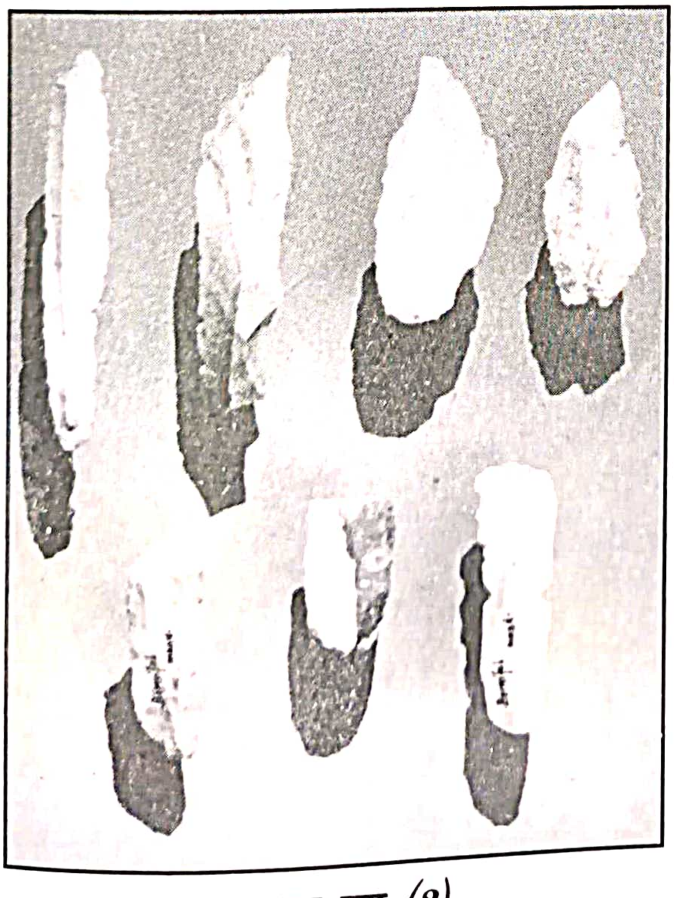
नव पाषाणकाल मानव प्रौद्योगिकी के विकास की एक अवधि थी जिसकी शुरुआत मध्य पूर्व में ई.पू. 8-10 हजार वर्ष के आसपास हुई थी, जिसे पारंपरिक रूप से पाषाण युग का अंतिम हिस्सा माना जाता है।

ऐसे आज के वैदिक अनुयायियों का मानना है कि इस होमासेपियन्स से मानव (डार्विन का सिद्धांत) का निर्माण नहीं हुआ है। मानव का निर्माण तो वस्तुतः किसी ईश्वरीय शक्ति (परमात्मा, ब्रह्मा) के द्वारा हुआ है, जो विकसित स्वरूप और सभ्यता-संस्कृति के साथ धरती पर अवतरित किया गया था। जिसके बारे में भिन्न-भिन्न वैदिक ग्रंथों के अंदर बहुत ही रोचक कहानी भी उद्धृत है, जो आज भारतीय समाज में काफी प्रचलित है। लेकिन इन रोचक सभ्यता-संस्कृति के वर्णन अनुसार उस कोई काल का साक्ष्य अभी तक नहीं मिला है। इस रोचक कहानी के जैसे ही विश्व के कई अन्य मान्यतावादी संप्रदाय हैं जिनके ग्रथों में भी मानव का उद्भव उन सबों के अपने-अपने

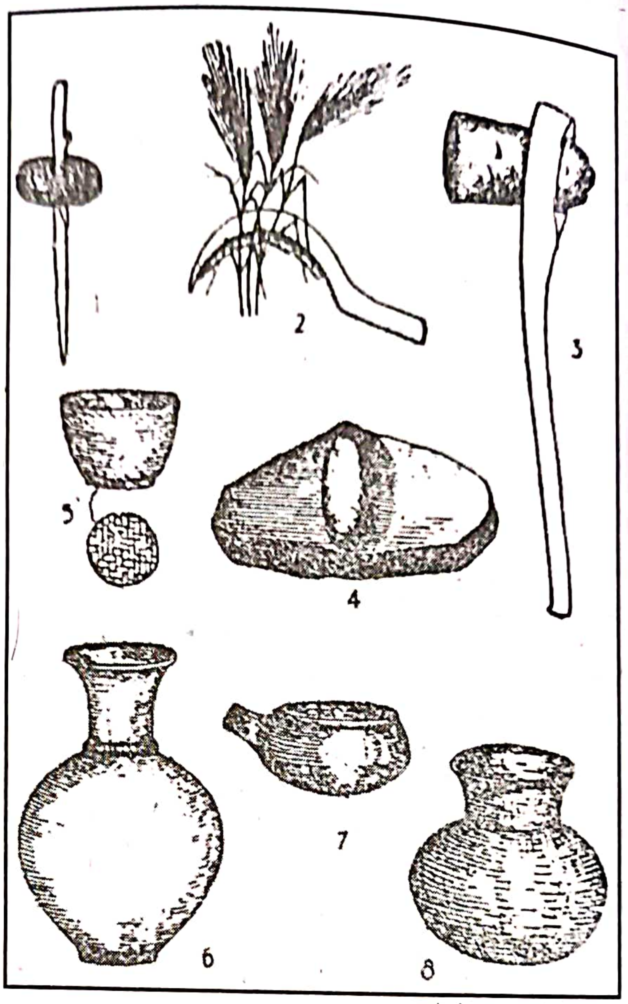
स्थापित ईश्वरीय शक्ति के द्वारा हुआ है। तब तो इन सभी संप्रदायवादियों को मिलकर तय करना चाहिए कि आखिर मानव का निर्माण किसके ईश्वर ने कब और कहां किया था?

मेहरगढ़ की सभ्यता-संस्कृति मान्यताधारी लोगों के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। यह स्थल वर्तमान पाकिस्तान के पश्चिम में सिंध-ब्लूचिस्तान सीमा पर बोलन नदी के किनारे कच्छी मैदान पर स्थित है, जहां नवपाषाण युग (8000 ई.पू. से 3500 ई.पू.) के बहुत से अवशेष मिले हैं। यह स्थान विश्व के उन स्थानों में से एक है जहां प्राचीनतम कृषि एवं पशुपालन से संबंधित साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि यहां के लोग गेहूं एवं जौ की खेती करते थे तथा भेड़, बकरी एवं अन्य जानवर पालते थे।

भारतीय इतिहास में इस स्थल का महत्त्व अनेक कारणों से है। यह स्थल भारतीय उपमहाद्वीप को नवपाषण काल निर्धारण के अधिक समीप ले आता है। इसके अतिरिक्त इस स्थल से सिंधु सभ्यता के विकास और उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। यह स्थल हड़प्पा सभ्यता से पूर्व का ऐसा स्थल है जहां से हड़प्पा जैसे ईंटों के बने घर मिले हैं। मेहरगढ़ से प्राप्त होने वाली अन्य वस्तुओं में बुनाई की टोकरियां, औजार एवं मनके हैं जो बड़ी मात्र में मिले हैं। इनमें से अनेक मनके अन्य सभ्यताओं के भी लगते हैं जो या तो व्यापार अथवा प्रवास के दौरान लाए गए होंगे। बाद के स्तरों से मिट्टी के बर्तन, तांबे के औजार, हथियार और समाधियां भी मिली हैं। इससे पता चलता है कि मेहरगढ़वासी ईसा से लगभग 6-7 हजार वर्ष पूर्व में हड़प्पा जैसे पक्की ईंटों के मकान एवं बर्तन भी बनाते थे।



पाषाण युग (2)


नव पाषाण युग (3)

यदि इसकी समुचित खुदाई की जाए तो यह स्थल इस क्षेत्र में मानव सभ्यता के विकास पर नए तथ्य उद्घाटित कर सकता है। अभी तक की इस खुदाई में यहां से नवपाषण काल से लेकर कांस्य युग तक के प्रमाण मिलते हैं, जो कुल 8 पुरातात्विक स्तरों में बिखरे हैं। यह 8 स्तर हमें लगभग 5000 वर्षों के इतिहास की जानकारी देते हैं। इनमें सबसे पुराना स्तर जो सबसे नीचे है नवपाषण काल का है और आज से लगभग 9000 वर्ष पूर्व का है, वहीं सबसे नया स्तर कांस्य युग का है और तकरीबन 4000 वर्ष पूर्व का है। **नव पाषाणकाल** की मिली कुछ तस्वीरों को **चित्र संख्या (3) में देखें।**

(भाग-B)

ईसा पूर्व 2500 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 2000-1500 वर्ष तक

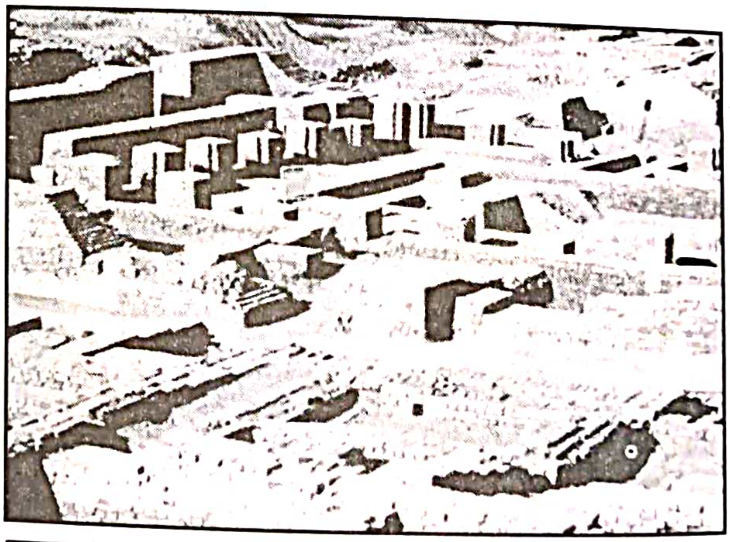
ईसा पूर्व 2500 से लेकर ईसा पूर्व 1500 तक के काल में 1000 वर्षों का समय आता है। वर्तमान में भारतीय भू-भाग के अंदर कई जगहों से विकसित नगर का उद्‌भेदन होने के साथ-साथ उनका साक्ष्य भी आज संगृहीत करने का कार्य हुआ है। इस साक्ष्य युक्त सभ्यता का उद्‌भेदन किसी वैदिक शास्त्रों की जानकारी से नहीं, बल्कि इसका प्रथम उद्‌भेदन 1826 ईस्वी में अंग्रेज अधिकारी चार्ल्स मैसेन को किसी कार्य करने के दौरान हुआ था। पुनः 1856 ईस्वी में विस्तृत जानकारी मिली, परंतु खुदाई 1921 में शुरू हुई। इस साक्ष्य का प्रथम उत्खनन क्षेत्र सिंधु नदी के किनारे मिलने की वजह से इस सभ्यता को "सिंधु घाटी" की सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है। ऐसे सिंधु घाटी सभ्यता का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था। सिंधु घाटी सभ्यता के अधीन अभी तक लगभग 1500 केंद्रों की पहचान करते हुए उत्खनन का कार्य हुआ है, जिसमें 1000 से ऊपर का केंद्र बिंदु वर्तमान भारत के क्षेत्रों में आता है।

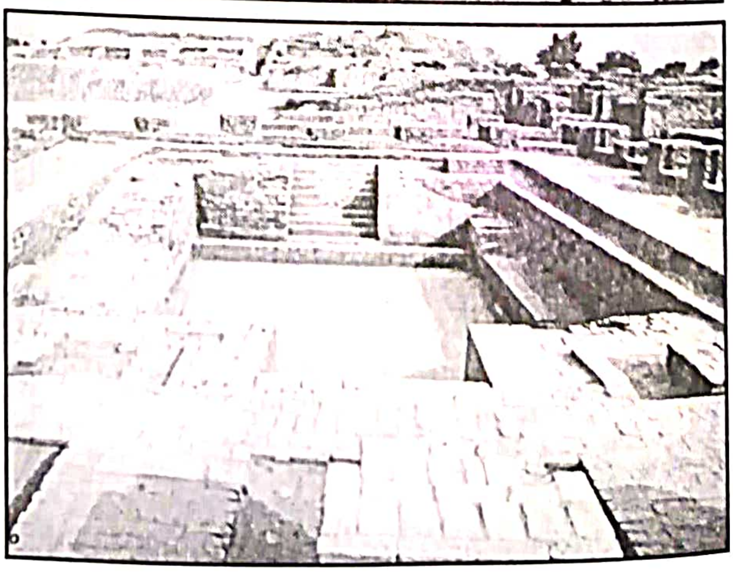
इस सभ्यता का पूरा क्षेत्रफल संसार में अभी तक मिली सभी सभ्यताओं से बड़ा है। इसका क्षेत्र पुराने पंजाब से लेकर ब्लूचिस्तान तक, फिर आज के पंजाव, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात और उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था। जिसमें जम्मू-कश्मीर का मांडा और पंजाब में रोपड़, बाड़ा, संघोल और हरियाणा का राखीगढ़ी, भीरदाना, बनावली, कुणाल, मिताथल और राजस्थान का कालीबंगा, तरखनवाला और गुजरात का लोथल, सुरकोतदा, रंगपुर, रोजदी, मालवाड़, देसलपुर, धोलावीरा, प्रभाष पाटन, भगतराव के साथ-साथ उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर, बड़ागांव, अम्बखेड़ी, हुलास से काफी विकसित

और नगरीय सभ्यता का साक्ष्य मिला है। इन नगरीय साक्ष्यों में व्यवस्थित ढंग से साधारण मकानों का निर्माण देखने को मिलता है, लेकिन अधिकांश मकानों की बनावट कच्चे-पक्के ईंटों की मिली है। गलियों का निर्माण भी पक्की ईंटों का मिलता है यानि कि शहरों का निर्माण बिल्कुल ही कुशल कारीगर द्वारा योजनाबद्ध तरीके से की किया गया होगा, जो काफी उन्नत सभ्यता-संस्कृति की ओर इशारा करता है।

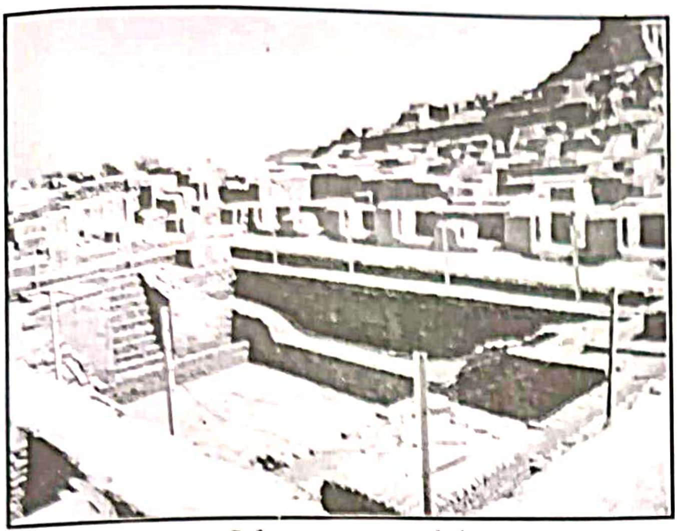
उस सभ्यता की अपनी लिपि थी जिसका काफी साक्ष्य भी मिला है, लेकिन उस लिखावट को व्यवस्थित रूप से पूर्णरूपेण पढ़ने के सभी प्रयास अभी तक असफल रहे हैं। इसलिए सिंधु सभ्यता का इतिहास आद्य-इतिहास (Protohistory) में आता है। फिर भी आज के छद्म मंत्रों वाले अनुयायी अपनी उपस्थिति को वैदिक काल से भी पूर्व द्वापर युग और त्रेतायुग से जोड़ते नहीं थकते हैं। उस सभ्यता में बने सभी स्नानागार के बगल में एक स्थान मिलता है जिसके बनावट का साक्ष्य आज के स्तूप से मिलता है।

इस सभ्यता में अब तक प्राप्त सभी साक्ष्यों पर चित्रों के साथ चर्चा करते हैं। खुदाई से प्राप्त यह पहला पक्की ईंटों से बना छोटा और बड़ा नगर का साक्ष्य मिला है। लेकिन हर नगरों में बने सभी घरों की तकनीकी बनावट एक जैसी प्राप्त हुई है। यह वहां के सभी नगरों के लोगों का एक दूसरे से तकनीक का अदान-प्रदान करते हुए जिंदगी जीने की ओर इशारा करता है। **देखें चित्र संख्या (4) को।**





सिंधु सभ्यता (4-5)



सिंधु सभ्यता (6)

द्वितीय, हर नगर के मध्य में पक्की ईंटों से बना हुआ जलाशय प्राप्त हुआ है। **देखें चित्र संख्या (5) में।** साथ ही उस जलाशय के पास में स्तूप की बनावट मिली है, इसे आप क्या कहेंगे? **देखें चित्र संख्या (6) में।**

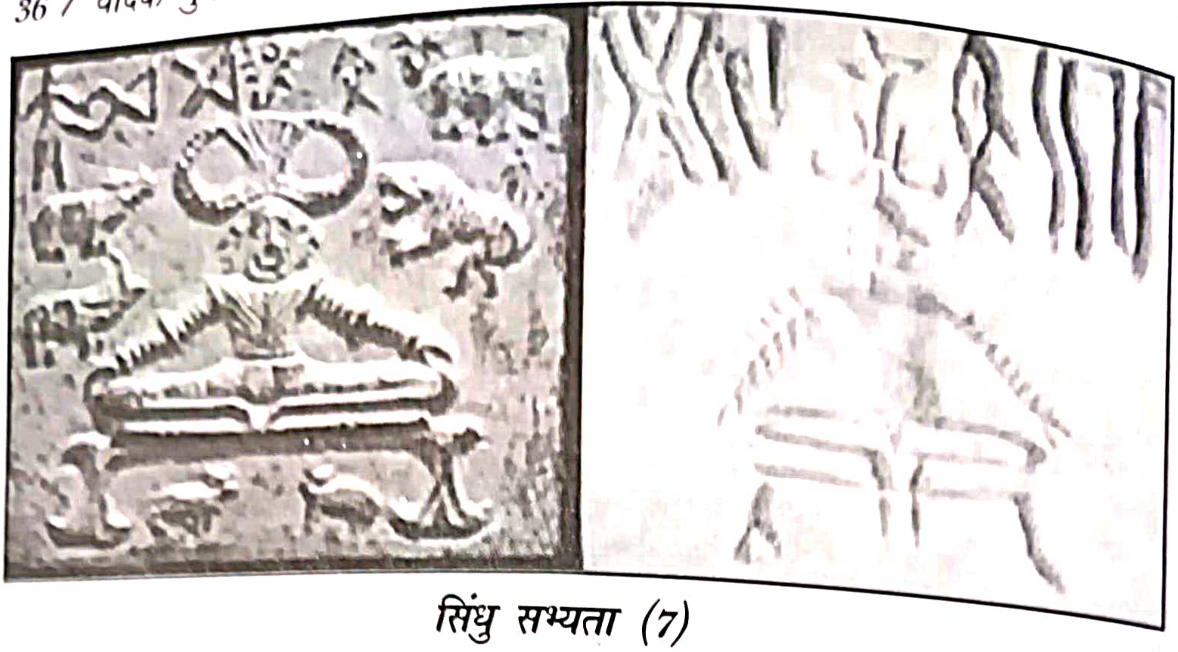
यद्यपि इसके आस-पास किसी भी प्रकार का कोई मंदिर या किसी देवी-देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है, फिर भी आज के परंपरा में लाभ प्राप्त कुछ तथाकथित लेखक अपनी कल्पना से पूर्व में प्राप्त सभी साक्ष्यों को अपनी आज की परंपरा से जोड़कर दिखाते हैं।

दरअसल, इसे अपने मानसिक वर्चस्व को कायम करने का गुण भी कहा जाता है। बहुत कम ऐसे लेखक मिलेंगे जो निर्विकार रूप में रहते हुए प्राप्त साक्ष्यों की विवेचना करते हैं। इनमें से भारत के अधिकांश लेखक अपने आज के माहौल से प्राप्त सोच के अनुसार ही उत्खनन द्वारा प्राप्त साक्ष्य का चित्रण और विवेचना करते हैं।

चित्र संख्या (7) में मिट्टी के सील पर बने साधनारत पुरुष की दो तस्वीर मिली हैं। साधना भारत की पुरानी परंपरा है यह सही बात है, लेकिन किसी निराकार साधनारत व्यक्ति के तस्वीर को आज के जटाधारी, सर्पधारी, त्रिशूलधारी, डमरूधारी, बाघछालधारी, चंद्रधारी शिव से तुलना करना कहां की बुद्धिमानी है? भाई, साधना तो निराकार यथाभूत साधना भी होती है, जिसके माध्यम से पूर्वकाल में भी सभी सम्यक-बोधि प्राप्त लोग "विपश्यना" में लीन होकर साधनारत होते थे।

चित्र संख्या (7) में दी गईं दोनों तस्वीर को आप भी देख सकते हैं। इस साधनारत पुरुष को आज के प्राप्त शिवजी के चित्रों से कैसे और किस आधार पर आज के लेखक जोड़ते हुए तारतम्य बैठने पर लगे हुए हैं!

आइए देखें, आज के शिवजी के माथे पर जटा पाई जाती है, लेकिन इस साधनारत पुरुष के माथे पर कोई जटा नहीं है। आज के शिवजी के ललाट



सिंधु सभ्यता (7)

पर चंद्रमा पाई जाती है, लेकिन साधनारत व्यक्ति का ललाट बिल्कुल साफ है। आज के शिवजी के हाथ में डमरू हमेशा रहता है, लेकिन इस साधनारत पुरुष के हाथ में कोई वाद्ययंत्र नहीं है। आज के शिवजी के ललाट पर तीसरा नेत्र होता है जिसकी वजह से इन्हें त्रिलोकीनाथ भी कहते हैं, लेकिन साधनारत पुरुष एक साधारण मानव के सामान है। हां, साधनारत मूर्ति के ललाट पर एक गोल बिंदी बनी है और वैसी ही बिंदी सभी सम्यक-बुद्ध के ललाट पर भी मिलती है। आज के शिवजी के हाथ में या पास में एक हथियार के रूप में त्रिशूल जरूर रहता है, लेकिन यह साधनारत पुरुष बिल्कुल ही हथियार विहीन होकर साधना में रत है। आज के शिवजी हमेशा अपने कमर में बाघ की छाल धारण किए हुए रहते हैं, लेकिन यह साधनारत पुरुष साधारण लिबास में दिख रहे हैं। आज के शिवजी के पास एक नंदी बैल मात्र होता है, लेकिन इस साधनारत पुरुष के इर्द-गिर्द भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवरों को दिखाया गया है। आज के शिवजी के गले में सर्प की माला होती है, लेकिन यह साधनारत पुरुष सर्पविहीन हैं। आज के शिवजी को कई चित्रों में चार, छह या आठ हाथों के साथ दिखाया जाता है, लेकिन ये साधनारत पुरुष सामान्य मनुष्य के शारीरिक बनावट वाली मुद्रा में हैं।

इसको क्या कहेंगे आप?

सीलों पर प्राप्त चित्रों को गौर से देखें! इससे उस काल में भी साधनारत पुरुष का प्रकृति प्रेम स्पष्ट रूप से दिखता है। प्राप्त चित्रों में मनुष्य जानवरों



सिंधु सभ्यता (8)

के सींग को अपनी शोभा हेतु सिर पर धारण किए हुए हैं, द्वितीय तस्वीर में उनके आस-पास उस जमाने में शेर, हाथी, गैंडा, बैल-भैंस, खरगोश, हिरण साथ-साथ खेलते हुए या निर्भीक विचरण करते हुए मनुष्यों के रहने का कैसा सुंदर वातावरण दर्शाता है, यह कोई भी देखकर स्पष्ट रूप से बता सकता है। लेकिन आज के भारतीय तथाकथित जाति और वर्ण आधारित सामाजिक वातावरण में जानवर को तो छोड़ दें, मनुष्य ही अपने आस-पास के रहने वाले मनुष्यों को तुच्छ मानते हुए दुत्कारने में लगा रहता है।

चित्र संख्या (8) **में** जो तस्वीर दी गई है, वह स्पष्ट रूप से प्राचीन और आज की बौद्धिक संस्कृति के पहनावे से मिलती हुई तस्वीर है। इस तस्वीर के ललाट पर आकर्षक बिंदी युक्त पट्टीनुमा मुकुट देखने को मिलता है, इसी प्रकार की ललाट पर बिंदी भगवान बुद्ध के ललाट पर देखी जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि ये उस समय के सम्राट या उस समय के कोई प्रमुख मार्गदाता होंगे। इस नगरीय सभ्यता में निर्मित मकानों के साक्ष्यों में एक विशिष्ट आकार का मकान मिलता है। इससे साफ पता चलता है कि हर नगर में एक प्रधान व्यक्ति होता होगा जो सभी का मार्गदर्शन करता होगा। लेकिन उस मार्गदर्शन करने वाले व्यक्ति का कपड़ा पहनने का सलीका आज किस प्रकार के लोगों की भेष-भूषा से मेल खाता है, यह कोई भी देखकर एक नजर में बता सकता है।

लेकिन, आज के तथाकथित लेखक इस भेष-भूषा पर चुप हो जाते हैं। इस काल के बाद में हुए मार्गदाता गौतम बुद्ध की जितनी भी मूर्ति मिलती हैं, उसमें पहने हुए वस्त्र **चित्र संख्या** (8) **में** पहनावे से पूर्णतया मेल खाती है।

चित्र संख्या (6) **में** जो स्तूप की तस्वीर मिली है वह भारत में गुप्त और मौर्यकाल में निर्मित स्तूप की बनावट से हू-ब-हू मेल खाती है। यानि कि उस संस्कृति में भी स्तूप की परंपरा थी। आज के सभी पाठकगण जानते हैं कि स्तूप परंपरा की कोई भी मान्यता वैदिक या आज की ब्राह्मणी परंपरा में नहीं है। अभी तक जो भी साक्ष्य आप लोगों ने देखें हैं वह सभी भारत के बौद्धिक परिवेश का मुख्य परिधान और बनावट का अंग रहा है।



सिंधु सभ्यता (9A)

ईसा पूर्व काल के भाग "B" में बहुत बड़ी मात्र में सील-मुहरें मिली हैं, जिस पर उद्धृत लिपि को देखकर आज कोई भी कह सकता कि यह वैदिक लिपि नहीं है। यह अलग बात है कि इस लिपि को आज तक पढ़ा नहीं गया है, इसे **चित्र संख्या** (9) **में** देख सकते हैं। साथ ही प्राप्त मुहरों पर जो छवि बनी है वह आज कि वैदिक ब्राह्मणी परंपरा से बिल्कुल मेल नहीं खाती है। वह विशुद्ध रूप से प्रकृति और जानवरों से जुड़ी हुई संस्कृति को दर्शाता है।



सिंधु सभ्यता (9B)



सिंधु सभ्यता (9C)

चित्र संख्या (10) **में** एक स्त्री की मूर्ति मिली है जिसके पेट से अंकुरित पत्ते के साथ एक पौधे को दिखाया गया है। यह प्रकृति की प्रजनन प्रक्रिया



मातृ देवी (10)



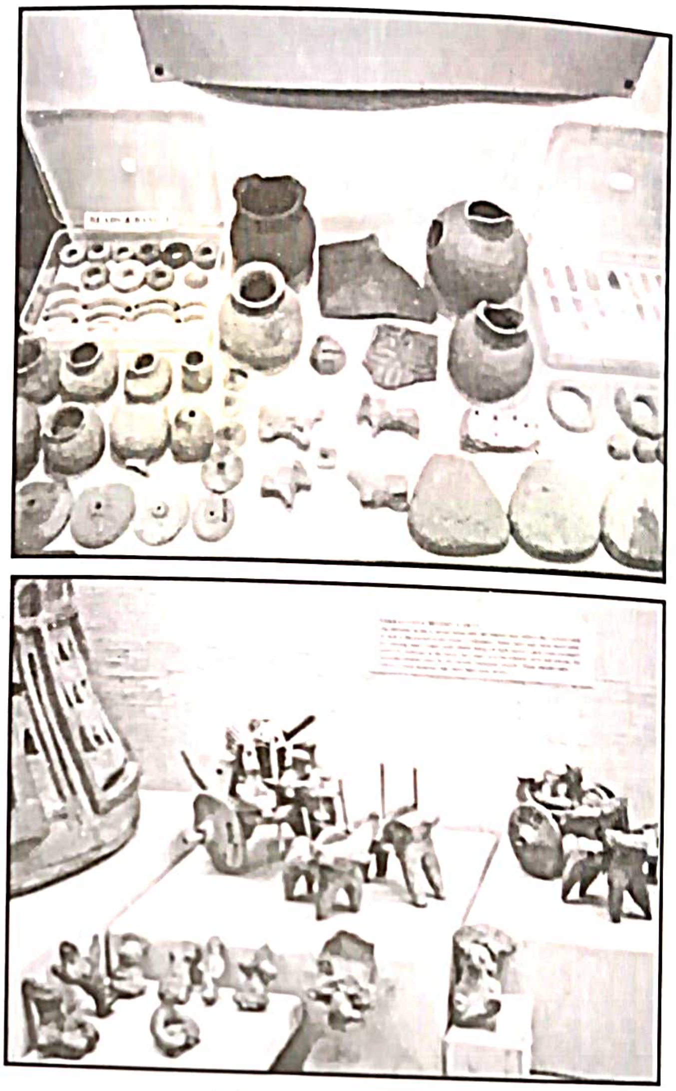
सिंधु सभ्यता (11)

को दर्शाता है, लेकिन आज के लेखक इसे आज की देवी से जोड़ते हुए "मातृदेवी" कहते नहीं थकते हैं!

सिंधु सभ्यता की खुदाई में काफी सील मिले हैं, जिनको आप लोगों ने ऊपर चित्र संख्या (9) में देखा होगा। इन सभी सीलों में एक समान आकार का चित्र देखने को जरूर मिलेगा और वह समान आकार वाला चित्र छः तीली वाली चक्र का निशान। यानि उस काल में भी गौतम बुद्ध के आठ अंगों वाले चक्र के जैसे छः अंगों वाले चक्र की प्रधानता थी।

इन सब प्राप्त साक्ष्यों के साथ-साथ **चित्र संख्या (11) में** भारी मात्रा में टेरी कोटा (मिट्टी की पकाई हुई छोटी मूर्तियां) खिलौने, मृदभांड तथा घरेलू उपकरण प्राप्त हुए हैं। लेकिन स्पष्ट रूप से एक भी वैदिक परंपरा में प्रयुक्त मंदिर की बनावट के साथ स्थापित देवी-देवताओं की मूर्ति नहीं मिली है। सबसे बड़ी बात है कि वैदिक परंपरा में मंत्रों की प्रधानता है, जिसमें देवताओं को अपने अधीन करते हुए पुरोहितों द्वारा अनुष्ठान करने कि प्रणाली है, जबकि सिंधुकाल से किसी मंत्र का साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। फिर तथाकथित लेखक महोदय कैसे उस संस्कृति को आज की वैदिक संस्कृति से जोड़ते हैं!

इस सभ्यता के प्रारंभ से लेकर अंत तक किस सम्राट का शासन था, इसका पता लगाना या इस पर टिका-टिप्पणी करना बहुत ही कठिन है; लेकिन कोई-न-कोई तो इस सभ्यता को संचालित करने वाला जरूर रहा होगा। क्योंकि आज खुदाई से प्राप्त हर नगर के अंदर एक विशिष्ट और उत्कृष्ट शैली का एक भवन मिला है। अर्थात प्रत्येक नगर के अंदर एक शासक का होना निश्चित माना जा सकता है। लेकिन आज तक उन शासकों के नामों की जानकारी कोई भी लेखक महोदय नहीं दे पाए हैं।



सिंधु सभ्यता (11)

(भाग-C)

ईसा पूर्व 2000 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक

इसी कालखंड में आज के तथाकथित लेखक महोदय वैदिक सभ्यता का उदय दर्शाते हैं, जबकि इस काल के भारत में कई अन्य क्षेत्रों से कई सभ्यताएं प्राप्त हुई हैं। आज उन सभी प्राप्त सभ्यताओं को ताम्र-पाषाणिक सभ्यताएं कहते हैं।

जबकि प्राप्त साक्ष्य कुछ अलग कहानी दर्शाते हैं।

अभी तक प्राप्त प्रागैतिहासिक काल की निम्न संस्कृतियां हैं–

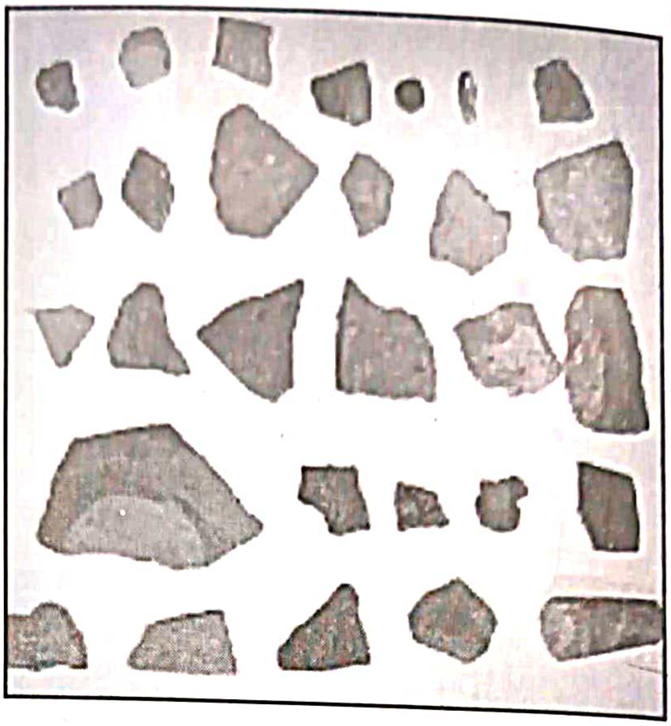
1.	कायथा संस्कृति	:	2000 से 1800 ई.पू.
2.	मालवा संस्कृति	:	1700 से 1200 ई.पू.
3.	आहर संस्कृति	:	2100 से 1500 ई.पू.
4.	गैरिक मृदभांड संस्कृति	:	2000 से 1500 ई.पू.
5.	सवालदा संस्कृति	:	2000 से 1800 ई.पू.
6.	चिरांद संस्कृति	:	1500 से 750 ई.पू.
7.	जोरवे संस्कृति	:	1400 से 700 ई.पू.

1. कायथा संस्कृति : 2000 से 1800 ई.पू.– इस संस्कृति का साक्ष्य **मध्य प्रदेश** में उज्जैन के आस-पास के क्षेत्रों से मिलता है। इस काल में निवास करने वाले लोगों से रंग-बिरंगे मिट्टी के बर्तनों का साक्ष्य मिला है, जिनमें मुख्य रूप से हांडी, कटोरा, तसला और मटका जैसे बर्तनों पर गुलाबी रंग की चित्रकारी, लोटा पर पांडु रंग की चित्रकारी और कटोरी थालियों पर लाल रंग की चित्रकारी मिलती है, जिसे **चित्र संख्या 12 में देखें।**

कायथा संस्कृति एक ग्रामीण संस्कृति थी, इस संस्कृति में गेहूं, जौ, दलहन आदि की खेती के साथ-साथ पशु-पालन करने का साक्ष्य भी मिला है।

सभी लोगों के मकान घास-फूस और बांस के बने होते थे। वे लोग पत्थर के साथ-साथ तांबे से बने हुए औजार का उपयोग करते थे।

इस काल में धातु से बनी हुई कई तांबे की चूड़ियां, कुल्हाड़ियां, तांबे की छेनी, मनके का हार, लोहे के कई उपकरण, मिट्टी के पशु और मानव की छोटी मूर्तियां जैसे कई अवशेष मिले हैं।



पांडु-लाल रंग की चित्रकारी (12)

2. मालवा संस्कृति : 1700 से 1200 ई.पू.– मालवा संस्कृति का क्षेत्र पश्चिमी मध्य प्रदेश की कायथा संस्कृति का क्षेत्र के साथ **महाराष्ट्र के भी कुछ क्षेत्रों** से मिलता है। यह ताम्रपाषण संस्कृति थी।

पुरातात्विक रूप से इस काल में अच्छे प्रकार के मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं, जिसमें कुछ दूधिया स्लिप वाले लाल रंग के बर्तन मिले हैं। मालवा संस्कृति से जो मकान का साक्ष्य मिला है वह कच्ची ईंटों से गोलाकार रूप में बने होते थे।

3. आहर संस्कृति : 2100 से 1500 ई.पू.– आहर संस्कृति का केंद्र **दक्षिण-पूर्वी राजस्थान** की बनास घाटी था। यहां आहर और गिलुंद नामक स्थलों की खुदाई हुई है। आहर में पत्थर के बजाय तांबे की सपाट कुल्हाड़ियां, चूड़ियां और चादरें (एक चादर कांसे की) प्रयोग में लाई जाने का प्रमाण मिला है। आहर का पुराना नाम "तंबावती" (यानि तांबे वाली जगह) था। गिलुंद इस संस्कृति का स्थानीय केंद्र था। इस संस्कृति के लोग भांति-भांति के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे, जिनमें व्यापक प्रयोग 'काले-लाल रंग' के मिट्टी के बर्तनों (2000 ईसा पूर्व) का होता था। ये सभी चाकों पर के बने हुए प्रतीत होते हैं। यहां के लोगों में मवेशी (गाय, भेड़, बकरी, सूअर, भैस, ऊंट) का पालन के साथ-साथ मुख्य रूप से खेती करने का साक्ष्य मिला है। जिसमें मुख्य अनाजों में चावल, गेहूं, बाजरा, मसूर, उड़द, मूंग, दलहन तथा मटर का अवशेष

पाया गया है। यहां के लोग मांसाहारी थे, यहां से हिरन का शिकार करने का साक्ष्य मिला है। पशु अवशेषों की पहचान घोड़े, गधे या जंगली गधे के रूप में की गई है, लेकिन घोड़े की उपस्थिति के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं है। 1500 ईसा पूर्व में गिलुंद में लोग अपना घर गीली मिट्टी थोपकर और कभी-कभी कच्ची ईंटों के बनाते थे, लेकिन आहर के लोग पत्थर के घर में रहते थे।

4. गैरिक मृदभांड संस्कृति : 2000 से 1500 ई.पू.— **गंगा यमुना के दोआव** में ईसा से 1500 से 2000 वर्ष पूर्व की संस्कृति का साक्ष्य मिलता है। गैरिक मृदभांड की संस्कृति में सरकंडों द्वारा निर्मित घर मिले हैं जिस पर मिट्टी का लेप लगा होता था। घरों का फर्श थापी गई मिट्टी से बना होने का प्रमाण मिलता है। इस संस्कृति का साक्ष्य सर्वप्रथम 1950 ई. में उत्तर प्रदेश में बदायूं के पास रिसोली और बिजनौर के पास राजपुर परसा से प्राप्त हुआ था।

5. सवालदा संस्कृति : 2000 से 1800 ई.पू.— सवालदा संस्कृति की पहचान **मध्य प्रदेश** और **महाराष्ट्र** के कुछ क्षेत्रों से हुई है। यह ताम्र-पाषाण संस्कृति थी। पुरातात्विक साक्ष्य के रूप में मिट्टी के बने दो-तीन कमरों का मकान के साक्ष्य के अलावा तांबा-कांसा की बनी चूड़ियां, मनका, मिट्टी के छोटे खिलौने, हड्डी के बने औजार, हल्के भूरे चाकलेटी रंग के मिट्टी के बने बर्तनों का मिलना हुआ है।

6. चिरांद संस्कृति : 1500 से 750 ई.पू.— चिरांद संस्कृति की पहचान **बिहार** प्रांत के **सारण जिला** के पास डोरीगंज के पास से हुई है। प्रागैतिहासिक काल के प्राप्त सभी स्थानों में चिरांद से सबसे ज्यादा अवशेष प्राप्त हुए हैं। खुदाई में यहां से गेहूं और पत्थर के औजार मिले हैं।

7. जोरवे संस्कृति : 1400 से 700 ई.पू.— जोरवे संस्कृति का क्षेत्र **कोंकण को छोड़कर संपूर्ण महाराष्ट्र** का क्षेत्र था। ऐसे इस संस्कृति का मुख्य केंद्र बिंदु इनामगांव और दैमाबाद था। यहां से एक महिला की मूर्ति और सांड की छोटी मूर्ति मिली है। इसी महिला की मूर्ति को आज के तथाकथित कुछ लोग मातृ देवी कहते हैं, लेकिन मातृ देवी लिखा हुआ या इनके चमत्कार की बात कही नहीं मिली है, जिसे **चित्र संख्या 13 में देखें**। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये लोग वस्त्र निर्माण से परिचित थे, क्योंकि यहां से कपास, सन, सेमल के रेशे से बने धागे प्राप्त हुए हैं। यहां से धान, गेहूं और दाल की खेती के साक्ष्य मिले हैं।

जोरवे संस्कृति ग्रामीण थी फिर भी इसकी कई बस्तियों में नगरीकरण का साक्ष्य मिलता है, जिसमें दैमाबाद और इनामगांव प्रमुख हैं।

कृषक समुदाय के उद्भव का सबसे पुराना साक्ष्य इसी जगह से प्राप्त हुआ है। यहां से आरंभिक कृषक और पशु-पालक समुदाय के अवशेष प्राप्त हुए हैं, लेकिन किसी प्रकार का कोई सतयुग और त्रेतायुग से युक्त कोई वैदिक वर्ण या जाति का निशान प्राप्त नहीं हुआ है।



सिंधु सभ्यता (13)

फिर, किस आधार पर वैदिक संस्कृति का उद्गम काल ईसा पूर्व 1500 से ई.पू. 600 तक के बीच के काल को बताया जा रहा है। वास्तव में इस काल में ताम्र-पाषाण संस्कृति प्रचलित थी और इससे संबंधित बहुत सारे साक्ष्य भी मिले हैं। परंतु, वेद में वर्णित तथ्य और इस काल से प्राप्त साक्ष्यों के बीच कोई मेल नहीं है। क्या किसी भी सभ्यता-संस्कृति को अपने काल्पनिक चित्रण से जोड़कर बताना उचित है? क्या आपको यहां भी उस गंगा नदी के जैसे हिमालय पहाड़ पर बैठे त्रिलोकीनाथ की जटा से निकलने वाली कहानी का आभास नहीं कराता है।

आज भी वैदिक शास्त्रों के अनुयायी गंगा को स्वयंभू त्रिलोकीनाथ की जटा से निकलने की बात बोलते हैं। लेकिन आज इस ज्ञान-विज्ञान के युग में भी कोई जटा में से भागीरथ नाम के व्यक्ति द्वारा गंगा को निकालने की बात कहे तो कैसा लगेगा?

ठीक उसी प्रकार भारत में ईसा पूर्व 600 से पहले के प्राप्त साक्ष्यों को देखने से प्रतीत होता है। उस समय की प्राप्त लिपि को आज तक कोई पढ़ नहीं पाया

है, फिर भी वैदिक संस्कृति में जो वेद लिपिबद्ध थे या श्रुति परंपरा में थे, उनको आज के लोग कैसे समझ गए या श्रुति रूप में कैसे प्राप्त कर लिए? क्या उस काल की सिर्फ वैदिक कर्मकांड की बातें ही श्रुति में आज से 100-200 साल पहले आ पाई थीं? बाकि ऐतिहासिकता की अन्य सभी जानकारियां अंग्रेजों के भरोसे जमीन में दफन हो गई थीं? सत्रहवीं शताब्दी में अगर भारत में अंग्रेज उपस्थित नहीं होते और वे भारत की पुरातात्विक खुदाई नहीं करते, तो शायद इस ऐतिहासिक जानकारी से आज हम सभी अनभिज्ञ ही रहते। उन यूरोपीय विद्वानों की खुलकर प्रशंसा करने में अतिश्योक्ति नहीं होगी, जिन्होंने उस समय सभी के सामने प्राचीन भारत के इतिहास की सच्चाई को जमीन के नीचे से खुदाई द्वारा बाहर करते हुए साक्ष्य सहित प्रस्तुत कर दिया।

दूसरी बात, आज के वैदिक संस्कृति के मान्यातानुसार इसके संस्थापक 'ब्रह्मा' हैं, लेकिन उनका किसी भी काल में कोई भी साक्ष्य का नामोनिशान नहीं मिलता है, फिर इस वैदिक सभ्यता का प्रारंभ कैसे हो गया?

तीसरा, शैव पंथ के कुछ मतावलंबी भी अपनी परंपरा का शुभारंभ उस सभ्यता में देखते हैं; जबकि शैव पंथ के संस्थापक आदिशंकर हैं, जिनका जन्म 788 ईस्वी में केरल में हुआ था। फिर आज के शैव पंथी लोग बताएं कि उनके आदिशंकर जैसे संस्थापक के पूर्व ही शैव पंथ कैसे स्थापित हो गया? कुछ देर के लिए शंकराचार्य को काल्पनिक और मनगढ़ंत संस्थापक मानते हुए पूर्व के साक्ष्यों का अवलोकन करें, फिर आप लोग ही उन साक्ष्यों को देखकर बताएं कि जटाधारी, सर्पधारी, बाघ छालधारी, डमरूधारी, त्रिशूलधारी का प्रतीक चिह्न कहां दिख रहा है? कहां आपको लिंग और योनि युक्त अर्घाकार बनावट का शिवलिंग मिला? आप लोग सिर्फ अपनी कपोल-कल्पना से प्राप्त बेलनाकार पत्थरों को लिंग का नाम देते हुए शिवलिंग बना दे रहे हैं। फिर तो आप किसी भी पहाड़ी नदी के तलहटी में चले जाएं, वहां नदी की जलधारा के साथ पहाड़ों से आने वाले पत्थरों से निर्मित आकृति को देखकर उसे स्वयंभू शिवलिंग का दर्जा भी देने लग जाएंगे! जिसे आज बिल्कुल आपकी काल्पनिक चित्रण द्वारा भ्रमित करने वाली विवेचना कहा जाए तो कोई गलत उक्ति नहीं होगी!!

आज इतिहास के **तृतीय भाग 'C'** यानि ईसा पूर्व 2000 से लेकर ईसा पूर्व 600 के बाद के काल में प्राप्त साक्ष्यों द्वारा प्रथम सम्राट के रूप में जिनका

ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त होता है वह नाम मगध के सम्राट बिंबिसार का है, जिनकी राजधानी और किला का साक्ष्य वर्तमान में बिहार राज्य के राजगीर से प्राप्त हुआ है। उनके किले और राजगीर नगर को सुरक्षा प्रदान करने वाली दीवार आज भी साक्ष्य के रूप में खड़ी है, जो पूरे राजगीर को पांच पहाड़ियों से जोड़ती हुई बनाई गई थी। इस दीवार की बनावट चीन की दीवार से काफी पुरानी साबित हो चुकी है। यानि कि सम्राट बिंबिसार से पूर्व का काल, जिसको आज वैदिक काल बोला जा रहा है उस काल में भी बहुत से सम्राट रहे होंगे और सभी एक दूसरे पर आक्रमण करते रहते होंगे, तभी तो उनसे सुरक्षा हेतु सम्राट बिंबिसार के राजगीर नगर और किला की सुरक्षा हेतु वृहत रक्षात्मक दीवार बनाई गई होंगी। लेकिन उस वैदिक काल में कौन से शासक थे? क्या आज के श्रुति वैदिक संस्कृति के ज्ञाता कुछ बता सकते हैं? यह अलग बात है कि अंग्रेजी सरकार के चले जाने के बाद भारत की पुरानी सभ्यता-संस्कृति से जुड़ी हुई जानकारी का उत्खनन कार्य बाद के स्वार्थी सरकारों द्वारा कमजोर करवा दिया गया अन्यथा उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों द्वारा आज प्रचलित काल्पनिक वैदिक युग की सभी बातों को प्रामाणिक तौर पर मानववादी काल कहते हुए सभी के समक्ष मुंह चिढ़ाता हुआ प्रमाणित करता रहता।

वैदिक काल यानि वेद का काल! वेद का काल यानि वर्णागत समाज! वेद का वर्णागत समाज यानि वैदिक मंत्रोच्चार करने वाले ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने वाला कर्मकांडी ब्राह्मण! वैदिक मंत्र यानि उस मंत्र की संस्कृत में ऋचाएं! संस्कृत की ऋचाएं यानि उस मंत्र और ऋचाओं के आह्वान द्वारा ब्राह्मणों के अधीन रहने वाले सभी देवी-देवताओं द्वारा मनोवांछित कार्य करा सकने की परिकल्पंना।

लेकिन, क्या किसी को उस काल में वेद का वर्णागत ब्रह्मा के मुख वाले कर्मकांडी ब्राह्मण का कोई साक्ष्य मिला है?

अथवा

क्या किसी को इस काल में वैदिक मंत्रों वाली संस्कृत भाषा की ऋचाओं का कोई साक्ष्य मिला है?

अथवा

क्या किसी को मंत्रों के अधीन होने वाले कोई देवी-देवता का स्थल, मंदिर या उसमें विराजने वाली किसी देवी-देवता की मूर्ति मिली है?

सबका उत्तर न में ही मिलता है, अथवा मिलता भी है तो केवल काल्पनिक कथा के रूप में।

कोई भी सभ्यता-संस्कृति अपनी अमिट साक्ष्य को छोड़ती है। फिर इस वैदिक सभ्यता का साक्ष्य कहां गया? तथाकथित लेखक महोदय अगर पूर्व के किसी सभ्यता का बगैर साक्ष्य मिले आज की किसी सभ्यता से संबंध जोड़ते हैं, तो यह पुरानी सभ्यता का अंग कतई नहीं हो सकता है। सिर्फ लोगों के सच्चाई नहीं जानने तक ही लेखक अपने कल्पित प्रासंगिता को बचाकर के रख सकते हैं। लेकिन जिस दिन से इस कल्पित सच्चाई की जानकारी लोगों के सामने आ जाती है, उस दिन से उस कल्पित प्रासंगिकता को सभी लोग सिर्फ बकवास के अलावा कुछ भी नहीं कहेंगे।

जैसे, आज कोई यह कहे कि भारत में 5000 वर्ष पूर्व के लोग 25 फीट लंबे और 500 वर्ष तक जीवित रहने वाले होते थे! तो क्या, आज आप उस कहने वाले की बातों को ही सुनकर सिर्फ मान लेंगे या फिर उससे कहेंगे कि जब इस प्रकार के लंबे-लंबे मनुष्य होते थे तो उस प्रकार के मनुष्य का जीवाश्म आज क्यों नहीं मिलता है? जबकि करोड़ों वर्ष पूर्व के डायनासोर का जीवाश्म मिलता है। आज उसी डायनासोर के जीवाश्म के जैसा तथाकथित लेखक महोदय को भी वैदिक जीवाश्म दिखाना चाहिए था कि नहीं?

भारत में ईसा पूर्व 600 से लेकर ईसा पूर्व 1500-2000 तक के काल के उत्खनन में किसी विकसित सभ्यता के साक्ष्य नहीं मिले हैं, जो मिले हैं वे ताम्र-पाषाणिक ग्रामीण सभ्यता के हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। हरियाणा, राजस्थान, गुजरात से उत्तर हड़प्पा काल वाली ग्रामीण सभ्यता के साक्ष्य भी मिले हैं। इस बीच के 900 वर्ष के काल को अंधकार युग के रूप में भी लोग जानते हैं। लेकिन आज के मनुवादी लेखकों को अपने वेद और वैदिक परंपरा से मिल रहे सामाजिक सम्मान और मुफ्त की पकवान को बचाए रखने हेतु, उस वैदिक परंपरा को इसी अंधकार युग में स्थापित करने की व्याकुलता दिख रही है। आज उसी व्याकुलता का परिणाम है की भारत में करीब 100 वर्षों से जिस प्रकार के भारतीय इतिहास को मनुवादी लेखक लिख रहे हैं उसमें वैदिक काल को इसी अंधकार युग में अपनी कल्पना से बैठाते आ रहे हैं, लेकिन साक्ष्य के नाम पर उत्खनन से प्राप्त अवशेष बिल्कुल अलग कहानी बता रहे हैं।

अगर उस परंपरा के अनुयायी लोग थोड़ी देर के लिए वेद और वैदिक काल को उसी अंधकार समय का मान भी लेते हैं तो फिर उस तथाकथित ज्ञानमय वैदिक काल की आज तक कोई लिपि या मुद्रा क्यों नहीं दिखाते, जिससे पता चले कि उसी लिपि में वेद लिखी या बोली गई होगी? भाई ज्ञानमय वैदिक काल हो और लिखित वेद और उसमें वर्णित तथ्यों का पुरातात्विक साक्ष्य नहीं हो! क्या इसी को उत्कृष्ट वैदिक काल की सभ्यता कहते हैं?

नोट : इस विषय पर प्रश्न-चिह्न इसलिए उठता है, क्योंकि श्रुति-पद्धति द्वारा इस काल के रामायण, गीता, महाभारत वाले कर्मकांड के साथ-साथ वैदिक मंत्र या वेद में उद्धृत की गई सभी ऋचाएं आज के काल में अक्षरशः एक आदमी से दूसरे आदमी के द्वारा सुनते और सुनाते हुए स्थानांतरित होती चली आई हैं, परंतु उस काल से प्राप्त साक्ष्यों से जुड़ी हुई कोई भी जानकारी श्रुति-स्मृति द्वारा आज तक प्राप्त नहीं हुई है।

लेकिन इस काल के संस्कृति, रहन-सहन, भेष-भूषा, खान-पान की सभी जानकारी ब्रिटिश काल में उत्खनन से प्राप्त होती है। ये सभी बातें कितनी हास्यास्पद लगती हैं।

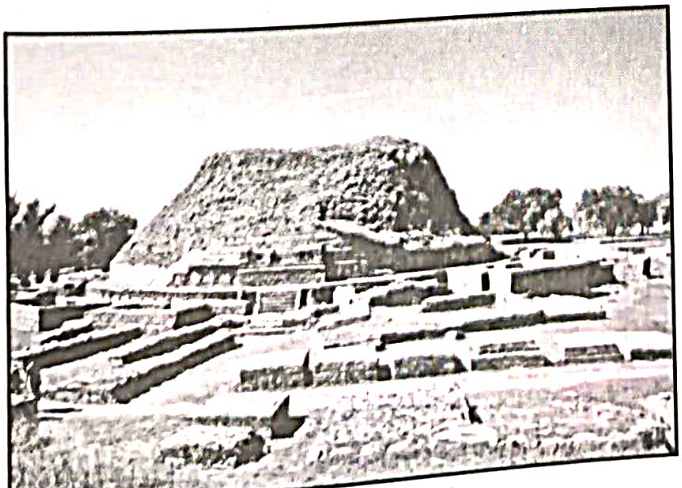
क्या श्रुति-पद्धति ऐसी ही होती है, जो साक्ष्य वाली बात को गायब कर दे और अपने मनोनुकूल स्थिति को मजबूत करते हुए एक नई कहानी को जन्म दे?

क्यों! है न मजेदार वैदिक घालमेल की कहानी?

(भाग-D)

ईसा पूर्व 600 वर्ष से लेकर ईस्वी सन 950 तक

भारत के इतिहास प्रथम काल के 'D' खंड का पड़ाव इसी अंधकार युग के बाद का है। इस काल खंड में हुए सभी सम्राटों के नाम, उनकी राजधानी का स्थान, उनका किला, उनके द्वारा लिखित अभिलेख और लिपि, उनके द्वारा प्रचलित मुद्राएं और उस काल से प्राप्त सभ्यता-संस्कृति के पुरातात्विक साक्ष्यों के साथ-साथ उस सभ्यता में उपस्थित अनेक विदेशी यात्रियों द्वारा आंखों देखा यात्रा वृत्तांत और कलमबद्ध किए हुए लेख आज भी अनेक पुस्तकों में दर्ज हैं। साथ ही इस काल में प्रथम शिक्षण संस्थान होने का भी साक्ष्य मिला है जिसे शायद उस समय की सभ्यता-संस्कृति में अभी तक का प्राप्त इकलौता साक्ष्य कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी, इन सारी बातों को आप स्वयं भी देख सकते हैं।



तक्षशिला (14)

इस शिक्षण संस्थान का नाम **"तक्षशिला विश्वविद्यालय"** है। **देखें चित्र संख्या (14) में।**

इस विश्वविद्यालय से प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार उस समय भारत के अलावा अन्य देशों के विद्यार्थी भी विद्या ग्रहण करने आते थे। लेकिन इस शिक्षण संस्थान से वेद या वैदिक संस्कृति का कोई जुड़ाव नहीं दिखता है। शिक्षण संस्थान था अर्थात उस काल में विकसित लिपि भी अवश्य रही होगी, फिर

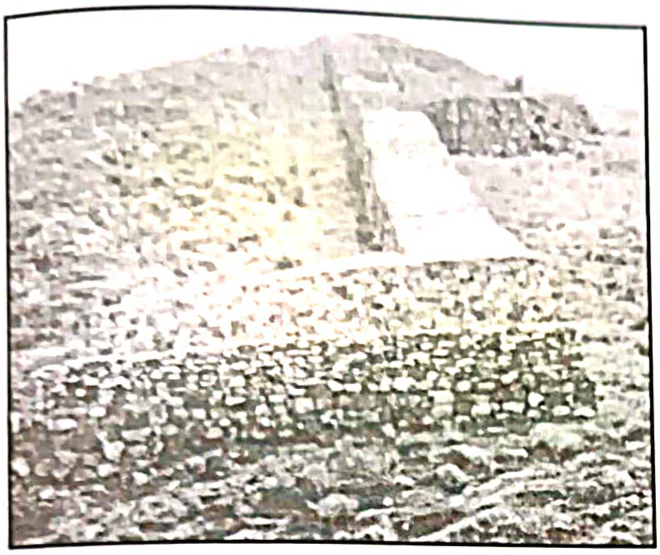
भी उस काल का लिखित वेद या वैदिक साहित्य आज तक नहीं मिला है। हां, आज उस विश्वविद्यालय की खुदाई में बौद्धिक संस्कृति का साक्ष्य जरूर मिला है, जो आज पेशावर के संग्राहलय में सुरक्षित रखा है। स्वतंत्रता पश्चात कई विदेशी पुरातत्वविदों ने तक्षशिला (वर्तमान पाकिस्तान में) जाकर अध्ययन किया और वहां से प्राप्त बौद्ध साक्ष्यों का उल्लेख किया है, लेकिन पाकिस्तान में मुस्लिम मजहब की प्रधानता और भारत में हिंदू मत की प्रधानता के कारण दोनों देशों की सरकारों ने इस पर आगे रिसर्च करने और उसे प्रकाशित करने पर रुचि नहीं दिखाई। **देखें चित्र संख्या (15) को।**



पेशावर में सुरक्षित बौद्धिक साक्ष्य (15)

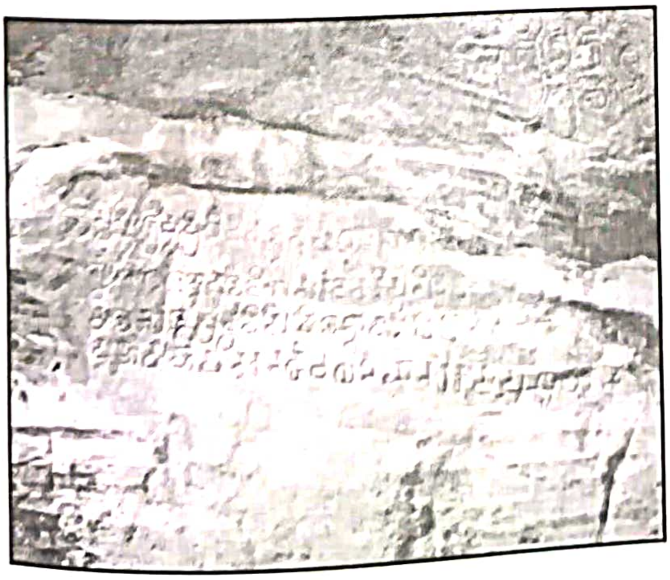
ईसा पूर्व के (D) काल खंड का साक्ष्यपरक इतिहास **"हर्यक वंश"** के सम्राट बिंबिसार से प्रारंभ होता है। इनके बाद से ही इनके परिवार और वंश का पता चलता है। ये मगध साम्राज्य के शासक थे और इनकी राजधानी आज की राजगीर थी। उस राजगीर से सम्राट का किला और उस किले से जुड़े हुए अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। लेकिन उन प्राप्त अवशेषों में से किसी भी प्रकार के वेद और वैदिक संस्कृति का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। यहां तक की उनके किले से किसी भी प्रकार की देवी-देवता की मूर्ति भी नहीं मिली है। सम्राट बिंबिसार के वंश परंपरा का साक्ष्य मिलता है, लेकिन कहीं भी वैदिक वर्णागत रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय लिखा हुआ नहीं मिला है। राजगीर की पांचों पहाड़ियों को जोड़ती हुई एक सुरक्षा दीवार सम्राट बिंबिसार के पूर्व काल की निर्मित मिली है, जिसको आज "साइक्लोपियन दीवार" (CYCLOPEAN WALL) कहा जाता हैं। **देखें चित्र संख्या (16) में।**

परंतु अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सम्राट था जिसने इस विकसित राजगृह नगर की घेराबंदी हेतु विशाल दीवार का निर्माण कराया था? मगध के राजा बिंबिसार को किससे सुरक्षा की जरूरत थी कि वे अपने किले को राजगृह में ही रखे थे? ऐसे कई सवाल हैं जो लोगों को अनुत्तरित करते हैं। लेकिन क्या कोई वैदिक श्रुति-ज्ञान को प्राप्त करने वाले लेखक बता पाएंगे कि



साइक्लौपियन दीवार (16)

सम्राट बिंबिसार को किस सम्राट से सुरक्षा की जरूरत थी? शायद इस बात को आज वैदिक श्रुत-ज्ञानी नहीं बता पाएंगे, लेकिन कनिंघम की खोज कुछ दिन और भारत में होती तो शायद उस अंधकार युग वाले वैदिक काल से पर्दा हटाते हुए उज्जवल बौद्धिक युग का प्रकाश जरूर फैल जाता। लेकिन दुर्भाग्यवश अंग्रेजों के जाने के पश्चात प्राचीन भारतीय इतिहास की सच्चाई को जानने का कार्य धीमा हो गया। शायद आजाद भारत में मनुवादी लोगों को बौद्धिक उजाले से डर लगने लगा था, जिसकी वजह से वैदिक अनुयायी लोग आगे के सभी उत्खनन को बंद के कगार पर लाकर खड़ा कर दिए। इसका फायदा उठाते हुए आज के मनुवादी लेखकों ने उस अंधकार युग में अपने आपको स्थापित करते हुए बगैर कोई साक्ष्य (प्रमाण) के वैदिक सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिए हैं, जो सरासर तथ्यहीन है।



शंख लिपि (17)

पांच पहाड़ियों को जोड़ती हुई साइक्लोपियन दीवार पूरे राजगीर नगर को सुरक्षा प्रदान करती थी। यह मिस्र की वास्तुकला के जैसी विशाल चूने के पत्थर से निर्मित दीवार है। मौर्य सम्राट से पूर्व की निर्मित यह संरचना आज नष्ट होने के कगार पर है, लेकिन इसका साक्ष्य आज भी सम्राट बिंबिसार के काल की भव्यता को दर्शाता है। सम्राट बिंबिसार के किला अवशेष के पास ही एक पहाड़ी पर गुफा मिली है, जिसे स्वर्ण भंडार गुफा कहते हैं। इस गुफा के अंदर पत्थरों पर **"शंख लिपि"** में लिखा हुआ कुछ मिला है, जिसे आज तक

पढ़ा नहीं जा सका है। **देखें चित्र संख्या (17)**। यानि कि सम्राट बिंबिसार से पूर्व में भी लिखने की पद्धति मौजूद थी। परंतु इस काल के भारत में कहीं भी वेद, वैदिक ऋचाएं या मंत्रों का कोई भी लिखित साक्ष्य नहीं मिला है। फिर भी भारत के वैदिक मतानुयायी इसके पूर्व काल को वैदिक काल कहते हुए उसमें प्रत्युक्त वेद और वैदिक ऋचाओं को आज प्राप्त कर लिए लेकिन इस काल की साक्ष्य वाली बातों को किसी श्रुति-स्मृति से प्रस्तुत नहीं कर पाए, आखिर क्यों? क्या आपको लगता है कि गंगा नदी का पानी हिमालय पहाड़ से चले तो सीधे बंगाल में ही दिखेगा! बीच के राज्यों में उस गंगा नदी के पानी का कोई दर्शन ही नहीं कर पाएगा क्या?

सम्राट बिंबिसार को गौतम बुद्ध का सबसे प्रथम प्रश्रयदाता के रूप में जाना जाता है! उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों द्वारा आज स्पष्ट हो गया है कि सम्राट ने महामानव गौतम बुद्ध को दान स्वरूप अपनी सुंदर और रमणीक बांसों वाली वाटिका प्रदान की थी, पूर्व काल में बांस को पालि भाषा में **"वेण"** कहा जाता था, इसी वजह से उस बांसवारी की वाटिका को **"वेणुवन"** के नाम से आज भी प्रसिद्धि प्राप्त है। **जिसे चित्र संख्या (18) में** देखा जा सकता है।

वेणुवन एक कृत्रिम जंगल है, जो बिहार के नालंदा जिले में अधिसूचित क्षेत्र राजगीर में स्थित है। यह बांस का जंगल कभी राजकीय उद्यान हुआ करता था। सम्राट बिंबिसार ने यह विहार खासतौर पर भगवान बुद्ध को उपहार में दिया था, ताकि श्रद्धालु आसानी से उनके दर्शन कर लाभ प्राप्त कर सकें। इसलिए वेणुवन को विश्व का पहला बुद्ध विहार होने का गौरव प्राप्त है।

'महावंश' के अनुसार वेणुवन राजगृह में वैभार पर्वत की तलहटी में नदी के दोनों ओर स्थित था। इसे मगध सम्राट बिंबिसार ने गौतम बुद्ध को समर्पित कर दिया था। इसे 'महावंश' में **'वेणुवनाराम'** कहा गया है। संभवतः बांस के वृक्षों की



वेणुवन (18)

अधिकता के कारण ही इसे वेणुवन कहा जाता था। गर्म जलकुंड के पास ही वेणुवन महाविहार स्थित है। यह बांस का जंगल कभी राजकीय उद्यान था। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद पहली वर्षा ऋतु के चार महीने यहीं रुके थे। 'बुद्धचरित' के अनुसार, तब वेणुवन में 'तथागत' का आगमन सुनकर मगधराज अपने मंत्रिगणों के साथ उनसे मिलने के लिए आए थे।

भगवान बुद्ध के जीवनपर्यंत बताए गए सभी लोकोपकारी उपदेशों को सहेजकर रखने हेतु पहली बौद्ध संगीति का आयोजन सम्राट बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु की देख-रेख में इसी राजगीर की पावन धरती पर हुआ था। उसी संगीति के बाद से महामानव गौतम बुद्ध के द्वारा बताई गई सभी जीवनोपयोगी बातों को कलमबद्ध करने की शुरुआत हो गई थी जो आज के साक्ष्य अनुसार उन सभी लोकोपकारी बातों का लेखन कार्य सम्राट अशोक के काल में आकर पूरा हुआ था, जिसे आज **'त्रिपिटक'** के नाम से पूरा विश्व जानता है।

साथ ही उस समय के मिले सभी बुद्ध विहार और सभी शिक्षण संस्थानों से जो भी साक्ष्य आज मिला है उसमें पूर्व की साधना पद्धति, जो किसी कारण से विलुप्तता के कगार पर चली गई थी, उसे मार्गदाता गौतम बुद्ध ने पुनः फिर से पुनर्जीवित करते हुए सभी मानव प्राणी जगत हेतु एक अनमोल साधना विधि प्रदान की थी, इस साधना विधि को आज विपस्सना के नाम से सभी लोग जानते हैं। साथ ही उन्होंने मनुष्य के दुख को **"चार आर्य सत्य"** बताते हुए उसके निवारण हेतु **"आष्टांगिक मार्ग"** पर चलने को कहते हुए सारनाथ में **"धर्मचक्रप्रवर्तन"** (धम्मचक्कप्पवत्तन) के रूप में स्थापना की थी।

आज साक्ष्य स्वरूप भगवान बुद्ध के जीवन से जुड़े चार स्थानों की प्रमुखता काफी है, जिसमें एक उनका जन्मस्थान **लुंबिनी** है, दूसरा ज्ञान प्राप्ति का स्थान **बोधगया** है, तीसरा प्रथम धम्मोपदेश का स्थान **सारनाथ** है और चौथा उनके महापरिनिर्वाण का स्थान **कुशीनगर** है। लुंबिनी नेपाल के कपिलवस्तु जिला में अवस्थित है। इस स्थान पर भगवान बुद्ध के जन्मस्थान की लिखित जानकारी प्राकृत भाषा में शिलापट्ट पर अंकित है। दूसरा ज्ञान प्राप्ति का स्थल बोधगया को सभी जानते हैं। तीसरा **"धम्मचक्रप्रवर्तन"** स्थल सारनाथ, काशी अथवा वाराणसी के पूर्वोत्तर में स्थित प्रमुख पुरातात्विक स्थल है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश यहीं पर दिया था। चौथा स्थान

कुशीनगर है जिस स्थान से भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके अस्थिकलश और बने स्तूप प्राप्त हुए हैं।

सम्राट बिंबिसार के काफी पूर्व काल से स्थापित शिक्षण संस्थान तक्षशिला विश्वविद्यालय में भी किसी भी प्रकार की वैदिक लिपि वाली ऋचाएं प्राप्त नहीं हुई हैं। आज के तथाकथित लेखक वैदिक वाली कहानी को इसी तक्षशिला काल के आस-पास बैठाने में लगे हैं। उस तक्षशिला के आस-पास हुई खुदाई में भी बहुसंख्यक रूप से स्तूप से जुड़ी हुई सभ्यता-संस्कृति का साक्ष्य मिला है। अब आप लोगों को तो आज पता ही है कि स्तूप किस संस्कृति की पहचान है! यानी गौतम बुद्ध से पूर्व भी भारत की सभ्यता-संस्कृति प्राकृतिक गुण-धर्म वाली स्वाभाव से चलने वाली संस्कृति थी। इस समय तक किसी भी प्रकार के स्थापित वैदिक सभ्यता या वैदिक ऋचाओं अथवा देवताओं को अपने अधीन करने वाले वैदिक मंत्रों का साक्ष्य नहीं मिला है, फिर शैव और वैष्णव पंथ के देवता का अनुष्ठान कैसे होता था, आज यह एक यक्ष प्रश्न है? इस समय तक लिखने वाली लिपि का साक्ष्य **चित्र लिपि और शंख लिपि** के रूप में मिलता है और आज के मनु पुत्र अपनी **संस्कृत भाषा** (नागरी लिपि) को उस समय बिठाने में लगे हुए हैं। महोदय, बिना साक्ष्य के आप लोग अपना ज्ञान किसी किताब या अपने निर्देशन में बनने वाली किसी फिल्म-धारावाहिक में तो बैठा सकते हो, लेकिन उस सच्चाई को आज भारत के जमीन के नीचे से मिलने वाले साक्ष्यों में नहीं बैठा सकते हो।

हर्यक वंश के बाद में हुए शासक वंश का नाम शिशुनाग वंश है। इस वंश के संस्थापक सम्राट शिशुनाग थे। इनके पुत्र का नाम कालाशोक था, जिनके शासन काल में बौद्धों की दूसरी संगीति हुई थी। नाग राजवंश के बाद नंद राजवंश का शासन रहा। जिसका प्रमुख शासक महापद्मनंद था। इस नंद वंश के बाद ही मौर्यवंश का काल आता है। यहां तक के सभी वंशों के राज्यों की राजधानी और उनके स्थान का पता चल गया है, लेकिन किसी भी खुदाई में वैदिक संस्कृति से मिलती हुई कोई लिपि या वेद का मूलाधार चार्तुवर्ण्य जैसे शब्द का साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी आज कुछ लोग मुख से पैदा होने वाली झूठी कहानी को अपनी कपोल-कल्पित बातों से कहते नहीं थकते हैं।

मौर्य काल बहुत ही स्वर्णिम एवं ऐतिहासिक काल रहा है। ऐसे तो इसमें

कई प्रमुख कार्य हुए हैं, लेकिन इस काल में हुए दो कार्यों को विश्व का इतिहास कभी भूल नहीं सकता है। जिसमें पहला कार्य है– भारत को विराट स्वरूप देते हुए इसका विस्तारीकरण करना और दूसरा कार्य है– उस समय की सभ्यता-संस्कृति जैसे सभी सांस्कृतिक साक्ष्यों और सभी राजकीय और गैर-राजकीय बातों को लिपिबद्ध करते हुए विभिन्न प्रकार के अभिलेख को मूर्तरूप देने की प्रथा की शुरुआत करना। इसके परिणामस्वरूप भारत के मौर्य काल से पूर्व की चली आ रही प्रत्येक सूक्ष्म संस्कृति और ज्ञानवर्धक इतिहास की जानकारी उनके अभिलेखों के माध्यम से आज पढ़ने को मिलती है।

मौर्यकालीन स्थानों के उत्खनन से साक्ष्ययुक्त दृष्टि से चार प्रकार की भाषा-लिपि मिलती है। उनमें सबसे ज्यादा साक्ष्य प्राकृत भाषा-लिपि का है, दूसरे स्थान पर आरमेईक और खरोष्टी है और कुछ जगह से इनका अभिलेख यूनानी भाषा-लिपि में भी मिला है, लेकिन इनके काल में भी कोई भी वैदिक भाषा या लिपि का मिलना नहीं हुआ है। इससे आपको कुछ समझ में आता है या अभी भी मनु पुत्रों के द्वारा बैठाई गई दिमागी परिकल्पना में जीवित हैं! सबसे अहम बात है कि उस समय तक जो भी लेखन कार्य हेतु जिस वस्तु का प्रयोग होता था वह बिल्कुल मिटने या विलुप्त होने योग्य नहीं होती थी। यानी की एक बार कोई कुछ लिख दे तो समझो कि वह मिटाने से भी नहीं मिटने वाली होती थी। मौर्य काल में लिखवाए गए सभी अभिलेख आज संग्रहालय में सुरक्षित मौजूद हैं, उसे आप भी देख सकते हैं। मौर्य काल के तीन प्रकार के प्रचलित नाम वाले अभिलेख मिलते हैं, जिनमें, पहला स्तंभ लेख है, दूसरा शिलालेख है और तीसरा गुफा लेख है।

मौर्य काल का सम्राट अशोक विश्व इतिहास के महानतम सम्राटों में स्थान रखता था। वह भारत का प्रथम शासक था, जिसने युद्ध (मार-काट) विजय की नीति को त्यागकर, धर्म (शील-सदाचार) विजय की नीति को अपनाते हुए, अपने स्वयं के व्यक्तित्व पर शील-सदाचार वाली धर्म की छाप लगाते हुए, विश्व इतिहास में अनंत काल तक अद्वितीय छाप छोड़ी थी। भारत में सर्वप्रथम सम्राट अशोक के कार्यकाल से ही वर्तमान की जानकारी या पूर्व काल की प्रचलित सभी बातों की जानकारी का लेखन प्रारंभ हुआ था, जो हमें आज प्रामाणिक इतिहास के रूप में सम्राट के द्वारा लिखित अभिलेखों से प्राप्त होता है। अभी तक सम्राट अशोक के 40 अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। सर्वप्रथम 1837 ईस्वी में

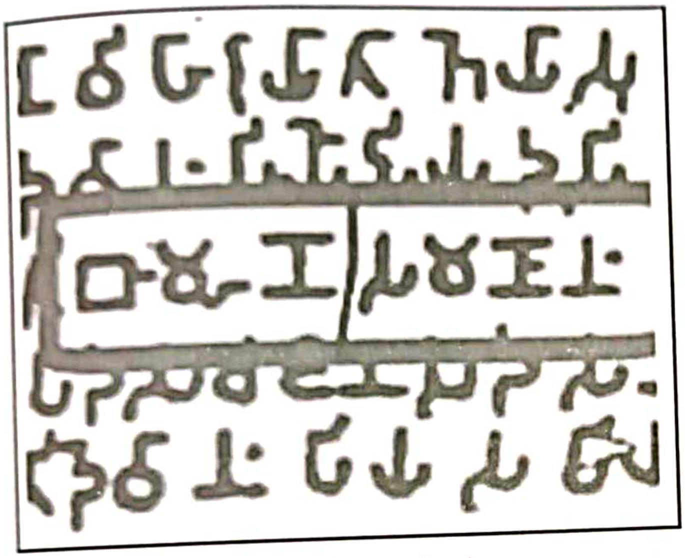
जेम्स प्रिंसेप (James Prinsep) नामक विद्वान ने अशोक के अभिलेख को पढ़ने में सफलता हासिल की थी। इसलिए इसे भारत की प्रथम ज्ञात पठनीय लिपि भी कहा जाता है। आज के समय में गुप्त एजेंडा पर काम करने वाले तथाकथित कलम-कसाई लेखक या सत्तालोलुप लोग इसी ज्ञात पठनीय लिपि में वैदिक संस्कृत की खोज करते रहते हैं और यदा-कदा इन्हीं अभिलेखों में से कुछ शब्दों को संस्कृत का बताकर दुष्प्रचार करते रहते हैं। जबकि प्रथम पठनीय ज्ञात लिपि-भाषा की ध्वनि और संस्कृत भाषा की ध्वनि में आसमान-जमीन का अंतर है। आइए दोनों भाषाओं के ध्वनि का अवलोकन करते हैं।

पालि भाषा और संस्कृत भाषा की ध्वनि में अंतर

जंबुद्वीप क्षेत्र (पुराना भारतीय भू-भाग) में उत्खनन से प्राप्त स्तंभ लेख, गुहा लेख, लघु लेख और वृहद लेख के जो भाग प्राप्त हुए हैं और उन अभिलेखों पर जो लिखा था, उसको पढ़ने में सर्वप्रथम जेम्स प्रिंसेप को सफलता मिली थी। उस लिपि का नाम उन्होंने अपनी पुस्तकों में **'बम्ही लिपि'** (अपभ्रंश ब्राह्मी) लिखा है, जबकि सम्राट अशोक के अभिलेखों में **'धम्म लिपि'** और सम्राट समुद्रगुप्त के अभिलेख में **'धम्म लिबि'** लिखा मिलता है। बात यहीं से शुरू होती है। अभिलेख पढ़ते समय जेम्स प्रिंसेप को ऐसे कई शब्द मिले हैं जो आज की संस्कृत के जैसा होने का भ्रम पैदा करते हैं, लेकिन वे सभी शब्द संस्कृत भाषा से कोसों दूर हैं। जैसे अभिलेखों से मिले कुछ शब्द रख रहा हूं— बम्ह, बम्ही, बम्हण, भगवतो ऊक्रंति आदि।

यहां पर जो बम्ही, बम्हण शब्द देख रहे हैं, इस बात की जानकारी जैसे-जैसे आज के समय के लोगों को मिल रही है वैसे-वैसे जेम्स प्रिंसेप द्वारा लिखा गया बम्ही शब्द पर लोगों का भ्रम और बढ़ता जा रहा है। ऊपर से इस भ्रम पर खासकर वैसे संगठन के लोग कुछ ज्यादा ही भ्रमित दिखते हैं, जो ब्राह्मणवाद के विरोध के नाम पर दूसरी अंध-भक्ति को स्थापित करने में लगे हुए हैं। इन लोगों के अनुसार ब्राह्मणी मान्यता के राम काल्पनिक हैं, लेकिन उसी रामायण का पात्र शंबूक वास्तविक है। इन लोगों के अनुसार द्रोणाचार्य काल्पनिक हैं, लेकिन उसी महाभारत का पात्र एकलव्य वास्तविक है। इन लोगों के अनुसार दुर्गा नामक महिला काल्पनिक हैं, लेकिन महिषासुर नामक पात्र वास्तविक हैं। ऐसे अनेक मिथ्या ब्राह्मणवादी कथा के नकारात्मक पात्र हैं

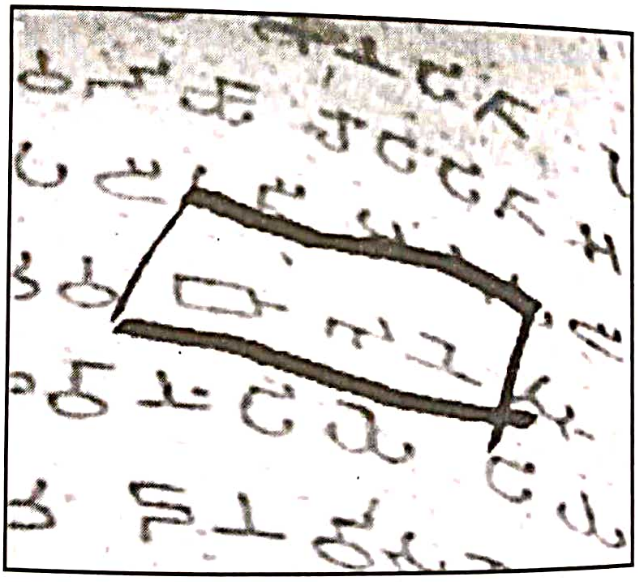
जिनको आज के कुछ संगठन ब्राह्मण विरोध के नाम पर स्थापित कर रहे हैं या प्रचारित कर रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप समाज के बहुसंख्यक वर्गों में आज एक नई मिथ्या, भ्रम पैदा हो रहा है। जबकि भगवान बुद्ध ने कहा है कि विद्वेष से विद्वेष नहीं मिटता है। किसी भी मिथ्या बातों पर अपनी जीत दर्ज करने हेतु प्रामाणिक बातों को तथ्य व तर्क के साथ रखें, जीत अवश्य होगी।



चित्र संख्या (19)

ब्राह्मणवाद से विद्वेष है, यह अच्छी बात है। ब्राह्मणवाद समाज के लिए जहर है, यह भी सही बात है, लेकिन उस विद्वेष में यह क्या कर रहे हैं, आंख बंद करके सिर्फ जाति का विरोध! जबकि **ब्राह्मणवाद का अर्थ है– ब्राह्मणों के लाभ हेतु स्थापित मिथ्या आडंबर, मिथ्या पाखंड, मिथ्या कर्मकांड, काल्पनिक कथा-कहानी द्वारा समाज में छुआछूत की व्यवस्था बनाना, ऊंची-नीची जाति-वर्ण वाली सोच की व्यवस्था निर्माण करने वाला ब्राह्मण और इस प्रकार की व्यवस्था को मानने वाला ब्राह्मण या कोई गैर-ब्राह्मण व्यक्ति, समाज, समूह या वर्ग जो भी है, वे सभी ब्राह्मणवाद के अनुयायी की श्रेणी में आएंगे या वैसे लोग ब्राह्मणवादी कहे जाएंगे।** अब अगर कोई व्यक्ति ब्राह्मणवादी विद्वेष के कारण ब्राह्मणवादी कल्पनाओं द्वारा निर्माण की गई आडंबरयुक्त कहानियों में से नकारात्मक पात्रों को स्वीकार करते हुए अंगीकार करते हैं, तो वैसे सभी लोग उसी ब्राह्मणवादी कल्पनाओं के नकारात्मक प्रचारक कहे जाएंगे या अनुयायी कहे जाएंगे। वहीं दूसरी ओर अगर कुछ लोग ब्राह्मणवादियों द्वारा स्थापित व प्रचारित मिथ्या कहानियों में जो संज्ञानाम शब्दों का उपयोग हुआ है, उसके उसी स्वरूप को स्वीकार करते हुए उन शब्दों से भागने लगें, तो इसे भी ब्राह्मणवादियों द्वारा फैलाई गई मिथ्या धारणा को स्वीकार करना ही कहेंगे। जबकि ऐसा होना नहीं चाहिए। इन सभी घटनाओं में वास्तविक सच्चाई का भी पता करना चाहिए। आप लोगों ने इसी पुस्तक में **बम्हण** या **वाम्हण** (𑀩𑀸 𑀫𑁆𑀳 𑀡) और **बाभन** (𑀩𑀸 𑀪 𑀦) का उपयोग सम्राट अशोक के अभिलेख

और सम्राट समुद्रगुप्त के अभिलेख में देखा होगा, जिसको **चित्र संख्या 19, 20 में** देख सकते हैं। इस बाम्हण या बाभन शब्द का अर्थ पालि शब्दकोश अनुसार विद्वान होता है। यानी सम्यक काल में जो भी विद्वान होते थे, उन्हें बाम्हण कहा जाता था, जो एक गुणवाचक उपाधि मात्र थी। उस समय आज के जैसी पीढ़ी-दर-पीढ़ी जातिवाचक बाम्हण कहलाने की परंपरा नहीं थी। उस समय अपनी स्वयं की योग्यता के आधार पर कोई व्यक्ति विद्वान बनता था और फिर अपनी गुणवत्ता के आधार पर उपाधि प्राप्त करता था और उसका स्वयं का पुत्र अपनी अयोग्यता की वजह से अविद्वान यानी सामान्य व्यक्ति बन जाता था, तो उसका संबोधन सामान्य गृहस्थ, मजदूर, कारीगर जैसे नामों से होता था। कोई-कोई व्यक्ति सामान्य ज्ञान से भी नीचे चला जाता था, तो वैसे व्यक्ति को अनरियो (अनाड़ी) कहा जाता था। आज वही अनरियो संस्कृत में अनार्य बना है।



चित्र संख्या (20)

नौवीं शताब्दी के बाद जब सम्यक काल का रूपांतरण ब्राह्मणवादी काल में होने लगा और उस ब्राह्मणवादी काल का समुत्पाद सामंतवाद की वजह से समाज में जाति-वर्ण का निर्माण होने लगा, तो धूर्त वर्गों ने पूर्व काल के इसी बाम्हण शब्द को अपने जाति-वर्ण के नाम पर चिपकाया था, यानी अपने समाज का जाति नामकरण पूर्व के श्रेष्ठ शब्द बाम्हण को परिमार्जित कहे या रूपांतरित कहें, करते हुए ब्राह्मण बनाते हुए अपने जाति का नाम रखा था। रूपांतरण शब्द का उपयोग इसलिए कर रहा हूं कि धम्म लिपि (बम्ही लिपि) अनुसार बाम्हण शब्द गुणवाचक होता है जिसको सामंतकाल में कुछ धूर्त समूह के लोगों ने अपने जाति नाम के लिए संज्ञा नाम बनाते हुए इस शब्द को संस्कारित भी किया और इसके व्यंजन के स्थानों की जगह भी बदल दी है। जिसमें दो बदलाव स्पष्ट रूप से दिखते हैं, पहला बदलाव पालि के बाम्हण में सबसे पहला व्यंजन बा उसके बाद आधा म (म्) और फिर ह और अंत में ण लिखा

जाता है जिसको धूर्तों द्वारा संस्कृत में संस्कारित करने के बाद सबसे पहला व्यंजन को ब्रा, उसके बाद आधा ह (ह्) और फिर म और अंत में ण किया है। अब यहां गौर करें कि बीच वाले व्यंजन म और ह का स्थान और रूप दोनों का परिवर्तन धूर्तों द्वारा किया गया है। दूसरा सबसे बड़ा बदलाव बा में र का संयुक्त आकार लेना। जबकि पालि भाषा और बम्ही लिपि के लेखन में ऐसा नहीं होता है। उसका मुख्य कारण है कि पालि भाषा के प्रत्येक शब्द के प्रारंभ और अंत वाले व्यंजन की ध्वनि स्वरयुक्त होती है। यह पालि भाषा की मुख्य विशेषता है। पालि में स्वरविहीन वर्णों का उच्चारण ही नहीं होता है। जबकि त्र या त्र वाली स्वरूप में किसी भी व्यंजन का रूप र के साथ बनता है तो उस परिस्थिति में बनने वाला दोनों संयुक्त व्यंजन का स्वर विलोपित हो जाता है यानी स्वरविहीन आधा र जिसके साथ जुड़ेगा वह र अपने साथ जुड़ने वाले दूसरे व्यंजन को भी स्वर विहीन बना देता है। जिस वजह से पालि भाषा में आधा र वाला त्र संयुक्त स्वरूप नहीं बनता है। **जैसे– प्रिय-पिय, प्रमाद-पमाद, प्रजा-पजा, प्रीति-पीति, क्रोध-कोध, विप्र-विप्प, मित्र-मित्त, इंद्र-इंद आदि।**



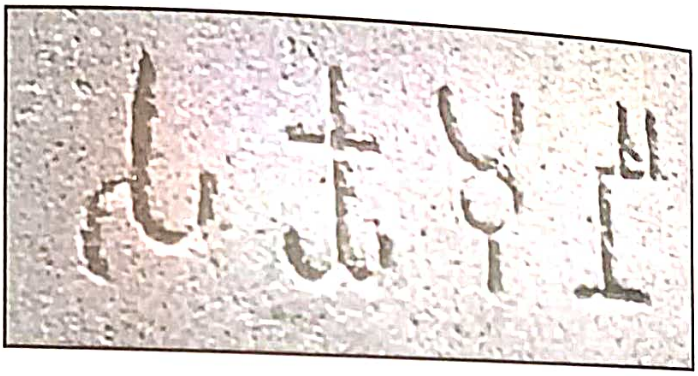
चित्र संख्या (21)

लेकिन वहीं आप लोग कहेंगे कि पालि भाषा में संयुक्त आकार लेते हुए तो काफी शब्द मिलते हैं। सही बात है आप सही कह रहें हैं, पालि भाषा में जो संयुक्त शब्द मिलते हैं उनमें अधिकांश संयुक्त वर्ण अपने वर्ग के व्यंजन के साथ बनते हैं या थोड़ी संख्या में जो कुछ दूसरे वर्गों के वर्ण स्वर या व्यंजन होते हैं उनके साथ बनते हैं। लेकिन इस घटना में जो भी संयुक्त व्यंजन बनता है वैसे संयुक्त व्यंजन में सिर्फ पहला व्यंजन ही स्वर विहीन होता है और बाद के व्यंजन का उच्चारण स्वर के साथ होता है।

आज की भाषा हिंदी कहें या संस्कृत भाषा में कहें, यहां संयुक्त व्यंजन का दो स्वरूप बनता है।

जिसे दो नामों से संबोधित भी किया जाता है। पहला क और र का संयुक्त

और दूसरा क में र का संयुक्त प्रयोग हो रहा है। यहां दोनों शब्द संयुक्त ही बन रहे हैं, लेकिन पहला क और र का संयुक्त जो बन रहा है उसकी ध्वनि **क्र** निकलेगी और दूसरा क में र का जो संयुक्त शब्द बन रहा है उसकी ध्वनि **क्र** निकलेगी। अब यहां ध्यान दें कि पहले वाले में क स्वरविहीन है और र स्वर के साथ अपनी आवाज दे रहा है, लेकिन वहीं दूसरा जो क्र है वह क और र दोनों स्वरविहीन आवाज दे रहा है। पालि भाषा में स्वाराकांत ध्वनि का ही महत्त्व है, अंत में स्वरविहीन ध्वनि का कहीं स्थान नहीं है।



चित्र संख्या (22)

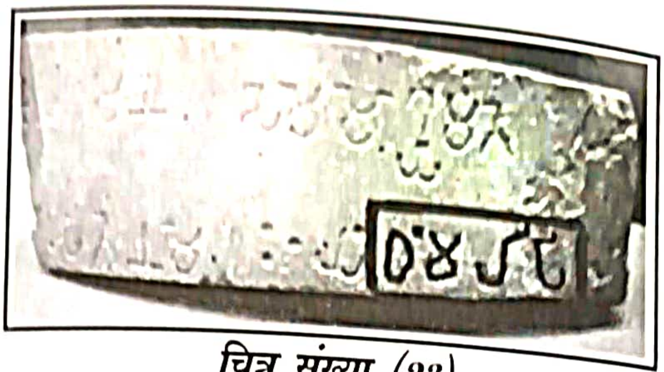
पालि भाषा और बम्ही लिपि में संयुक्त वर्ण के प्रयोग को समझने के लिए उदाहरण स्वरूप इसके साथ दो अभिलेख दिखा रहा हूं, पहले पर लिखा हुआ है "भगवतो ऊक्रंति", (भ ग व तो ऊ क्रं ति) लिखावट को गौर से देखें– चित्र संख्या 21 में **भगवतो ऊक्रंति (ᒥΛδ˙λ˙ L˙+̣λ˙)**, जिसमें भगवतो के बाद पहला ऊ, उसके बाद क और र का संयुक्त है। परंतु इसे आज की भाषा-लिपि की लेखनी में देखने की आदत कहें या पढ़ने की आदत कहें, दोनों में से जिसका भी प्रभाव कहें, उस प्रभाव के कारण बम्ही लिपि में ऐसे लिखित शब्दों को क में र का संयुक्त यानी क्र पढ़ने की गलती लोग कर देते हैं या धूर्ततावश लोग क में र का संयुक्त वर्ण बनाकर क्र पढ़ने की आदत बना देते हैं, जबकि यह क में र का संयुक्त बनकर क्र बनता है। उस अनुसार इसकी ध्वनि ऊक्रंति होगी। पालि में जितने भी संयुक्त शब्द बनते हैं उनका उच्चारण देखें– **सक्य मुनी चित्र संख्या 22 (ᒐ+̲ 8,⊥̈) को देखें।** जिसमें पहला वर्ण स, उसके बाद क और य का संयुक्त प्रयोग है, उसके बाद मु और नी है। इसमें जो संयुक्त शब्द क और य है उसका उच्चारण क और य यानी क्य से होगा, जिसे एक साथ सक्य मुनी पढ़ा जाएगा। उसी प्रकार से पालि भाषा और बम्ही लिपि में संयुक्त शब्दों का लेखन व पाठन को देखें– **बाम्हण (□·8,I)**, **बम्ह (□8,)** या नमो **तस्स** भगवतो अरहतो **सम्मा सम्बुद्धस्स, दुक्ख** समुदय अरिय **सच्चं, पञ्चसील, अट्ठसील, पटिच्च समुप्पाद, धम्म, चक्क, पवत्तन** आदि,

यहां जो संयुक्त शब्द दिख रहे हैं वे सभी शब्द संयुक्त होने के बाद भी सबों के अंतिम वर्ण की ध्वनि स्वरांकांत है। जबकि संस्कृत में ऐसा नहीं होता है, वहां शब्द के अंतिम वर्ण की ध्वनि संयुक्त होने की वजह से स्वर-विहीन होती ही है और अगर अंतिम वर्ण संयुक्त नहीं है और फिर भी उसें स्वर-विहीन करना है तो उसके लिए संस्कृत में विशिष्ठ चिह्न हलंत (्) का आविष्कार किया गया है, इस हलंत का प्रयोग हर जगह देखा जा सकता है। इस हलंत के प्रयोग से शब्द के अंतिम अक्षर की ध्वनि स्वरविहीन हो जाती है। पालि और संस्कृत भाषा के लेखन और पाठन करने में अंतर करने का सबसे सटीक पहचान यही **हलंत** और **विसर्ग** है।

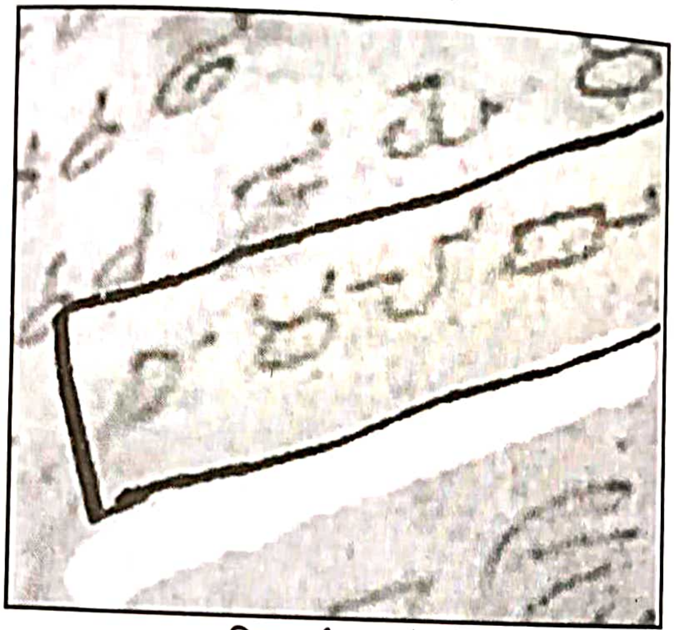
उसी प्रकार बम्ही लिपि के लेखन में किसी भी व्यंजन के ऊपर र का बनने वाला (ꣴ) संयुक्ताक्षर शब्द नहीं बनता है। उसका पहला कारण है कि बम्ही लिपि के लेखन में शब्दों का सर बांधने की प्रथा नहीं होने की वजह से व्यंजन की आकृति बदलने से है और दूसरा कारण है कि शब्दों के ऊपर में र का संयुक्त बनने पर जो आकृति बनती है उसी आकृति अनुसार व्यंजन के ऊपर स्वर का प्रयोग किया जाता है। यानी दोनों परिस्थिति में शब्द का स्वरूप जरूर बदलता है। इस कारण र का ऊपर वाला संयुक्त प्रयोग नहीं होता है। **जैसे– मार्ग-मग्गो, आर्य-अरियो, अनार्य-अनरियो, दुर्लभ-दुल्लभो, निर्वाण-निब्बान, अर्हत-अरहत, दर्शन-दस्सन, सर्व-सब्ब आदि।**

फिर पालि के बाम्हण में और आज धूर्तों द्वारा निर्मित ब्राह्मण के अर्थ सहित लिखावट में अंतर होने के बाद भी उससे भागना कैसा! यह तो सम्राट अशोक और सम्राट समुद्रगुप्त के अभिलेख में लिखा हुआ मिला है। बात विद्वेष से भागने की नहीं है और बात विद्वेष की वजह से किसी वास्तविक सच्चाई से मुख मोड़ने की भी नहीं होनी चाहिए, बल्कि दोनों परिस्थितियों में सच का डट कर सामना करना चाहिए और लोगों को सच्चाई से अवगत भी कराना चाहिए।

उसी प्रकार की बात यहां लिपि के नामकरण की भी है। जिसमें लिपि की लिखावट बम्ही और ब्रह्मी में म और ह का स्थान परिवर्तन से लेकर ब में र का संयुक्त रूप से संस्कारित करने का मामला भी है। सम्राट अशोक और सम्राट समुद्रगुप्त (समुदगुप्त) ने क्रमशः अपने अभिलेख में धर्म की बातों से



चित्र संख्या (23)



चित्र संख्या (24)

जहां-जहां जनता को संबोधित किया है, वहां-वहां उन लोगों ने इस लिपि का नाम क्रमशः धम्म लिपि और धम्म लिबि लिखकर संबोधित किया है। इसे चित्र **संख्या 23** में धम्म लिपि (D'४ J'L') और **चित्र संख्या 24 में** धम्म लिबि (D'४ J'口') देखें। अब यहां एक बात पर ध्यान दीजिए कि सम्यक काल में 'धर्म' (धम्म) गुण, स्वभाव, लक्षण को कहा जाता था। यानी जिसका जो गुण होता था, जिसका जो लक्षण होता था, उसे उसका धर्म कहा जाता था। अब जब लेखन का गुण-स्वभाव लिपि है तो उस लिपि का नाम धर्म (धम्म) लिपि ठीक ही तो रखा गया है। लेकिन अंग्रेजी विद्वानों द्वारा जितनी भी पुस्तकों का लेखन हुआ है, उन सभी पुस्तकों में इस धम्म लिपि का नाम बम्ही लिपि लिखा है जिसको आज के कलम-कसाई लेखकों ने उस बम्ही को संस्कारित करते हुए ब्राह्मी कर दिया है। इस घालमेल से आप लोगों को अवगत कराता हूं।

पुनः आप सभी को सम्यक काल की संस्कृति का अवलोकन करना होगा। सम्यक काल के समय प्रचलित भाषा अनुसार बम्हण या बाम्हण का अर्थ विद्वान होता है, यहां तक तो आप लोग सहमत हैं। उसी बम्हण से एक और शब्द बना हुआ था, जिसे 'बम्ह' कहा जाता था, जिसका अर्थ श्रेष्ठ होता है। उस बम्ह का अर्थ जानने के लिए सम्यक काल की कुछ घटनाओं को देखना होगा। सम्यक काल में भिक्खुसंघ हेतु अनेक विहार थे, लेकिन उन विहारों में कुछ विहार ऐसे भी थे, जो भगवान बुद्ध को सबसे ज्यादा प्रिय थे। जिस वजह से वैसे विहार में भगवान बुद्ध का वर्षावास सबसे ज्यादा बीतता था। वैसे सभी विहार को 'बम्ह विहार' कहा जाता था। ऐसा क्यों? ऐसा इसीलिए कि

उन सभी विहारों में स्वयं भगवान का निवास होना और उनके निवास होने की वजह से वहां पर भगवान की हमेशा करुणा (दया), मुदिता (हर्ष, मोद), मित्ता (मित्रता) और उपेक्खा (समता) रूपी ओज का प्रकाश पुंज बहता रहता था। जिस वजह से उन विहारों को बम्ह विहार कहा जाता था। यानी वह विहार और विहारों से श्रेष्ठ विहार थे, जिस वजह से ऐसे **बम्ह विहार** वाले स्थानों को **श्रेष्ठ विहार** कहा जाता था।

इस बम्ह का दूसरा एक और अर्थ समझने के लिए आप लोगों को भगवान बुद्ध द्वारा सभी भिक्खु और गृहस्थों के लिए बताई गई सबसे प्रमुख विद्या 'शील' की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा। जिसमें पहले पांच शील और दूसरे आठ शील की चर्चा है। उस आठ शील में तीसरा शील **'अबम्हचारिया (विकृत स्वरूप अब्रह्मचारिया) वेरमणी सिक्खापदं समादियामि'** है। इसमें जो **अ बम्ह चारिया** का अर्थ– **अ श्रेष्ठ जीवन जीना** और वेर मणी सिक्खा पदं समा दियामि का अर्थ– इससे दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं। यानी श्रेष्ठ जीवन नहीं जीने से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं (भ्रष्ट जीवन जीने से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं)। यानी यहां भी बम्ह का अर्थ श्रेष्ठ है।

तीसरा एक उदाहरण त्रिपिटक के खुद्दकनिकाय में **धम्मपद** पुस्तक की गाथा नंबर 104 और 105 का है।

गाथा नंबर 104– **अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायंइतरा पजा।**
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥

अर्थ : *अपने आपके मन एवं इंद्रियों का दमन करने वाले तथा निरंतर संयत आचरण रखने वाले के लिए साधारण प्रजा को जीतने की अपेक्षा अपनी इंद्रियों को जीतना अधिक श्रेयस्कर है।*

गाथा नंबर 105– **नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह बाम्हणा।**
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो ॥

अर्थ : *ऐसे पुरुष के इस अपूर्व विजय को न कोई देवता (अरहत भिक्खु), न कोई गंधर्व (राजा), न कोई मार (राग, द्वेष, तृष्णा) तथा स्वयं बम्हा (श्रेष्ठ विद्वान) भी पराजय में नहीं बदल सकते हैं।*

इन सब साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बम्ह शब्द गुणवाचक है जिसका अर्थ श्रेष्ठ होता है। जैसे बुद्ध, तथागत, आचार्य या आज का शब्द

डॉक्टर, प्रोफेसर, मास्टर, अभियंता और वकील जैसे कई शब्द गुणवाचक हैं। इन सारे शब्दों का महत्त्व या इनका उपयोग ऐसे गुणवत्ता वाले व्यक्ति के ऊपर किया जाता है, जैसे– बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद ही किसी को बुद्ध कहा जाता था। तथागत यानी तथ्यता का पालन करने वाले को ही तथागत कहा जाता था। आचार्य (अचरियो) का संबोधन भी अच्छे आचरण का पालन करने और कराने वाले को कहा जाता था। उसी प्रकार आज शिक्षा के क्षेत्र से चिकित्सीय डिग्री या विद्या वाचस्पति (Doctor of philosophy) के उपाधिधारक को ही डॉक्टर, विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के अध्यापक को प्रोफेसर, स्कूलों में पढ़ाने वाले को मास्टर, शिक्षा के क्षेत्र से अभियांत्रिकी और न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की ओर से वक्ता बनने की उपाधि प्राप्त किए हों, वैसे ही व्यक्ति को अभियंता और वकील कहा जाता है। अब यहां ध्यान दें कि यह गुणवाचक नाम बिना गुणवत्ता के किसी व्यक्ति को रख दिए जाएं तो क्या वैसे व्यक्ति में इन शब्दों वाली गुणवत्ता आ जाएगी?

उसी प्रकार इस बम्ह शब्द पर समाज में जो धारणा संज्ञा (नामवाचक) के रूप में किसी अज्ञात पात्र के नाम को लेकर बैठी है तो पहली बात वैसे पात्र की धारणा ही भ्रामक और साक्ष्यहीन है, वहीं दूसरी बात कि अगर किसी ने किसी कहानी के पात्र का कोई गुणवाचक नाम रख भी लिया, तो क्या उस पात्र के अंदर गुणवाचक नाम जैसी गुणवत्ता का साक्ष्य मिला है? आज अगर वर्तमान समय की भी बात करें तो कोई व्यक्ति अपना नाम गुणवाचक वकील रख ले तो क्या सही में उसमें वकील वाला गुण देखने को मिल जाएगा? नहीं न! आज बहुत से लोग गुणवाचक संज्ञा नाम रखे हुए ठग-लुटेरा भी मिल जाएंगे, इनका क्या करेंगे? उसी प्रकार बम्ह (संस्कारित नाम ब्रह्म) नाम के शब्द का संबंध सिर्फ मिथ्या कथा-कहानी द्वारा फैलाए गए दुष्प्रचार से है। अगर उस मिथ्या दुष्प्रचार वाले नाम को सही मानकर सजग व जागरूक लोग भागते हैं तो यहां वैसे लोगों की हार मानी जाएगी, क्योंकि धर्म विद्वेषी (ब्राह्मणवादी) शक्ति भी तो यही चाहती है कि मेरे द्वारा रची गई मिथ्या या लिखी गई काल्पनिक कहानी को लोग छोड़ कर भाग जाएं या स्वीकार कर लें। दोनों ही परिस्थितियों में मिथ्यावादी कलम-कसाई अपनी जीत मानते हैं।

कलम-कसाई को सिर्फ तथ्य व प्रमाण से डर लगता है। तो आइए मिथ्यावादी कलम-कसाई को आईना दिखाया जाए–

दुक्ख समुदय अरिय सच्चं

यहां जो सच्चं शब्द देख रहे हैं, इस सच्चं में च्चं संयुक्त होने के बाद च के ऊपर एक बिंदी लगी है। ऐसे पालि भाषा में लिखे हुए जितने भी शब्द मिलेंगे, वैसे शब्दों का उच्चारण करते समय उस बिंदी की जो ध्वनि निकलती है वह संस्कृत और हिंदी भाषा के शब्दों में निकलने वाली ध्वनि से काफी भिन्न होती है। जैसे संस्कृत या हिंदी के शब्दों में जब बिंदी (·) का प्रयोग होता है तो उस बिंदी की ध्वनि स्वरविहीन आधा म या आधा न की ध्वनि के साथ निकलती है। जबकि यही बिंदी अगर पालि भाषा के शब्दों पर प्रयोग की जाती है तो इस बिंदी से निकलने वाली ध्वनि की आवाज अनेक प्रकार की हो जाती है। बिंदी की ध्वनि किस प्रकार की निकलेगी इस बात का फैसला बिंदी के प्रयोग में होने वाले स्थानों पर निर्भर करता है। जैसे पालि भाषा में इस बिंदी का प्रयोग शब्द के अंत वाले वर्ण पर किया जाता है तो इस अवस्था में इस बिंदी की ध्वनि एक निश्चित स्वरूप अं (अङ्ग) की होगी। पालि के वर्णमाला में अं का स्थान स्वर में नहीं होकर व्यंजन में निग्गहीत के रूप में है। जिसका उच्चारण अङ्ग से किया जाता है। ऊपर में एक वाक्य लिखा है **'दुक्ख समुदय अरिय सच्चं'** अब यहां जो सच्चं लिखा है उसका उच्चारण करते समय जो ध्वनि निकलेगी, वह सच्चङ्ग होगी। उसी प्रकार अगर बुद्धं लिखा है तो इसकी भी ध्वनि बुद्धङ्ग होगी। यानी कहने का अर्थ यह है कि पालि भाषा में जितने भी शब्द हैं और उस शब्द के अंत वाले वर्ण पर बिंदी अंकित है उसका उच्चारण करते समय अंत वाली जो ध्वनि होगी वह अकारांत स्वर के साथ अङ्ग पर आकर समाप्त होगी।

वहीं इस बिंदी का दूसरा एक और प्रकार का प्रयोग होता है कि यही बिंदी शब्द के अंत वाले वर्ण के पूर्व से बीच के किसी भी वर्ण पर या प्रारंभ के वर्ण पर जब इसका उपयोग किया जाता है तो इसकी ध्वनि क्या होगी, इस बात की सारी जिम्मेदारी इस बात पर निर्भर करती है कि बिंदी जिस वर्ण के ऊपर प्रयोग हुई है उसके बाद में कौन से वर्ण का उपयोग हुआ है। इसके लिए पालि भाषा में व्यंजन में बना पांच वर्गीय व्यंजन का बहुत ही बड़ा स्थान है, क्योंकि जिस वर्ण के ऊपर बिंदी का प्रयोग हुआ है और उसके बाद पांच वर्गीय व्यंजन में से जिस वर्ग के व्यंजन का प्रयोग हुआ है, वहां बिंदी की ध्वनि भी उसी वर्ग के पांचवें (अंतिम) व्यंजन की ध्वनि स्वरविहीन स्वरूप में होगी। जैसे उदाहरण

हेतु कुछ शब्द लिख रहा हूं– गंगा। अब यहां गंगा शब्द में बिंदी के बाद वाला जो वर्ण है वो वर्ण क वर्ग का है और क वर्ग का पांचवा वर्ण ङ है, जिस कारण इस गंगा का उच्चारण गङ्गा से किया जाएगा। उसी प्रकार किंच का किञ्च, पंच का पञ्च, तिंण का तिण्ण, बंधन का बन्धन, संबोधि का सम्बोधि, पुब्बगंमा का पुब्बगम्मा, कथंच का कथञ्च, निगंठ का निगण्ठ, निब्बिंदति का निब्बिन्दति, सधंम का सधम्म। यहां पर आप ध्यान दिए होंगे कि बिंदी जिस वर्ण के ऊपर है और उसके बाद जिस वर्ण का उपयोग है वहां बिंदी की ध्वनि भी बाद वाले वर्ण के अंतिम वर्ण के स्वरविहीन रूप में निकली है।

उसी प्रकार संस्कारित भाषा संस्कृत या हिंदी में स्वरविहीन र और इ का संयुक्त प्रयोग ऋ वर्णमाला से बनने वाले शब्द का मिलता है, जबकि वह पालि भाषा से बने शब्दों में नहीं मिलेगा। उसकी जगह पर पालि भाषा में स्वरयुक्त वर्ण मिलेगा। जैसे– नृत्य की जगह पर पालि में नच्च, अमृत की जगह पर अमत, कृत की जगह पर कत, कृषि की जगह पर कसि, कृष्ण की जगह पर कण्ह, ऋषि की जगह पर इसि, मृग की जगह पर मिग, कृत्य की जगह पर किच्च, ऋतु की जगह पर उतु जैसे वर्ण का प्रयोग किया जाता है। पुस्तकों के माध्यम से निश्चित लेखन द्वारा कलम-कसाइयों ने कितना घालमेल किया है, इसका अंदाजा आप स्वयं लगा सकते हैं!

अब हम लोग मुख्य विषय पर आते हैं कि सम्यक काल की लिपि का नाम अभिलेखों पर धम्म लिपि लिखित होने के बाद भी अंग्रेजी विद्वानों ने सभी जगह बम्ही लिपि (संस्कारित ब्राह्मी लिपि) क्यों लिखा, जबकि उस लिपि को पढ़ने का कार्य भी अंग्रेजी विद्वानों ही किया। वे लोग तो सम्राट अशोक और सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा लिखी गई लिपि नाम **'धम्म लिपि या धम्म लिबि'** से तो जरूर अवगत रहे होंगे। सही बात है, धम्म लिपि से सभी अंग्रेजी विद्वान अवगत थे, लेकिन सम्यक काल में धर्म का जो अर्थ गुण, स्वभाव, लक्षण था, उस गुण, स्वभाव, लक्षण वाले धर्म का सामंती काल में अपहरण कर लिया गया। बात सिर्फ अपहरण तक ही सीमित नहीं रही, सम्यक काल वाले धर्म का अपहरण करने के बाद कलम-कसाइयों ने उस गुण, स्वभाव, लक्षण वाले धर्म का, आज की भाषा में कहें तो, धर्मांतरण करा दिया है, यानी कलम-कसाइयों ने शब्दकोश में अब पूर्व के धर्म का अर्थ बदल दिया है। जैसे आज के समय में किसी व्यक्ति को पकड़कर जबरदस्ती मुंडन कर उसका

धर्म-परिवर्तन करा दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार सम्यक काल का रूपांतरण और सामंती काल के उदय के बाद से गपोड़ी कलम-कसाइयों ने जबरदस्ती अपनी लेखनी द्वारा शब्दकोश में धर्म का अर्थ गुण, स्वभाव, लक्षण से बदलकर संप्रदाय, मजहब, रिलिजन का पर्यावाची कर दिया। यानी धर्म अब किसी के गुण, स्वभाव, लक्षण को नहीं कह कर किसी के संप्रदाय, किसी के मजहब, किसी के रिलिजन को ही धर्म कहा जाएगा। अब अगर उस लिपि का नाम धर्म लिपि से संबोधित किया जाता है तो निश्चित ही वह लिपि किसी संप्रदाय, मजहब और रिलिजन की लिपि बनकर रह जाती। जबकि यह लिपि अपनी लेखनी वाले गुण से उस समय के पूरे जनमानस को लाभ पहुंचा रही थी। उस वृहद जंबुद्वीप पर यह लिपि अपने श्रेष्ठता वाले स्वभाव को प्रदर्शित कर रही थी, जंबुद्वीप ही नहीं, बल्कि पृथ्वी पर अपने प्रमुखता वाले लक्षण को प्रदर्शित कर रही थी। आज धर्म का वह गुण, लक्षण, स्वभाव बदल गया है इस वजह से अंग्रेजी विद्वानों ने उस लिपि को भारत की प्रथम पठनीय लिपि और श्रेष्ठ लिपि के खिताब से सुशोभित करते हुए नामकरण करना ज्यादा उपयुक्त समझा होगा।

ऐसे भी देखा गया है कि पहला पुत्र, पहली कमाई, पहला आविष्कार, पहली खोज यानी हर वो पहली ज्ञात व लाभकारी वस्तु, विचार, ज्ञान को श्रेष्ठ ही कहा जाता है। फिर यह भारत की प्रथम ज्ञात व पठनीय लिपि का नामकरण भी श्रेष्ठ होना ही चाहिए और उस श्रेष्ठ नाम को पालि भाषा में **बम्ही** कहते हैं।

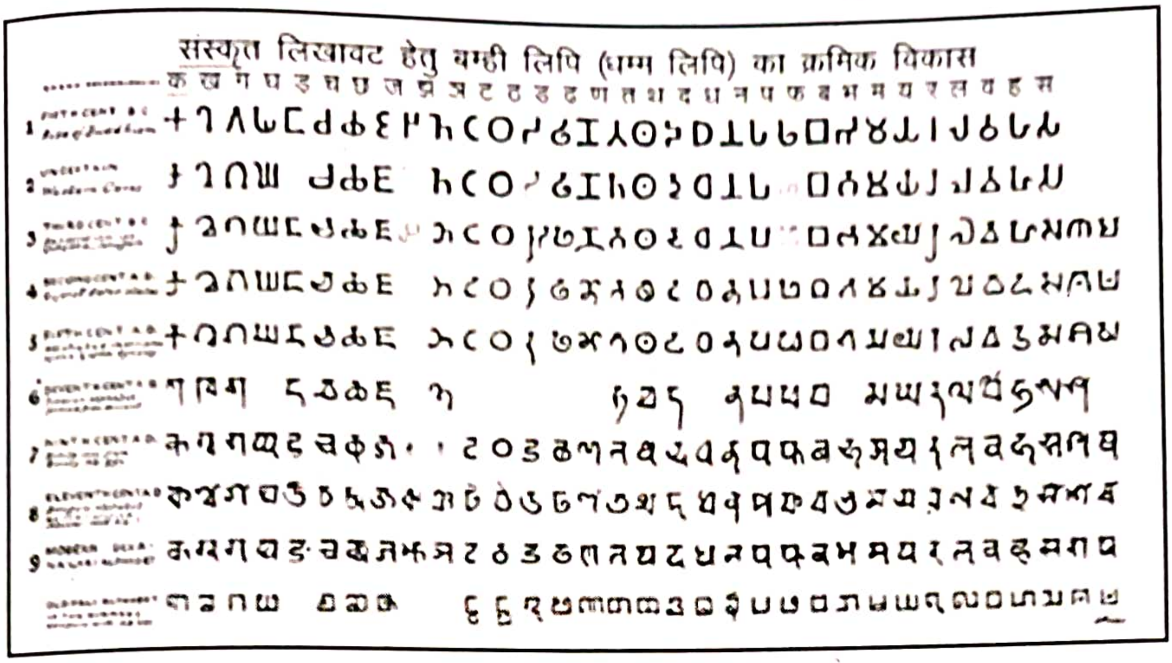
वहीं ब्राह्मण विद्वेषियों का कहना है कि, आज का कलम-कसाई समूह इस बम्ही लिपि के नामकरण के बारे में कहता है कि इस लिपि का निर्माण आज के काल्पनिक पात्र ब्रह्मा ने किया था, इस वजह से इस लिपि का नामकरण ब्राह्मी लिपि है। फिर तो इस पर मैं कहूंगा कि ऐसे तर्कों से सिर्फ विद्वेष की बू आ रही है, क्योंकि ऐसा नाम सिर्फ ब्राह्मणी कलम-कसाइयों ने नहीं, बल्कि अंग्रेजी विद्वानों द्वारा अपने पुस्तकों में सभी जगह लिखा गया है। दूसरी बात यह कि अगर इस लिपि को कलम-कसाई ब्रह्मा (काल्पनिक पात्र) से जोड़कर देखता है या किसी को ब्रह्मा की लिपि कहकर बताता है, फिर तो यह बहुत ही अच्छी बात है। उस कलम-कसाई से भागना नहीं, बल्कि उस कलम-कसाई को घेरना चाहिए और उससे यह प्रश्न करना चाहिए कि यह ज्ञात काल की

लिपि है जिसका जन्म सम्राट बिंबिसार के समय हुआ और उस नन्हीं-सी लिपि का पालन-पोषण भगवान बुद्ध के भिक्खुसंघ ने किया था। आगे वही लिपि सम्राट अशोक के समय हट्टी-कट्टी जवान बन गई और गुप्तकाल में आकर वह बम्ही लिपि परिपक्व होते हुए शिक्षण संस्थानों की प्यारी बन गई, लेकिन इस काल में तुम्हारे उस ब्रह्मा का कोई पता क्यों नहीं चला? क्या वह मिस्टर इंडिया जैसा अदृश्य है!

एक अन्य तथ्य यह भी है कि जब ब्रह्मा ने इस लिपि का आविष्कार कर ही दिया तो उस ब्रह्मा या उसके मानस पुत्र, जो ब्रह्मा के मुख से जन्म लिया था, उन सबों को लिखना भी आता होगा? फिर स्वयं ब्रह्मा या उसके मानस पुत्र ने कहीं भी इस ब्राह्मी लिपि में अपना नाम, अपना जन्मस्थान, अपने पिता-पुत्र का नाम क्यों नहीं लिखा? उस ब्राह्मी लिपि में ब्रह्मा द्वारा लिखी गई या लिखवाई गई कोई भी जानकारी किसी शिला पर मिली क्यों नहीं? ब्रह्मा की बात को थोड़ी देर के लिए किनारे करें, भारतीय ज्ञात काल से लेकर पाल वंश तक के समय में मिथ्या पात्र ब्रह्मा के उत्तराधिकारी कलम-कसाई पुत्रों द्वारा ब्राह्मी लिपि में कोई गपोड़ कथा को लिपिबद्ध क्यों नहीं किया गया? आखिर कैसे माना जाए कि यह ब्रह्मा नाम के एक मिथ्या पात्र द्वारा विकसित लिपि है? वास्तविकता यह है कि इसे **ब्राह्मी लिपि** नहीं, बल्कि **बम्ही लिपि** कहा जाता है।

किसी भी समस्या का हल भागना नहीं होता है, बल्कि उस समस्या का हल उससे जूझने पर निकलता है, तर्क करने पर निकलता है, खोज करने पर निकलता है, पुरातत्व के ज्ञान से निकलता है। काल्पनिक भूत देखे हैं, उस भूत से जितना भागेंगे, उतना ही वह भूत आपको पीछे से पीछा करेगा। ठीक उसी प्रकार ब्राह्मणवादी कलम-कसाई लेखकों द्वारा जितनी भी कथा-कहानी लिखी गई है, यह सब कथा-कहानी भूत के जैसी काल्पनिक है। उससे जितना विद्वेष करोगे या भागते फिरोगे, वह तुम्हें उतना ही डराएगी और भगाएगी। इसलिए कलम-कसाई द्वारा प्रचारित लेखनी से भागें नहीं, बल्कि डटकर मुकाबला करें, जीत हमेशा सच की होती है।

आज के गपोड़ी कलम-कसाई के पूर्वजों ने कहीं पर भी कुछ नहीं लिखा है। जानते हैं क्यों, क्योंकि गपोड़ियों के पूर्वज अज्ञात और काल्पनिक थे। पुरातात्विक रूप से गपोड़ी का उद्भव ही नौवीं शताब्दी बाद से मिलता है।



चित्र संख्या (25)

लेकिन वर्तमान भारत में राजनीतिक सत्ता प्राप्ति हेतु पक्ष या विपक्ष के लोग नित्य नए-नए विकृत और विद्वेषपूर्ण मुद्दों का निर्माण करते रहते हैं और लोगों को उससे भ्रमाते भी रहते हैं। संस्कृत एक संस्कार की हुई भाषा है जिसका संस्कार यानी निर्माण पालि भाषा से हुआ है और नागरी लिपि का क्रमिक विकास भी बम्ही लिपि (धम्म लिपि) से हुआ है। दूसरी बात संस्कृत का अधिकांश शब्द स्वराकांत नहीं होता है, जबकि बम्ही लिपि और पालि भाषा का सभी शब्द स्वराकांत होना अतिआवश्यक होता है। तीसरी बात संस्कृत शब्द की अंतिम ध्वनि स्वरविहीन करने हेतु उसमें हलंत की आवश्यकता होती है जिसका निर्माण बम्ही लिपि में नहीं है। बम्ही लिपि में त्र आकार के बनने वाले वर्ण नहीं हैं। बम्ही लिपि की वर्णमाला में ऋ, अः, ष, श, क्ष, त्र, ज्ञ का उद्‌भव नहीं है जिस वजह से इन सब ध्वनियों का शब्द बम्ही लिपि द्वारा बन ही नहीं सकता है, जबकि संस्कृत में इन्हीं ध्वनियों की प्रधानता सबसे ज्यादा है। जिसकी पूर्ति नागरी लिपि का विशिष्ठ व्यंजन और चिह्न करता है। विश्वगुरु भगवान बुद्ध और विश्व विजेता सम्राट अशोक के समय की बम्ही लिपि (धम्म लिपि) का क्रमिक विकास होते हुए उसमें कुछ वर्ण मात्रा का बढ़ना और उसके वर्ण की आकृति में परिवर्तन होते हुए नागरी लिपि कब और कैसे बनी है, उसको **चित्र संख्या 25** में बने चार्ट को देख कर समझ सकते हैं।

बात यहीं खत्म नहीं होती है। इस पुस्तक में इसके बाद एक अध्याय

मिलेगा "निश्चित एजेंडा के लेखन का प्रभाव।" उस अध्याय में आप देखेंगे कि आज धूर्त वर्ग द्वारा कैसे एक निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करवाया जा रहा है और उस लेखन का प्रभाव वर्तमान समाज पर कितना पड़ रहा है, उस स्थिति को देखकर या अनुभव करके आप भी समझ सकते हैं।



चित्र संख्या (26)

बात उत्खनन से प्राप्त सामग्री की है। अंबाला के पास 1965 ई. में सुध नामक स्थान से मिट्टी का बना खिलौना मिला था। जिसमें एक बैठे हुए बच्चे की मूरत बनी है। वह बच्चा अपने हाथ में लिखने वाली तख्ती (स्लेट) पकड़ रखा है। जिस तख्ती पर बम्ही लिपि की वर्णमाला का स्वर या व्यंजन अंकित है। इस खिलौने के बारे में पुरातत्ववेत्ताओं का कहना है कि यह खिलौना ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व का बना है। वर्तमान में यह खिलौना राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में रखा है। जिसे **चित्र संख्या 26 में देखें।**

अब आज के समय में निश्चित एजेंडा के तहत जितने भी लोग लेखन करने वाले हैं उनमें से कुछ लोगों का लेखन बम्ही लिपि (विकृत नाम ब्राह्मी लिपि) के स्वर-व्यंजन पर निहित है। इन लोगों के अनुसार इस बालक की गोद में जो तख्ती है उस तख्ती पर बम्ही लिपि का स्वर– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः लिखा है। इस अक्षर की गिनती में संख्या बारह होने की वजह से इसे **बारह खड़ी** कहा जाता है। ऐसे ही लेखन को कहते हैं निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करना। इस लेखन का प्रभाव समाज के नवशिक्षित वर्ग पर कितना पड़ेगा, इसका अंदाजा शायद ही किसी को है? आज के नवशिक्षित वर्ग को क्या पता कि पूर्व काल की बम्ही लिपि के स्वर में कितने अक्षर (वर्णमाला) होते थे और आज की संस्कृत-नागरी लिपि में उस अक्षर का बढ़ना कैसे और कब हुआ है या आज भी यथास्थिति बनी हुई है? वर्तमान के हिंदी और संस्कृत भाषा में जो स्वर हैं लोग तो उसे ही पढ़े हैं और उसकी संख्या के बारे में ही उन्हें पता है कि आज वाले स्वर में बारह अक्षर होते हैं। जिस वजह से उसे बारह खड़ी कहा जाता है।

आज उत्खनन में प्राप्त अभिलेखों को पढ़ने वालों की संख्या जैसे-जैसे आम होने लगी है वैसे-वैसे बम्ही लिपि की वर्णमाला की सच्चाई सामने आने लगी है। ईसा पूर्व के जितने भी अभिलेख आज प्राप्त हैं उन सभी अभिलेखों पर स्वर का जो प्रयोग हुआ है उस अनुसार बम्ही लिपि के स्वर में अक्षर की संख्या मात्र आठ है। जो इस प्रकार है— अ, आ, इ, ई', उ, ऊ, ए, ओ। वम्ही लिपि में अं की मात्रा स्वर में नहीं आकर निग्गहीत व्यंजन में आती है। इस अनुसार बम्ही लिपि में स्वर की कुल संख्या आठ ही होती है जिस वजह से इसे आठ खड़ी कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। यानी आज के संस्कृत और हिंदी के स्वर में जो बारह अक्षर हैं, बम्ही लिपि में उससे चार अक्षर कम हैं। यानी बम्ही लिपि के स्वर में जो अक्षर नहीं हैं उन अक्षरों की ध्वनि पालि भाषा में नहीं बनेगी या नहीं निकलेगी, जिसमें सबसे ज्यादा प्रमुख अः अक्षर है। यह अः अक्षर जिस शब्द के अंत में प्रयोग होता है, वहां अपने से पूर्व वाले अक्षर को स्वरविहीन कर देता है। यह स्वरविहीन ध्वनि की पद्धति संस्कृत और हिंदी भाषा की रीढ़ कही जाती है, जबकि पालि भाषा में इसे रीढ़ नहीं बल्कि रोग कहा जाता है, यानी पालि भाषा में इसका कोई स्थान नहीं है। दूसरा मुख्य स्वर ऐ और औ है। इस अक्षर से बनने वाली ध्वनि पालि भाषा में नहीं है जबकि संस्कृत और हिंदी के अंदर इसका बहुतायत में उपयोग होता है।

बम्ही लिपि में जो व्यंजन है वह इस प्रकार है— क, ख, ग, घ, ड., च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, ह।

जबकि आज की संस्कारित भाषा संस्कृत और हिंदी की वर्णमाला में जो व्यंजन है उसमें बम्ही लिपि वाले व्यंजन का पूर्ण समावेश तो है ही, साथ ही भाषा के बढ़ते विकास क्रम के साथ संस्कारित भाषा संस्कृत और हिंदी में कुछ मात्रा का क्रमिक विकास भी हुआ है; जैसे— ष, श, क्ष, त्र, ज्ञ, ऋ, श्र। अब आज की संस्कारित भाषा में जो क्रमिक विकास करते हुए व्यंजन की मात्रा बढ़ी है, उस मात्र से आज कोई ध्वनि का निर्माण होता है, तो वैसी ध्वनि का निर्माण सिर्फ संस्कृत या हिंदी की भाषा में ही हो सकता है। वैसी ध्वनि को बम्ही लिपि और पालि भाषा से जोड़कर दिखाना या देखना एक निश्चित एजेंडा के तहत लेखन का प्रभाव ही कहा जा सकता है। जैसे— ब्राह्मण, ब्रह्मी, क्षत्रिय, शूद्र, ज्ञानी, ऋषि, यज्ञ, श्री इत्यादि।

बाम्हण, समण और सम्राट का अभिलेख

सम्राट अशोक के अधिकांश अभिलेख प्राकृत भाषा और धम्म लिपि (साहित्य नाम ब्राह्मी लिपी) में हैं, केवल दो अभिलेख शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा की लिखावट की लिपि खरोष्ठी है। उपरोक्त अभिलेखों के अतिरिक्त सम्राट अशोक का एक अभिलेख तक्षशिला (पाकिस्तान) से अरामाइक लिपि में मिला है। एक अभिलेख कंधार (अफगानिस्तान) के पास "शरे-कुना" नामक स्थान से यूनानी और अरामाइक लिपियों में लिखा गया द्विभाषी अभिलेख मिला है। एक अन्य अभिलेख काबुल नदी के बाएं किनारे पर जलालाबाद के ऊपर स्थित लघमान नामक स्थान से अरामाइक लिपि में मिला है।

सम्राट अशोक पहला भारतीय राजा था, जिसने अपने अभिलेखों के सहारे सीधे अपनी प्रजा को संबोधित किया। अशोक ने पूर्व से चले आ रहे अनेक संप्रदायों से हटकर एक शील सदाचार युक्त धर्म (धम्म), एक भाषा और प्रायः एक लिपि के सूत्र में सारे देश को बांधकर राजनीतिक और सामाजिक एकता स्थापित की था। आज इतिहास में सम्राट अशोक का नाम उसकी शील-सदाचार युक्त धर्म, शांति, अनाक्रमण और सांस्कृतिक विजय की नीति के लिए अमर है।

महावंश ग्रंथ के अनुसार सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को भी शील-सदाचार युक्त मार्ग के प्रचार हेतु ताम्रपर्णी (आज का नाम सिरीलंका) भेजा था। सम्राट ने अपने लोगों को "जियो और जीने दो" का पाठ पढ़ाया था। सम्राट के प्राप्त अभिलेखों में कहीं भी हिंदू पुरोहित या वैदिक पुरोहित का उल्लेख नहीं है। संपूर्ण प्राचीन विश्व में सम्राट अशोक का साम्राज्य विशालतम साम्राज्य की श्रेणी में आता है। उसकी शासन-व्यवस्था केंद्रीभूत थी। सम्राट अशोक ने मनुष्य के नैतिक उन्नति हेतु जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया था, उन्हें "धम्म या धर्म" का मार्ग कहा गया है।

मौर्य काल के पुरातात्विक साक्ष्यों के अंतर्गत मिले शिलालेखों और मुद्राओं का सर्वाधिक महत्त्व है। ये सभी धातुओं और पत्थरों पर अंकित हैं। अतः इनकी प्रामाणिकता पर तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है। इन पर अंकित जानकारी को बिना हिचकिचाहट के प्रयोग में लाया जा सकता है। अशोक कालीन उपदेशात्मक अभिलेख अपने ढंग के उत्तम उदाहरण हैं। सम्राट अशोक के अभिलेख "धम्म लिपि" के उपदेशात्मक नाम से पुकारे जाते हैं, तो

कुछ अभिलेख प्रशासनिक और कुछ अपने कार्यकाल में विभिन्न संप्रदायों को सम्मान देने के नाम से भी जाने जाते हैं।

सम्राट अशोक के अभिलेख को विस्तार में निम्नलिखिंत नामों से जानते हैं–

1) लघु शिलालेख, 2) भाबरू शिलालेख, 3) कलिंग शिलालेख, 4) वृहद शिलालेख, 5) स्तंभ लेख, 6) लघु स्तंभ लेख, 7) गुफा लेख।

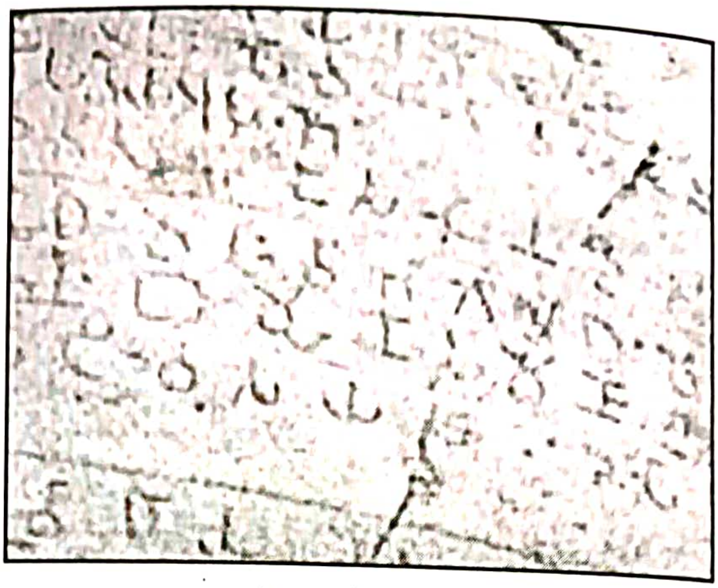
मानसेरा (मानसेहरा) और शाहबाजगढ़ी के शिलालेखों की लिपि खरोष्ठी है, किंतु अन्य सभी अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी है। (खरोष्ठी लिपि दाएं से बाएं लिखी जाती है)

1) लघु शिलालेख में सम्राट अशोक के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास अंकित है। इस अभिलेख के माध्यम से उसने स्वयं को "बुद्ध शाक्य" कहा है। लेख के अनुसार सम्राट अशोक धर्म का मार्ग ग्रहण करने के ढाई वर्ष बाद तक साधारण उपासक था। सोहगौरा (गोरखपुर) तथा महास्थान (बंगलादेश) के लेख में ग्राम स्व-शासन व्यवस्था का उल्लेख है। इसमें अकाल पड़ने पर राज्यकोष से प्रजा को सहायता करने का उल्लेख है। द्वितीय लघु शिलालेख में उसने धर्म (शील, सदाचार) के बारे में संक्षिप्त रूप से बहुत कुछ अंकित किया है।

2) भाबरू शिलालेख राजस्थान के वैराट पर्वत की चोटी पर एक शिलाखंड पर अंकित मिला था। इसमें अशोक को "मगध का सम्राट" कहा गया है। इसमें सम्राट अशोक अपनी जनता को भगवान बुद्ध के मार्ग को जानने के लिए इस अभिलेख के माध्यम से सात पुस्तक पढ़ने की सलाह दे रहे हैं, उन सात पुस्तकों का नाम है– 1) विनय समुकास, 2) अलिय वसानि, 3) अनागत भयानि, 4) मुनि गाथा, 5) मोनेय सुते, 6) उपतिस पसिने, ए चा, 7) लाघुलो वादे मुसावादं अधिगिच्च भगवता बुधेन भासिते।

3) कलिंग के दो अभिलेख में नव-विजित कलिंग राज्य के प्रशासन को चलाने के नियम लिखे गए थे। ये धौली और जौगढ़ में पाए गए हैं।

4) वृहद शिलालेख के प्रथम शिलालेख पर पशुबलि और सांप्रदायिक सामाजिक उत्सवों-समारोहों पर प्रतिबंध का उल्लेख है। द्वितीय शिलालेख पर समाज कल्याण से संबंधित कार्य तथा मनुष्य एवं पशु-चिकित्सा के कार्यों का उल्लेख (धर्म का कार्य) है। तृतीय पर माता-पिता के सम्मान के साथ-साथ हर पांच वर्ष पर प्रजा के बीच में मंत्रिपरिषद और अन्य अधिकारियों के दौरे



चित्र संख्या (27)

पर जाने का निर्देशात्मक उल्लेख है। चतुर्थ अभिलेख के माध्यम से कहा गया है कि धर्म की नीति के द्वारा अनैतिकता और **बाम्हण समणा (𑀩𑀸𑀫𑁆𑀳𑀡 𑀲𑀫𑀡𑀸)** के प्रति निरादर की प्रवृत्ति हिंसा आदि को रोका जाए। **चित्र संख्या 27 में देखें।** अब यहां बाम्हण समणा से जिस समूह का संबोधन हो रहा है, वह भिक्खुसंघ है। इस भिक्खुसंघ के लोग ही राग, द्वेष, मोह का समण करते थे। ये विद्वान भिक्खुसंघ के लोग भगवान गौतम बुद्ध द्वारा बताए गए मार्गों पर चलकर अपने अंदर के विकारों का समण करते थे यानि राग द्वेष का समण करते थे, दबाते थे, अपने अंदर के विकारों को निकालकर भिक्खु का जीवन जीते थे। साथ में गृहस्थों को देसना (Teaching) भी देते थे जिस वजह से सम्राट अपने वृहद अभिलेख के चौथे लेख के माध्यम से उन लोगों को विद्वान भिक्खु (बाम्हण समणा) कहकर संबोधित कर रहे हैं और समग्र जनता से सम्राट आग्रह कर रहे हैं कि विद्वान भिक्खु को माता-पिता के जैसा आदर करें।

लेकिन यहां पर आप लोगों का ध्यान अकृष्ट करना चाहूंगा कि निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करने वाले तथाकथित जितने भी कलम-कसाई लोग हैं, उन्होंने सम्राट अशोक के इस चतुर्थ अभिलेख में लिखित बाम्हणसमण का अनुवाद करते समय इस एक नाम (बाम्हणसमण) को अलग-अलग दो संज्ञा नाम के व्यक्ति करते हुए, उसमें का पहला नाम **बाम्हण** को विकृत कर **ब्राह्मण** कर दिया है, तो वहीं **समण** नाम को भी विकृत कर **श्रमण** कर दिया है। जबकि यहां बाम्हणसमण नाम से दो व्यक्ति संबोधित नहीं हो रहे हैं। ऐसा इसलिए कह रहा हूं कि पालि लेखन के एक वाक्य में जब भी दो या दो से अधिक संज्ञा नाम का उपयोग किया जाता है तो पालि व्याकरण अनुसार उस पंक्ति में प्रत्येक संज्ञा के बाद च का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

जैसे : बुद्धो भूपालस्स **च** अमच्चानं **च** धम्मं देसेस्सति। इसका हिंदी

अनुवाद– बुद्ध राजा को और मंत्रियों को धर्म की देसना (धर्म का उपदेश) देंगे।

गामे कस्सका **च** वाणिजा **च** वेज्जा **च** आचरिया **च** वसन्ति। हिंदी अनुवाद– गांव में किसान, व्यापारी, वैद्य और आचार्य रहते हैं।

अब यहां पर आप लोगों ने पालि के वाक्य को देखा, कैसे दो संज्ञा के बीच में च का प्रयोग किया गया है। ठीक उसी प्रकार सम्राट अशोक के अपने वृहद अभिलेख के चतुर्थ संदेश में "बाम्हणसमण का आदर करने को लिखा है।" यहां बाम्हणसमण एक ही संज्ञा नाम है जिसे आज की भाषा अनुसार अगर अनुवाद करें तो बाम्हणसमण यानी 'विद्वान भिक्खु' होगा। अब यहां एक बात पर और गौर करें कि आज के तथाकथित कलम-कसाई लोग समण का अर्थ आम जनमानस में श्रवण से स्थापित कर दिए हैं, जबकि यह अर्थ किसी भी दृष्टिकोण से उपयुक्त जान नहीं पड़ता है। आप लोग यहां पर ध्यान दें कि समण का कार्य जहां अपने अंदर के राग-द्वेष का खात्मा करना होता है वहीं श्रमण का अर्थ घूमना-फिरना या देशाटन करना, भ्रमण करने से संबंधित है। फिर भिक्खुसंघ से इस अर्थ का क्या संबंध? कहीं-कहीं कलम-कसाई लोग इसी श्रवण का अर्थ श्रम (मेहनत) या श्रवण यानी सुनने से भी करते पाए जाते हैं, जो कि भिक्खुसंघ के लिए उपयुक्त नहीं है। पालि में भ्रमण, श्रम, सुनना जैसे शब्दों हेतु अलग-अलग शब्द का प्रयोग होता है।

पालि के इस समण शब्द का अर्थ नष्ट करना होता है। आज भी हिंदी भाषा में इस शमण शब्द का उपयोग नष्ट करना, शांत करना, बुझाना, दबाना से ही किया जाता है। जैसे– अग्नि-शमण वाहन यानी आग बुझाने की गाड़ी, अग्निशमन यंत्र (Fire Extingusher) यानी आग पर काबू पाने वाली मशीन। समण शब्द का अर्थ आज इतना स्पष्ट होने के बाद भी भ्रमिक वर्ग का तथाकथित कलम-कसाई लेखक अपने कलम से समण को श्रवण, भ्रमण, श्रम जैसे भावार्थों द्वारा लोगों को दिग्भ्रमित करते रहते हैं। जबकि इस समण का प्रयोग त्रिपिटक के खुद्दकनिकाय के धम्मपद में कई बार किया गया है। वहां पर भी समण का अर्थ नष्ट करना, यानी अपने अंदर के विकारों को नष्ट करते हुए भगवान बुद्ध के बताए मार्ग– शील, समाधि, प्रज्ञा पर चलना है। जिसे धम्मपद में उपयोग किए गए सुत्त में देख सकते हैं–

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ *ध.प. 264*

अर्थ : *जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से समण (साधक) नहीं होता, इच्छा-लाभ से भरा हुआ (पुरुष) क्या समण बनेगा?*

यो च समेति पापानि अणुं थूलाति सब्बसो।
समितत्ता हि पापनं समणो'ति पवुच्चति ॥ *ध.प. 265*

अर्थ : *किंतु जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा नष्ट करने वाला है, पापों का शमन करने के कारण ही समण भिक्खु कहा जाता है।*

नोट : *आज भी कुछ जगह पर समण (नष्ट) शब्द का उपयोग पूर्व के रहे भावार्थ के साथ में होता है। जैसे– अग्निशामक यंत्र, अग्निशमन विभाग, अग्निशमन गाड़ी आदि।*

चूंकि इस शिलालेख के अलावा अन्य किसी अभिलेख में ऐसा शब्द नहीं मिला है। अतः इस एक मात्र शब्द के आधार पर बाम्हण को ब्राह्मण जाति के रूप में घोषित कर देना उचित नहीं होगा। उल्लेखनीय है कि ईसा पूर्व में जितने भी ग्रीक लेखक या शासक आए उन्होंने कहीं पर भी ब्राह्मण जाति का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा लगता है कि उस समय आज की जाति-व्यवस्था नहीं थी। बल्कि समाज में कार्य के अनुसार संबोधित किया जाता था। आखिर पूर्वकाल में प्रचलित शब्दों को आज की अपनी मनोनुकूलता अनुसार शब्दों से जोड़कर समाज में इतना ज्यादा भ्रम क्यों फैलाया जा रहा है?

इस बाम्हण शब्द का अर्थ विद्वान होता है, इसकी पुष्टि उस समय के यूनानी यात्री मेगास्थनीज ने भी की है। उन्होंने बाम्हण को यूनानी भाषा में ब्रेचमैन लिखा है, जिसका अर्थ विद्वान ही होता है। वैसे आज के तथाकथित लेखकों द्वारा शब्दों की जो युगलबंदी की गई है वह निश्चित ही कपोल-कल्पित मान्यता है। उस बाम्हण शब्द पर मैं कह सकता हूं कि उससे आज वाला जाति सूचक नाम "ब्राह्मण" कतई नहीं बन सकता है। क्योंकि इस ब्राह्मण जाति को बनने से पहले उस समय के रहे सभी सम्राटों को भी अपने-अपने जाति और वर्ण सूचक संबोधन वाले शब्दों में बंधते हुए दिखना या दिखाना होगा। उस समय के सभी सम्राटों का लिखित अभिलेख आज प्राप्त है, जिसमें सभी सम्राटों ने अपने-अपने कुल-वंश का नाम लिखित साक्ष्य के रूप में लिखकर

छोड़ रखा है, लेकिन आज तक किसी भी सम्राट ने किसी भी अभिलेख में अपने आपको किसी भी जाति या वर्ण से जोड़ते हुए नहीं लिखा है। भारत में जाति की उत्पत्ति प्रामाणिकता के साथ आठवीं शताब्दी के बाद से मिलती है। अब जब लिखने वाला सक्षम शासक वर्ग अपना या अपने पूर्वज की जाति नाम नहीं लिखा है तो फिर भीख मांगकर जीवन-यापन करने वाला गपोड़ी दास अपनी जाति नाम कैसे लिखा होगा, इसका अंदाजा आप स्वयं लगा लें! अधिक जानकारी के लिए "जाति उत्पत्ति का भ्रम जाल" पुस्तक को देख सकते हैं, जो सम्यक प्रकाशन से प्रकाशित पुस्तक है।

नोट : इस "ब्राह्मण" शब्द में ब और र का संयुक्त बनने के ऊपर विस्तार से काफी चर्चा प्रथम पठनीय भाषा की ध्वनि और संस्कृत की ध्वनि वाले अध्याय में दिया हूं, फिर भी कुछ बातों को यहां पर रख रहा हूं। ब्राह्मण शब्द में सबसे प्रमुख बात यह कि आज जिस प्रकार से नागरी लिपि द्वारा बनने वाले शब्द के प्रारंभ से लेकर बीच या अंत तक के व्यंजन में 'र' का संयुक्त प्रयोग होता है उस प्रकार से पूर्व कालीन पालि प्राकृत भाषा में बनने वाले किसी भी शब्द के प्रारंभ से शुरू होते हुए बीच और अंत तक के व्यंजन में 'र' का संयुक्त प्रयोग नहीं होता था। उस समय बहुत आवश्यक होने पर बीच या अंत वाले व्यंजन के साथ एक सामन्य रूप से उसी व्यंजन का संयुक्त उपयोग होता था, लेकिन प्रथम व्यंजन के साथ किसी भी परिस्थिति में 'र' या किसी भी व्यंजन का संयुक्त उपयोग कतई नहीं होता था। इसको आप उदाहरण से समझ सकते हैं—

प्रथम संयुक्त शब्द : प्रिय-पिय, प्रीति-पीति, प्रेम-पेम, क्रोध-कोध, प्रकोप-पकोप, प्रजा-पजा, प्रतीत-पटीच्च, प्रणाम-पणमामि, प्राणी-पाणा, त्रिशरण-तिसरण, ग्राम-गाम, प्रदेश-पदेस।

बीच का संयुक्त शब्द : पराक्रम-परक्कम, निर्वाण-निब्बान, निर्मित-निम्मित, दर्शन-दस्सनं।

अंत का संयुक्त शब्द : धर्म-धम्म, कर्म-कम्म, वर्ग-वग्ग, सर्व-सब्ब, मार्ग-मग्गो, विप्र-विप्प, निग्र-निग्ग, चक्र-चक्क, पुत्र-पुत्त, मित्र-मित्ता, निद्रा-निद्दा, तीब्र-तिब्ब, आराग्र-आरग्ग।

इस प्रकार से पूर्व काल में ब्राह्मण शब्द का निर्माण होने का सवाल ही पैदा

नहीं होता है। यह तो तथाकथित लेखकों द्वारा अपने कपोल-कल्पित विश्लेषण से लोगों को गुमराह करना मात्र है।

पंचम अभिलेख में पहली बार सम्राट अशोक के दसवें शासन वर्ष में **"धम्ममहामात्यों"** की नियुक्ति की चर्चा है। छठे अभिलेख के द्वारा सम्राट अशोक ने कहा है कि राज्य कर्मचारी मुझसे किसी भी समय राज्य प्रजा के कार्य हेतु मिल सकते हैं। सातवें अभिलेख के माध्यम से सम्राट अशोक ने अपने कार्यकाल में सभी संप्रदायों के बीच सहिष्णुता का आह्वान किया है। यह उसकी आखिरी घोषणा है। आठवें अभिलेख में सम्राट अशोक के द्वारा धर्म यात्रियों तथा उसके द्वारा कराया गया सार्वजानिक निर्माण कार्य का वर्णन है। नौवें अभिलेख में सांप्रदायिक उत्सवों की निंदा की गई है और सार्वजनिक नैतिकता पर बल दिया गया है। दसवें अभिलेख में राजा और अधिकारियों को हर क्षण प्रजा के बारे में सोचने का निर्देश है। ग्यारहवें अभिलेख में धर्म नीति की व्याख्या की गई है। बारहवें अभिलेख में संप्रदायों के मध्य सहिष्णुता रखने का निर्देश है। सभी संप्रदायों को सम्मान देने की बात है। तेरहवें अभिलेख में युद्ध के स्थान पर धर्म विजय का आह्वान है। इसी में कलिंग युद्ध का वर्णन है। इसमें दक्षिण भारत के राज्यों का वर्णन है। इसमें उन देशों का नाम भी प्राप्त होता है जहां धर्म प्रचार करने हेतु इन्होंने अपने दूत भेजे थे। इसमें पांच देशों का नाम है जहां इन्होंने अपना दूत भेजा था। सीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, मगा, एपिरस। चौदहवें अभिलेख के माध्यम से सम्राट अशोक ने जनता को धार्मिक जीवन जीने के लिए प्रेरित किया है।

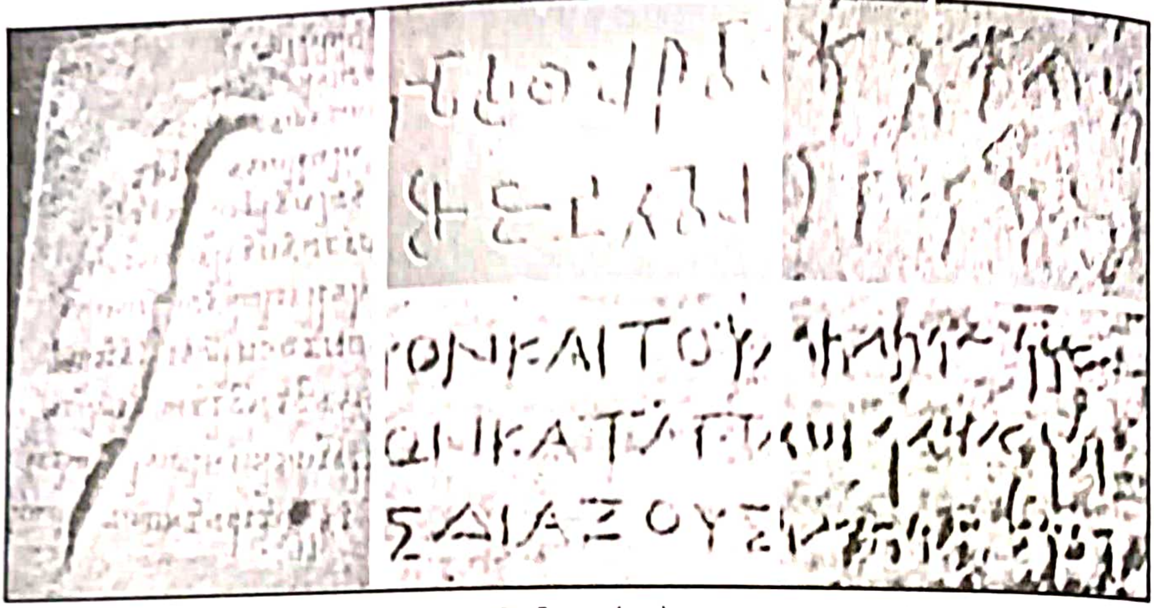
5) स्तंभ लेख में से दो स्तंभ हरियाणा के अंबाला के तोपरा तथा उत्तर प्रदेश के मेरठ में पड़े मिले थे, लेकिन अब ये दोनों दिल्ली में सुरक्षित हैं। तीसरा प्रयाग (इलाहबाद, उत्तर प्रदेश) में संगम तट पर अवस्थित किले में है। चौथा लौरिया नंदनगढ़ (चंपारण, बिहार), पांचवां लौरिया अरेराज (पू. चंपारण, विहार), छठा रमपुरवा (पू. चंपारण, बिहार) में है। लौरिया नंदनगढ़ स्तंभ के शीर्ष पर सिंह बना है तथा उसके नीचे हंसों को मोती चुगते दिखाया गया है। रमपुरवा स्तंभ के ऊपर नटुआ बैल की मूर्ति है। कोल्हुआ (बराबर पहाड़ी गया, बिहार) और वैशाली (बिहार) के स्तंभ पर सिंह की मूर्ति है। संकिसा (उत्तर प्रदेश) के स्तंभ के ऊपर विशाल हाथी की मूर्ति है। सारनाथ (उत्तर प्रदेश) स्तंभ के शीर्ष पर चार सिंह पीठ सटाए बैठे हैं। इन चार शेरों

के पैरों तले 4 पशु (हाथी, बैल, शेर, घोड़ा) बने हैं। इन चार पशुओं के बीच में 24 आरों वाले 4 चक्र अंकित हैं। यह बौद्ध धर्म के प्रतीत्य-समुत्पाद का द्योतक है। इसे भारत के राष्ट्रीय ध्वज में रखा गया है। ये चार सिंह 32 आरों वाला एक चक्र धारण किए हुए हैं। यह चक्र गौतम बुद्ध के 32 महापुरुष लक्षणों का प्रतीक है।

6) लघु स्तंभ लेख सारनाथ, सांची और कौशांबी में पाए गए हैं। सम्राट अशोक की राजकीय घोषणाएं जिन स्तंभों पर लिखी गई हैं उन्हें साधारण तौर से "लघु स्तंभ लेख" कहा जाता है। कौशांबी और प्रयाग के स्तंभों में सम्राट अशोक की रानी कारुवाकी द्वारा दान दिए जाने का उल्लेख है। इसे "रानी का अभिलेख" भी कहा जाता है। सम्राट अशोक के स्तंभ लेख तीन और सात से पता चलता है कि उसने तीन नए अधिकारियों की नियुक्ति की थी, जो आम जनता के बीच जाकर धर्म का प्रचार करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। सम्राट ने यह प्रथा चलाई थी कि हर पदाधिकारीगण प्रति पांचवें वर्ष अपने-अपने क्षेत्रों में दौरे पर जाया करें।

7) गुफा लेख के तहत प्रथम गुफा लेख गया के निकट बराबर की पहाड़ियों में, तो दूसरा नेपाल की तराई रुम्मिनदेई में, तीसरा नेपाल के निगलीवा में तथा चौथा कान्हेरी गुफा बोरीवली महाराष्ट्र में स्थित है। बराबर की पहाड़ियों में स्थित गुफा लेख द्वारा सम्राट अशोक ने "आजीवक संप्रदाय" को पहाड़ी में स्थित गुफा को दान में देने का आदेश दिया है। इससे साफ पता चलता है कि सम्राट अशोक भगवान गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित शील सदाचार युक्त धर्म का पालन करते हुए भी उस समय में रहे सभी संप्रदायवादियों के हितचिंतक थे और सभी संप्रदाय के संस्थापक को सम्मान सहित अपने राज्याधिकार में स्थान देते थे। गिरनार अभिलेख से पता चलता है कि सम्राट अशोक ने अपने साम्राज्य के प्रत्येक भाग में मनुष्य तथा पशुओं के लिए अलग-अलग चिकित्सालयों की स्थापना करवाई थी।

"राज्याभिषेक के 8 वर्ष बाद महामना राजाधिराज अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की थी। इस युद्ध में डेढ़ लाख व्यक्ति कैद किए गए थे और एक लाख व्यक्ति मारे गए थे। इससे कई गुणा लोग अन्य कारणों से मर गए थे। इस युद्ध और विनाश ने सम्राट का हृदय द्रवित कर दिया और पश्चाताप से



अभिलेख (28)

भर दिया था। उसके बाद इन्होंने सबको आदेश दिया था कि सभी प्राणियों पर दया दृष्टि रखें और विचार शुद्ध रखें और यदि ऐसा नहीं करेंगे तो उसका पश्चाताप सम्राट को करना होगा। युद्ध के तुरंत बाद महामना सम्राट ने दया धर्म की शरण ली और युद्ध की जगह धर्म (शील सदाचार वाले आष्टांगिक मार्ग) को अपनाया था।

चित्र संख्या (28) के द्वारा आप लोग सभी प्रकार के अभिलेख और उसकी भाषाओं को देख सकते हैं।

मौर्य काल के समय का एक और लिखित महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिला है, वह साक्ष्य है– विश्वविख्यात यूनान के सम्राट द्वारा भेजे गए दूत द्वारा लिखित पुस्तक। उस दूत का नाम था **"मेगास्थनीज"**। मेगास्थनीज ने सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में 12 वर्षों तक रहकर संपूर्ण भारत की सभ्यता-संस्कृति को अपनी आंखों से देखा था। उस समय के भारत में जो भी मेगास्थनीज को दिखा, उसने उसे निष्पक्ष भाव से अपनी पुस्तक **"इंडिका"** में कलमबद्ध कर दिया था। लेकिन मेगास्थनीज ने कहीं नहीं लिखा कि उस समय के भारत में वैदिक संस्कृति वाली चातुर्वर्ण्य का वर्णागत समाज था। मेगास्थनीज ने उस समय के भारत में कहीं नहीं देखा कि श्रुति-स्मृति के द्वारा वेद बोलने वाले अनुयायी भी हैं। उन्होंने कहीं नहीं देखा कि वेद में उद्धृत किसी देवी-देवता की कोई मूर्ति भी है।

"इंडिका" के मूल अंश को आप लोग भी देख सकते हैं–

मेगास्थनीज (Megasthenes)

मेगास्थनीज यूनानी शासक का राजदूत था जो भारत में 305 ईसा पूर्व में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। वह सेल्यूकस नामक यूनानी सेनापति का दूत था। वह कई वर्षों तक चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहकर भारत की सभ्यता-संस्कृति को देखकर "इंडिका" (INDICA) नामक ग्रंथ लिखा। वस्तुतः इंडिका की मूल प्रति खो चुकी है, लेकिन कुछ यूनानी लेखकों के द्वारा इंडिका में वर्णित तथ्यों का उल्लेख अपनी-अपनी पुस्तकों में किया गया है। उन्हीं पुस्तकों से मेगास्थनीज के द्वारा लिखित तथ्य प्रकाश में आए। 17वीं और 18वीं शताब्दी में इंग्लैंड के विद्वानों ने यूनानी (ग्रीक भाषा में लिखित) पुस्तकों का अंग्रेजी अनुवाद किया, जिसके बाद ही यह सब जानकारी भारत आई। ब्रिटिश शासनकाल में भारत के लोगों ने उसे अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया। साथ ही प्राकृत भाषा में लिखे अभिलेखों को खोजा और अनुवाद किया, इसके बाद ही भारतीय लोगों को चंद्रगुप्त मौर्य और उनके शासनकाल की सही-सही जानकारी प्राप्त हुई। 19वीं शताब्दी से लेकर आज तक भारतीय लेखकगण इसकी व्याख्या अपने-अपने मनोनुकूल करते आ रहे हैं और अपनी बातों को मूल तथ्यों में शामिल कर "मेगास्थनीज" के तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं, जिससे आज भ्रम फैला है।

यहां एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ईस्वी सन् (AD) के पश्चात "एरियन" नामक यूनानी लेखक ने भी एक "इंडिका" (ग्रीक-Ivolkn Indike) नाम से पुस्तक लिखी। परंतु इसमें सिकंदर और उसके सेनापति "नियार्कस" की कहानी है। लेकिन कुछ वर्णन भारत के भौगोलिक व सांस्कृतिक महत्त्व का भी है। एरियन की बातें सुनी-सुनाई गई तथ्यों पर आधारित हैं, जबकि मेगास्थनीज ने भारत में रहकर वस्तुस्थिति को देखने के आधार पर पुस्तक लिखी। इन दोनों पुस्तकों का नाम समान होने की वजह से वास्तविक इंडिका के बारे में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। सामान्य लोग इन सारे तथ्यों को न जानने के कारण बाद की इंडिका को ही असली समझ बैठते हैं। जबकि बाद की इंडिका पुरानी इंडिका के नाम पर और उसी के अंदर लिखी हुई बातों को अपना आधार मानकर लिखी गई थी। एरियन का जीवन काल ईसा बाद 95 ई. से 175 ई. था। एरियन भारत नहीं आया था, बल्कि (एशिया माइनर) भारतीय उपमहाद्वीप

के बाहर में रहा था। उसने सैकड़ों साल पूर्व की घटनाओं को सुनी-सुनाई गई बातों के आधार पर लिखा था। एरियन की इंडिका में वर्णित भारतीय सामाजिक तथ्यों को विश्वसनीय नहीं माना जाता है, परंतु पाकिस्तान और ईरान के बीच समुद्र तटीय इलाकों में रहने वाले तात्कालिक लोगों से संबंधित विवरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों में वह कुछ समय तक रहा था। लेकिन उसमें भी किसी वैदिककालीन व-ॅश्रम पर आधारित समाज का विवरण नहीं मिलता है और न ही जाति में बंटे समाज की चर्चा है।

मूल इंडिका में वर्णित कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य

मेगास्थनीज ने अपने दृष्टिकोण से यहां के समाज को प्रभावित करने वाले वर्ग यानि उनके हैसियत एवं पेशे के हिसाब से (तरलता के साथ बदलने वाला वर्ग) सात भागों में बंटा था– (1) विद्वान वर्ग, (2) खेतिहर वर्ग, (3) पशुपालक वर्ग, (4) कारीगर वर्ग, (5) सैनिक वर्ग, (6) दुकानदार वर्ग, (7) गरीब वर्ग।

मेगास्थनीज ने भारतीय लोगों को पतले, लंबे और हल्के शरीर वाला फुर्तीला बताया है। यहां के सैनिक या योद्धा, खेतिहर या पशुपालक का बहुत सम्मान करते थे, युद्ध के दौरान फसलों और पशुओं को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया जाता था।

यहां विभिन्न पेशागत लोग रहते हैं, वे सभी यहां के मूलनिवासी हैं। यहां पर विदेशी लोगों की कोई बस्ती नहीं है।

यूनानी समाज के विपरीत यहां पर गुलामी प्रथा बिलकुल नहीं है। यहां के सामाजिक नियम के अनुसार सभी लोगों को समान माना जाता है, कोई विशिष्ट वर्ग मौजूद नहीं हैं।

(1) **विद्वान वर्ग (Philosophers)**– किसी भी समाज के लोग विद्वान हो सकते हैं और उस विद्वान वर्ग को सभी लोग प्रतिष्ठा और सम्मान देते हैं।

(2) **खेतिहर वर्ग (Farmers)**– सबसे अधिक जनसंख्या इनकी है।

यह द्वितीय सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग है। इन्हें राजकीय बंधनों से छूट प्राप्त थी। राजा इन पर किसी कार्य के लिए बल प्रयोग नहीं कर सकता था। ये गांवों में रहते थे और किसी कार्यवश शहर आते-जाते थे। ये उपज का चौथा भाग राजकोश में राजस्व के रूप में देते थे।

(3) पशुपालक वर्ग— (पशुपालक व शिकारी) ये गांव के बाहर झोपड़ी बनाकर रहते थे और फसल को नुकसान पहुंचाने वाले पशु-पक्षियों का शिकार करते थे। यह समाज का एक अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग था।

(4) कारीगर वर्ग— ये किसानों की खेती के औजार के साथ-साथ युद्ध के हथियार भी बनाते थे। ये करों से मुक्त थे और इन्हें राज्य से वेतन मिलता था।

(5) सैनिक वर्ग— कृषकों के बाद इनकी संख्या सर्वाधिक थी। इनके पास घोड़े और हाथी होते थे, इन्हें राजा से नियमित वेतन मिलता था।

(6) प्रशासकीय कर्मचारी— सभासद और कर निर्धारक (Councillors and Assesors) ये लोग ऊंचे प्रशासकीय पदों पर नियुक्त होते थे और विभिन्न प्रकार के प्रशासकीय व वित्तीय कार्य करते थे।

नोट— *उस समय का सारा वर्ग तरल था यानी कि कोई भी वर्ग अपने अनुभव और कार्य के आधार पर किसी भी वर्ग में जा सकता था, लेकिन वैदिक संस्कृति में ये सारा वर्ग तरल से ठोस में बदलकर* **'वर्ण'** *(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र) में बदल गया, जो मरणोपरांत भी खत्म नहीं होता है।*

स्रोत : मेगास्थनीज की 'इंडिका' पुस्तक के तथ्यों का उल्लेख डयोडोरस (Dayodoras), सिकूलेस (Sicules), स्ट्राबो (Strabo) भूगोल का लेखक, प्लीनी (Plini) तथा एरियन की 'इंडिका' में मिलता है।

मेगास्थनीज द्वारा वर्णित तथ्यों को J.W. Mccrindle ने एकत्र कर पुस्तक का रूप दिया है।

आज वेद, वैदिक और ब्राह्मणी परंपरा को स्थापित और सत्यापित करने वाले दो लोग हैं—

एक, ब्राह्मण स्वयं है, जो अपने को मौर्य काल या मौर्य काल से पूर्व स्थापित करता है और दूसरे कुछ गैर-ब्राह्मण लोग हैं, जो अपनी अज्ञानता में पड़कर नकारात्मक या सकारात्मक रूप से ब्राह्मणों को मौर्य काल से सत्यापित और स्थापित करते हैं।

जैसे मौर्य राजवंश के अंतिम सम्राट बृहद्रथ मौर्य का सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। पुष्यमित्र शुंग ने स्वयं कहीं नहीं उल्लेख किया कि मैं ब्राह्मण जाति का हूं? क्या शुंग के शासनकाल में कोई ब्राह्मणी ग्रंथ (वेद, पुराण, गीता, रामायण,

महाभारत), ब्राह्मणी मंत्र (संस्कृत में निर्मित श्लोक), ब्राह्मणी यंत्र (ब्राह्मणी परंपरा में प्रचलित देवी-देवता की मूर्ति या मंदिर) जैसा कोई ब्राह्मणी संस्कृति को स्थापित करने वाला साक्ष्य कहीं से मिला है? अगर मिला है तो उस साक्ष्य को आज तक कोई सार्वजनिक रूप से दिखाने हेतु तैयार क्यों नहीं होता है? फिर भी आज के समय में कुछ वैदिक पक्ष-विपक्ष के लेखक एवं उन सभी के अनुयायी लोग शुंग को ब्राह्मण जाति का बताते हैं और उसके काल को वैदिक संस्कृति के उत्थान का काल बताते हैं, यह कितनी बड़ी घालमेल है!

पुष्यमित्र शुंग को ब्राह्मण वर्ग वाले ब्राह्मण जाति से जोड़कर ईसा पूर्व में अपने आपको स्थापित करते हुए सकारात्मक प्रचार करते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि भारत में 850 ईस्वी से पूर्व वर्ण, जाति या वैदिक सभ्यता का कोई ठोस या स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता है। फिर ब्राह्मण जाति के उद्भव को अत्यंत प्राचीन कैसे बताया जाता है?

आइए इसकी सच्चाई को समझें!

सत्ता और संस्कृति का संघर्ष

राजतंत्र में सत्ता प्राप्ति हेतु **सत्ता का संघर्ष** होता है और किसी भी स्थान, क्षेत्र या देश में सांस्कृतिक बदलाव हेतु **संस्कृति का संघर्ष** होता है। इस बात पर सभी लोगों को विशेष ध्यान देना चाहिए। भारत में पुरातात्विक उत्खनन से जो भी साक्ष्य अभी तक मिले हैं, वह सभी साक्ष्य सम्यक संस्कृति के पक्ष में ही हैं, उसके अलावा अन्य किसी भी संस्कृति का कोई साक्ष्य नहीं मिला है।

बात सत्ता की है तो सत्ता कौन नहीं पाना चाहता है! हर कोई चाहता है कि सत्ता मुझे मिल जाए और मैं उस सत्ता का संचालक बन जाऊं। लेकिन उसके लिए बल और बुद्धि दोनों का होना आवश्यक होता है। ऐसे किसी को सत्ता नहीं मिलती है। जैसे ही किसी सत्ताधारी वंश या सत्ताधारी दल के शासक में बल और बुद्धि का ह्रास होता है वैसे ही उसका प्रतिद्वंदी उसके सत्ता पर हमलावर हो जाता है। इसलिए राजतंत्र हो या लोकतंत्र, दोनों परिस्थितियों में सत्ता और संघर्ष का अन्योनाश्रय संबंध से तुलना की जाती है। बस अंतर इतना है कि राजतंत्र में सत्ता का हस्तांतरण शारीरिक युद्ध (हत्या) द्वारा होता है और लोकतंत्र में सत्ता का हस्तांतरण चुनावी युद्ध (वोट) द्वारा होता है।

बात सम्यक संस्कृति की चल रही है। इस संस्कृति में सत्ता हस्तांतरण हेतु कई संघर्षों का साक्ष्य मिलता है। इन सब सत्ता संघर्षों में जो प्रमाण मिलता है उन सब प्रमाणों में पिता-पुत्र के साथ संघर्ष का मिलता है, भाई-भाई के साथ संघर्ष का मिलता है, पड़ोसी राजा के साथ संघर्ष का मिलता है और राजा-अमात्य के साथ भी संघर्ष मिलता है। इसलिए जिस काल में राजतंत्र रहा है या जिस स्थान पर आज भी राजतंत्र है वहां सत्ता प्राप्ति हेतु शारीरिक संघर्ष होना स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जाती है। यह कोई नई बात नहीं है। सम्यक काल की ज्ञात सभ्यता सम्राट बिंबिसार (हर्यक वंश) से शुरू होती है, जो सत्ता संघर्ष के बाद क्रमशः नाग वंश, नंद वंश, मौर्य वंश, सातवाहन वंश, शक वंश, शुंग वंश (सम्राट अशोक के बाद सातवाहन, यवन और शुंग वंश का उदय होता है।), कण्व वंश, पहलव वंश, कुषाण वंश, गुप्त वंश, हुण वंश, वर्द्धन वंश, पाल वंश जैसे राज घरानों पर हस्तांतरित होती गई है। इन सबों के सत्ता का बदलाव आपसी प्यार-मुहब्बत से, या पूर्व के शासक द्वारा स्वेच्छा से या किसी दूसरे राजवंशीय शासक को अपना उत्तराधिकारी बनाते हुए सत्ता को हस्तांतरित नहीं किया गया था। इन सभी लोगों की सत्ता आपसी द्वंद्व (घात-प्रतिघात द्वारा हत्या) के बाद ही बदली थी। इन सबों में ऐसा कोई वंश का नाम नहीं है कि जिनकी सत्ता स्वतः बदल गई हो।

परंतु बात यहां शुंग वंश के समय संस्कृति बदलने की कि जाती है। यानी सम्यक काल में सत्ता संघर्ष के साथ-साथ संस्कृति संघर्ष की भी बात आ जाती है। फिर तो यहां ध्यान देना होगा कि जब इन दोनों में सत्ता संघर्ष हो रहा था, तो ये दोनों निश्चित ही दो सांस्कृतिक परिवेश के रहे होंगे। तभी तो एक के जाने के बाद जब दूसरा आता है तो पूर्व की संस्कृति को बदल देता है। पूर्व की विरासत को नष्ट करने लगता है या नष्ट कर देता है और उस स्थान पर वर्तमान का अनुयायी अपने मतों के अनुसार नए आराध्य स्थल का निर्माण कराने लगता है या करा देता है। लोग ऐसी घटना को ही सत्ता और संस्कृति दोनों का संघर्ष कहते हैं। इन सब बातों की चर्चा भारत की शैक्षणिक पुस्तकों में तो कहीं नहीं मिलता है, लेकिन आज की सामाजिक चर्चा में या सोशल मीडिया पर और अन्य साहित्यिक पुस्तकों में लोग दबे स्वर से चर्चा करते हैं।

हम लोग बात कर रहे हैं कि सम्यक काल में मौर्य वंश की सत्ता बदलने के बाद शुंग वंश ने पूर्व की संस्कृति को बदल दिया था, कुचल दिया था। इसी बात

का फायदा आज का धूर्त वर्ग ले रहा है और इसी बात का लाभ आज के राजनीतिज्ञ लोग भी ले रहे हैं। नुकसान तो सिर्फ भारत की सच्ची विरासत को हो रहा है। आज सभी लोगों को पता है कि सत्ता का हस्तांतरण जैसे ही होता है तो उसका प्रमाण पुस्तकों के साथ-साथ पुरातात्विक रूप से भी दिखने लगता है। उसी प्रकार जब संस्कृति की अदला-बदली होती है तो उसका भी निशान व पहचान पुस्तकों के अलावा पुरातत्व पर भी दिखने लगता है। जैसे– बामियान।

फिर जब सत्ता के साथ संस्कृति का बदलाव शुंग ने किया था, तो उसने अपने कार्यकाल में कौन-से ब्राह्मणी मंदिर का निर्माण किया? कौन-से ब्राह्मणी ग्रंथ का लेखन करवाया? कौन-सा ब्राह्मणी स्थल या कौन-सी ब्राह्मणी देवी-देवता की मूर्तियों का निर्माण कराया था? इसका भी तो पुरातात्विक प्रमाण मिलना चाहिए था। लेकिन पुरातत्व के नाम पर सिर्फ सम्यक काल की ही सभ्यता मिली है।

आखिर ऐसा क्यों?

निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करने वाले कुछ लोग सिर्फ कागज की नाव बनाकर बैतरनी (समुद्र) पार करना चाहते हैं, जबकि ऐसा कभी हुआ नहीं है। वास्तविकता को नाव (पुरातत्व) बनाए, तभी उस नाव पर बैठकर समुद्र को पार कर पाएंगे।

पुरातात्विक प्रमाणों की बात यहीं पर आकर खत्म नहीं होती है। आज के समय एक निश्चित एजेंडा के तहत लेखन हो रहा है, जिसके बारे में पूरा एक अध्याय ही इस पुस्तक में दे रहा हूं। कैसे आज निश्चित एजेंडे के तहत लेखन का प्रयोग शैक्षणिक क्षेत्रों के साथ-साथ दैनिक समाचार वाले टी.वी. चैनल या अखबार के साथ-साथ सोशल मीडिया पर जबरदस्त तरीके से प्रसारित किया जा रहा है। अब जब प्रसारित किया जा रहा है तो इसका प्रभाव भी तो जनता पर पड़ना स्वाभाविक ही है। आज उसी का परिणाम है कि एक निश्चित लेखनी द्वारा ईसा से 1500 वर्ष पूर्व में वैदिक युग, ईसा से 185 वर्ष पूर्व में ब्राह्मणी युग और ईसा बाद चौथी शताब्दी में ब्राह्मणी कल्कि अवतार को स्थापित करने का कुचक्र चल रहा है। जबकि वैदिक युग का, ब्राह्मणी युग का और कल्कि युग का कोई भी पुरातात्विक प्रमाण पठनीय स्वरूप में आज तक नहीं मिला है।

जब शुंग के पूर्व सभी शासक बौद्ध और शुंग के बाद में भी जितने शासक हुए, वे सारे बौद्ध और प्राकृतिक गुण-धर्म स्वभाव के अनुयायी थे, तो फिर ये इकलौता शुंग ब्राह्मण और वैदिक अनुयायी कैसे हो सकता है?

फिर आज पुष्यमित्र शुंग को लेकर कैसे कहा जा सकता है कि मौर्य काल में भी वैदिक सभ्यता और संस्कृति थी?

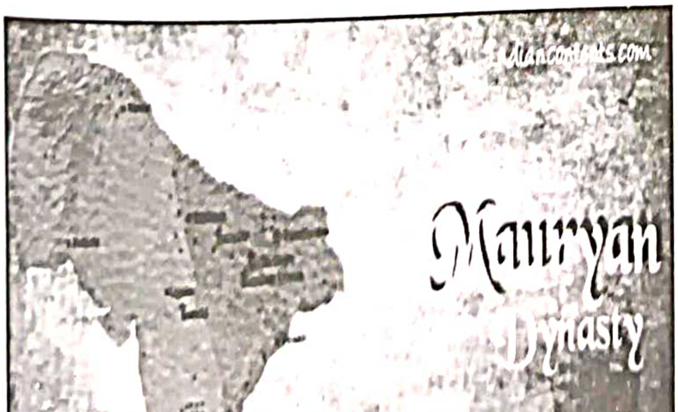
क्या उस समय भारत में जातियों की उत्पत्ति हो गई थी?

अगर जातियों की उत्पत्ति हो गई थी तो फिर किसी भी सम्राट के अभिलेखों पर किसी जाति का नाम लिखा हुआ क्यों नहीं मिलता है?

सवाल बहुत हैं, लेकिन एक भी प्रश्न का साक्ष्यजनक जवाब देने वाला कोई नहीं है।

पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मण होने की कहानी सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में आज काफी प्रचारित की जाती है। जबकि शुंग (पालि में सुग) के बाद हिंद बैक्टरियाई (यूनानी) विदेशी शासक मध्य भारत आए थे और बाद में वे सभी बौद्ध बन गए। आखिर ये करिश्मा कैसे हो गया?

इतना ही नहीं, इन हिंद बैक्टरियाई शासकों में सम्राट अशोक के बाद मिनांडर और सम्राट कनिष्क ऐसे शासक हुए थे जिन्होंने बौद्ध संस्कृति को सबसे ज्यादा प्रचारित-प्रसारित करने का काम किया।

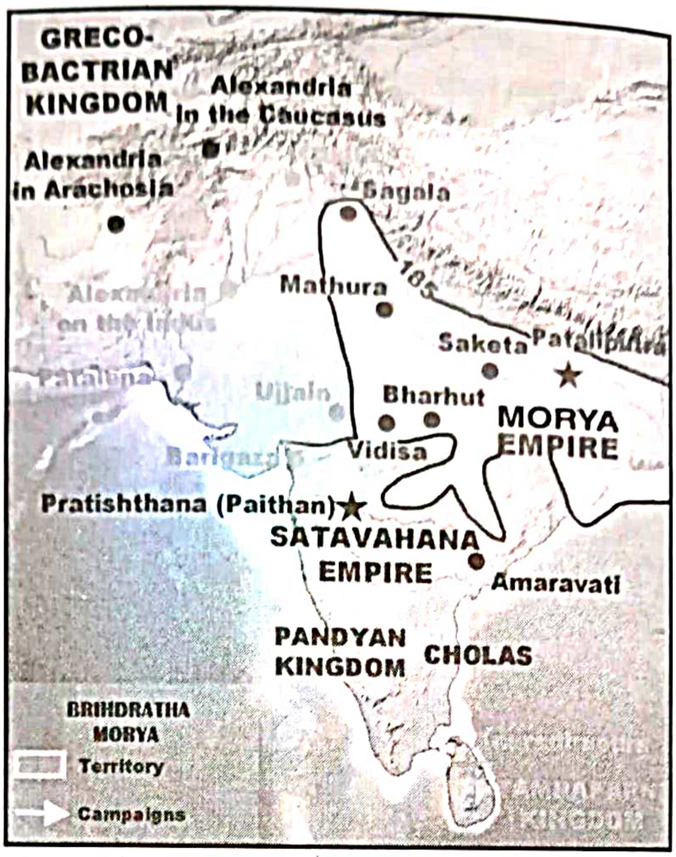


सम्राट का क्षेत्र (29)

पुष्यमित्र शुंग की कहानी यह है कि यह शुंग अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ मौर्य के दरबार में सेनापति का कार्य करता था, लेकिन उसने बृहद्रथ की हत्या करते हुए मौर्य साम्राज्य को अपने अधीन कर लिया और मौर्य वंश को समाप्त कर दिया। अब आपको देखना है कि ऐसा क्यों हुआ?

वस्तुस्थिति कुछ और ही कहानी की ओर इशारा करती है। मौर्य वंश के सम्राट अशोक के वृहत क्षेत्रों वाले साम्राज्य का स्वरूप और शक्ति सम्राट बृहद्रथ के

समय नहीं बची थी। देखें सम्राट अशोक के विशाल राज्य क्षेत्र का भारत, **चित्र संख्या** (29)। लेकिन् आज लोगों के दिलोदिमाग में बैठा हुआ है कि सम्राट बृहद्रथ भी पूर्व के सभी मौर्य सम्राटों खाश कर चक्रवर्ती सम्राट अशोक के जैसा शौर्यशाली, बलशाली, और गुणशाली था। जबकि सच्चाई यह है कि सम्राट अशोक की मृत्यु के बाद ही उनके उत्तराधिकारी शासक कुणाल मौर्य से राज्य की सीमा का ह्रास होना शुरू हो गया था। अंतिम शासक बृहद्रथ मौर्य के समय तो पूर्व के सभी मौर्य सम्राटों के जैसा न ही शौर्य था और न ही गुण-स्वभाव, जिस वजह से बृहद्रथ मौर्य की राज्य सीमा सम्राट अशोक के साम्राज्य की लगभग चौथाई भाग के आस-पास ही बचकर रह गई थी। जिस वजह से बृहद्रथ मौर्य के पूर्व समय से ही दक्षिण भारत के अधिकांश क्षेत्रों में सातवाहन वंश का साम्राज्य स्थापित हो गया था और पश्चिम में कुरू जनपद (पंजाब और दिल्ली) तक हिंद बैक्ट्रियाई शासकों का राज्य विस्तार हो गया था। इस बात की पुष्टि सातवाहन और हिंद बैक्ट्रियाई के कार्यकाल को जानकर कोई भी कर सकता है।



चित्र संख्या (30)

ऐसे सातवाहन, हिंद बैक्ट्रियाई और बृहद्रथ मौर्य के राजक्षेत्र का मानचित्र **चित्र संख्या** (30) **में** दे रहा हूं, जिसे देख सकते हैं। उस मानचित्र में जो गहरे रंग का भाग है उसी गहरे रंग वाले भाग पर की सत्ता मौर्य शासक के पास बची थी। यानि बृहद्रथ मौर्य की शक्ति पूर्व के मौर्य शासकों से बहुत ही कम हो गई थी। वस्तुतः वह एक कमजोर शासक बन गया था और इसी का फायदा उठाते हुए इनके सेनापति शुंग (पालि में सुग) ने इनकी हत्या करते हुए सत्ता को अपने कब्जे में कर लिया था। इस प्रकार से राजतंत्र में एक-दूसरे की सत्ता को हथियाने के अनेक षड्यंत्र और हत्या की कई कहानियां इतिहास

में मौजूद हैं। लेकिन आज के कुछ स्वार्थी लेखकों ने ब्राह्मण जाति की महत्ता को पूर्वकाल में स्थापित करने हेतु तारतम्य युक्त पटकथा लिखने का कार्य किया है। जिस पटकथा में आज के बहुत से लोग इस हत्या को राजनीतिक रूप से सांस्कृतिक हत्या कहते हुए, इस माध्यम से जाति व वर्ण का उदय और ब्राह्मणी व्यवस्था को स्थापित करते हुए प्रचारित और प्रसारित करते हैं, जिसको आज का भोला-भाला समाज भी सत्यापित करने पर तुला हुआ है।

अगर सही में आप लोगों को पुष्यमित्र ब्राह्मण वर्ण का प्रतीत होता है तो उस पुष्यमित्र शुंग के द्वारा कही या किसी अभिलेख में ब्राह्मण होने का कोई लिखित साक्ष्य मिला है क्या?

पुष्यमित्र शुंग के काल में कोई वेद या वैदिक मंत्रों वाली संस्कृत भाषा का कोई साक्ष्य मिला भी तो नहीं है, फिर आज इतनी हाय-तौबा किस आधार पर हो रही है?

पुष्यमित्र शुंग के काल के बारे में कई लेखकों का मत है कि पुष्यमित्र ने अपने काल में पाणिनि और पातंजलि द्वारा संस्कृत में रामायण की रचना करवाई थी।

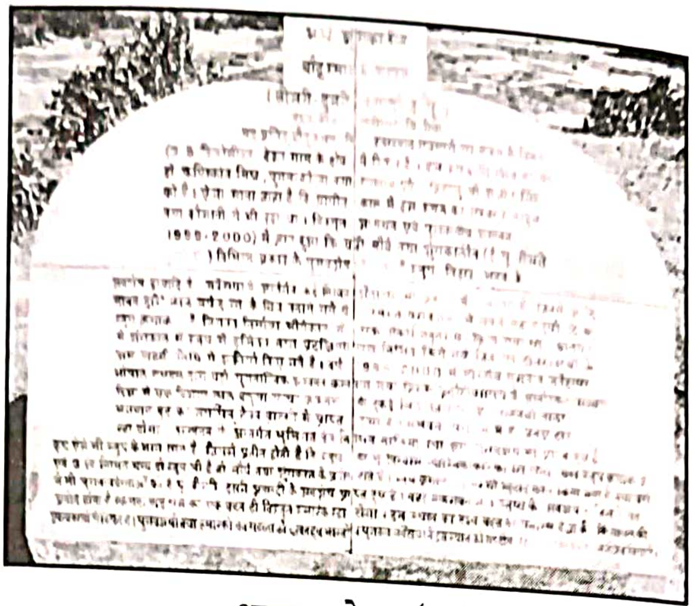
लेकिन आज कोई भी शुंग काल की संस्कृत में लिखी हुई उस रामायण को साक्ष्य स्वरूप दिखाने को तैयार नहीं है! आखिर क्यों?

जबकि साक्ष्य के तौर पर चीनी साहित्य में मिलता है कि पुष्यमित्र शुंग द्वारा सारनाथ स्तूप के मरम्मत का कार्य किया गया था।

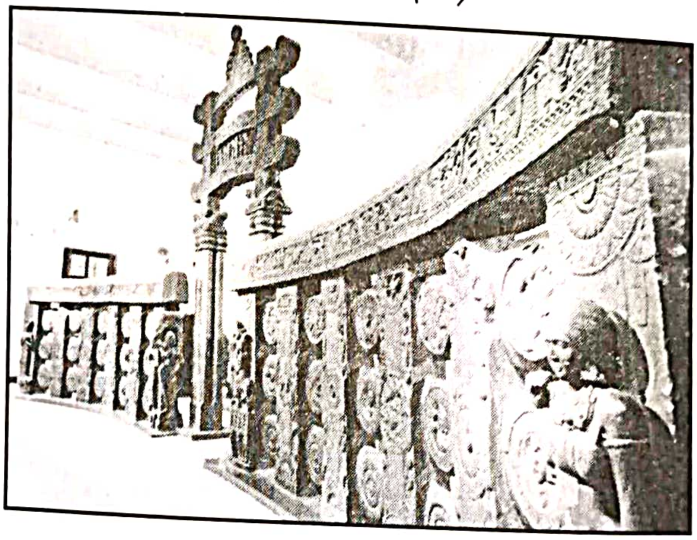
पुष्यमित्र शुंग द्वारा लिखित कई साक्ष्य आज के संग्रहालय की शोभा बढ़ा रहे हैं, आप उनमें से एक भी प्रमाण बताएं जिससे यह साबित हो कि पुष्यमित्र ने स्वयं या किसी के द्वारा भी वेद या वैदिक (नागरी) लिपि में वैदिक ग्रंथों की रचना करवाई थी या उस समय वेद या वैदिक व्यवस्था में चातुर्वर्णागत समाज मौजूद था?

पुष्यमित्र शुंग भारत के बहुत ही छोटे से भू-भाग का सम्राट बना था। ऐसे लोग अनुमान लगाते हैं कि शुंग ने जब मौर्य की सत्ता प्राप्त की थी, इस वजह से उसने अपना राजधानी पाटलिपुत्र को ही बनाया होगा, लेकिन आज तक पाटलिपुत्र की धरती से मौर्य को छोड़कर किसी के राजमहल (प्रासाद) का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। इस वजह से शुंग का किला यहां खोजना बेमानी लगता

है। शुंग का किला मध्यप्रदेश में सतना के पास भरहुत से मिला है। इस वजह से कहा जाता है कि शुंग ने अपनी राजधानी पूर्वकाल का जनपद विदिशा को बनाया था। विदिशा के आस-पास आज खुदाई में शुंग का काफी साक्ष्य मिलता है, जिसको आज कोई भी देख सकता है। उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य की वजह से उत्खननकर्ता ने मध्यप्रदेश में अवस्थित भरहुत स्तूप और देवकोठार जैसे स्थान पर शिलापट्ट लगाया है। जिसको आप **चित्र संख्या (31) में** देख सकते हैं। ईसा पूर्व में शानदार बुद्ध स्तूप जो भरहुत मध्यप्रदेश में बनाया गया था, इसके निर्माण का शिलालेख भी यहां से मिलता है। इसके निर्माण के बाद इसके रखरखाव का कार्य पुष्यमित्र के जीवन के अंतिम वर्षों में शुरू किया गया था, जिसे उसके पुत्र और पौत्रों ने पूरा किया था। भरहुत के बौद्ध स्तूप की खुदाई से मार्गदाता गौतम बुद्ध और उनसे जुड़े कई साक्ष्य मिले हैं जो कलकत्ता के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं, जिसको आप भी जाकर देख सकते हैं। **देखें चित्र संख्या नं. (32) में।**

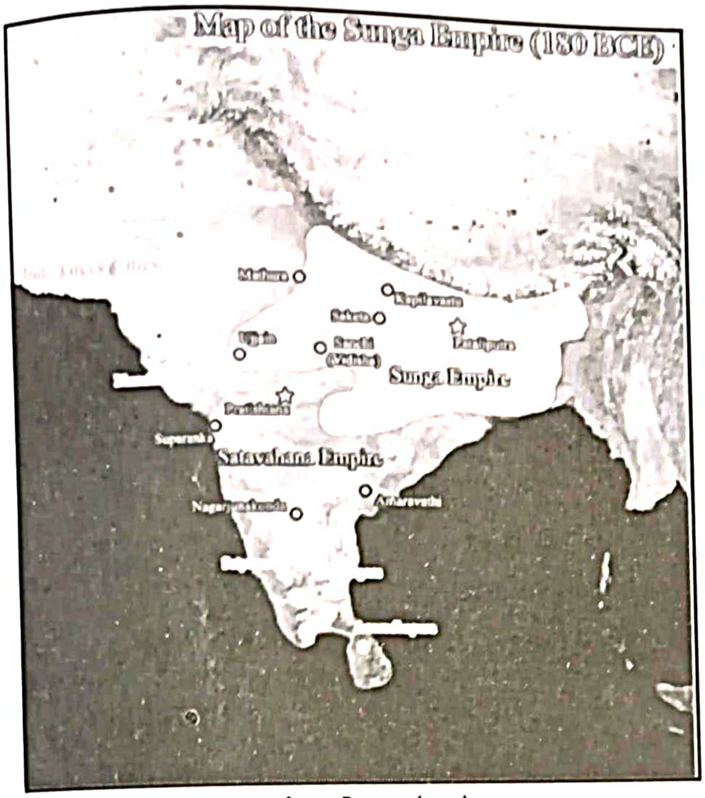


भरहुत लेख (31)



भरहुत गैलरी (32)

आज के कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि पुष्यमित्र शुंग द्वारा बौद्ध भिक्खुओं की हत्या की गई थी। इसके बारे में लोगों को समझना होगा। राजा बृहद्रथ के समय इनका जो क्षेत्र था वह मगध, अंग, बंग, कलिंग, वज्ज, कासी, कोसल, वत्स, मल्ल, चेदि जनपद ही बचा था, पश्चिमी भाग का जनपद कुरु, गांधार से पश्चिम का इलाका इनके हाथ से निकलकर यवन



शुंग क्षेत्र (33)

शासक के पास चला गया था। इस समय वृहद्रथ और यवन के वीच सुरसेन जनपद के लिए युद्ध चल रहा रहा था। वस्तुतः आज का मथुरा और उसके नीचे का भू-भाग वृहद्रथ मौर्य के अधीन था, लेकिन उन क्षेत्रों पर जैसे ही हिंद वैक्ट्रियाई शासक आक्रमण करते हुए उस पर अपना कब्जा करता है उसी समय पुष्यमित्र शुंग ने भी बृहद्रथ की अक्षमता की वजह से इनकी सत्ता को अपने कब्जे में कर लेता है। उसके बाद पुष्यमित्र शुंग और हिंद बैक्ट्रियाई में युद्ध होता है। जिसमें मथुरा और मथुरा के नीच वाले भागों में रहने वाले अधिकांश भिक्खु हिंद बैक्ट्रियाई सेना का समर्थन करते हैं और मथुरा के ऊपरी भागों में रहने वाले भिक्खु शुंग का समर्थन करते हैं। अब इस परिस्थिति में जब दोनों ओर शासकों के अनुयायी बौद्ध भिक्खु हैं और दोनों में युद्ध होता है तो निश्चित ही उस युद्ध में बौद्ध भिक्खु का मरना स्वाभाविक है।

अंततः मथुरा और मथुरा के नीचे वाला भू-भाग भी पुष्यमित्र शुंग के हाथों से निकलकर यवन शासक के पास चला जाता है। जबकि पुष्यमित्र शुंग द्वारा भारत के अन्य किसी भी क्षेत्रों से बौद्ध भिक्खु की हत्या जैसी घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता है। पुष्यमित्र शुंग का कार्यकाल ई.पू. 185 से ई.पू. 73 ईस्वी तक और राजक्षेत्र मगध, अंग, बंग, वज्ज, विदिसा, कासी, कोसल, वत्स, मल्ल जनपद पर रहा था। जिस जनपद में भगवान बुद्ध का जन्मस्थान (लुंबिनी), ज्ञान प्राप्ति स्थान (बोधगया), महापरिनिर्वाण स्थान (कुशीनगर), धर्मचक्रप्रवर्त्तन स्थान (सारनाथ), विश्वविख्यात शिक्षण संस्थान नालंदा, पहली संगीति स्थान राजगीर, दूसरी संगीति स्थान वैशाली के साथ-साथ सम्राट अशोक द्वारा स्थापित अनेक स्तूप और स्तंभ था, जिसमें तनिक भी खरोंच नहीं आई थी। इसके साथ ही न जाने ऐसे कई अन्य प्रमुख स्थान भी थे, जो सभी

स्थान सम्यक काल के अराध्य स्थान होने के साथ-साथ इन स्थानों पर अनगिनत बौद्ध भिक्खु का रहना भी होता था। लेकिन शुंग वंश के 112 वर्षों के कार्यकाल में कहीं से भी कोई अप्रिय घटना घटने का पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिला है। ठीक इसके विपरीत सारनाथ, भरहुत, सांची से शुंगकालीन मरम्मत करवाने का लिखित अभिलेख मिला है। आप लोग शुंग शासन का मानचित्र **चित्र संख्या (33) मे देखें**। उसमें गहरे रंग वाला क्षेत्र शुंग का है। आज पुष्यमित्र शुंग के बारे में जो दर्शाया जाता है, उन हत्याओं का कारण सांस्कृतिक न होकर राजनीतिक था, जिसे केवल एक विशेष क्षेत्र की सत्ता हेतु युद्ध कह सकते हैं।

ये सब प्रमाण कहते हैं कि शुंग भी एक बुद्धिस्ट था न की ब्राह्मण। आज तक शुंग का जो भी साक्ष्य प्राप्त हुआ है उससे पता चलता है कि शुंग के वंशज बौद्ध थे। पुष्यमित्र शुंग द्वारा बनाए गए बुद्ध स्तूप मिलते हैं, कुछ स्तूपों की मरम्मत का विवरण भी मिलता है, परंतु शुंग के द्वारा निर्मित एक भी मंदिर या काल्पनिक देवी-देवता का साक्ष्य क्यों नहीं मिलता है?

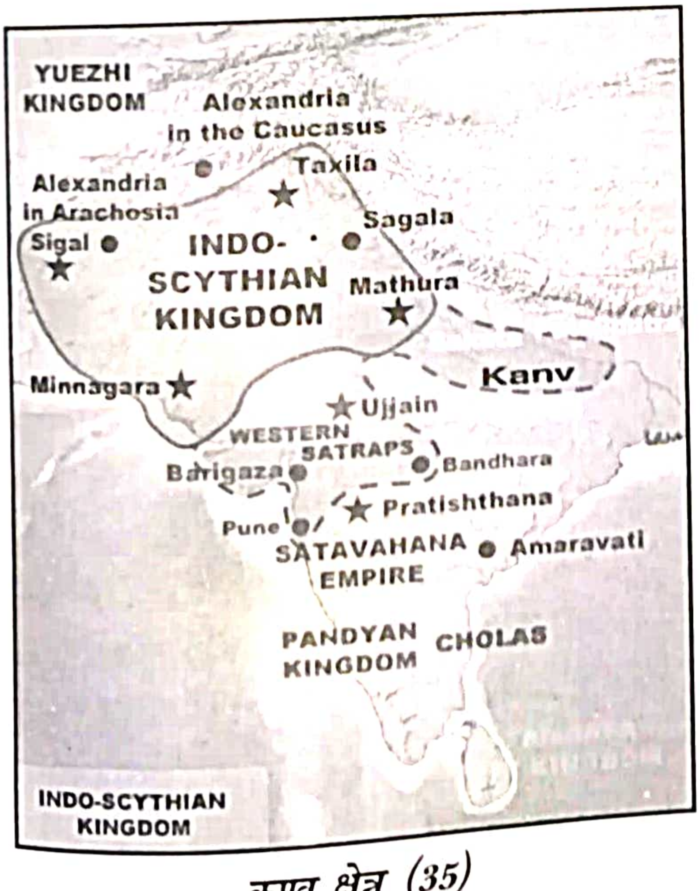
आज तक किसी ने भी शुंग के ब्राह्मण होने का साक्ष्य नहीं दिया है, बस एक ही बात बृहद्रथ की हत्या या बौद्ध भिक्खुओं की हत्या!

शुंग को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से ब्राह्मण कहने वाले जो भी सज्जन हैं वे सभी लोग शुंग काल में कोई ब्राह्मणी ग्रंथ, ब्राह्मणी मंत्र, ब्राह्मणी यंत्र जैसी परंपरा की शुरुआत का साक्ष्य प्रस्तुत करें, अन्यथा नकारात्मक रूप से ब्राह्मणों को ईसा पूर्व में स्थापित करने का काम करना छोड़ दें, क्योंकि जाति और वर्ण-व्यवस्था का साक्ष्य मिलना ही सातवीं से आठवीं शताब्दी के बाद से शुरू होता है।

मध्यप्रदेश में ही सम्राट अशोक द्वारा निर्मित सांची का स्तूप मिला है। इस स्तूप की खुदाई में पुष्यमित्र शुंग का लिखित साक्ष्य मिला है कि पुष्यमित्र के कार्यकाल में यह स्तूप कमजोर अवस्था में पहुंच गया था, जिसकी वजह से शुंग ने सांची स्तूप का पुनरुद्धार और स्तूप को सुंदरतम रूप देने का प्रयास करते हुए उसके बाहरी दरवाजे का निर्माण कराया था, जिसे आज भी आप लोग जाकर देख सकते हैं या **चित्र संख्या (34) में देखें**। इन सभी बातों को आज आप दबा नहीं सकते हैं, बल्कि किताबों के माध्यम से उत्खनन में प्राप्त



सांची स्तूप (34)



कण्व क्षेत्र (35)

पुष्यमित्र द्वारा लिखित अभिलेख को आज सभी को दिखा सकते हैं।

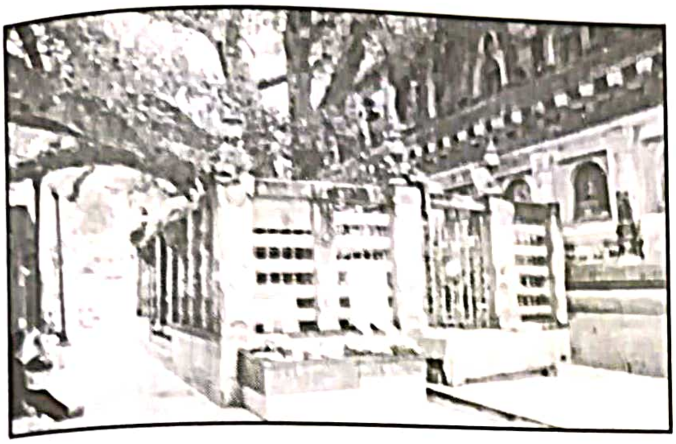
संपूर्ण भारत में मौर्य शासन के खात्मे के बाद सिर्फ उत्तर भारत में शुंग वंश का उदय हुआ था। जबकि पश्चिम भारत में मध्य एशिया के शासक और दक्षिण भारत में सातवाहन वंश का उदय हुआ था। परंतु उत्खनन द्वारा उस सातवाहन कार्यकाल का भी काफी साक्ष्य आज भारत के संग्रहालय में उपस्थित है, लेकिन कोई यह बताए कि वेद और वैदिक ऋचाओं से परिपूर्ण कौन-सा साक्ष्य उनमें मौजूद है जिससे आज यह कहा जाए कि वैदिक सभ्यता पूर्वकाल से चली आ रही है?

महान सम्राट चक्रवर्ती अशोक के विशाल मगध देश का जो सीमा क्षेत्र था वह म्यांमार से लेकर अफगानिस्तान तक और तिब्बत से लेकर सीलोन तक फैला था, लेकिन उसके विपरीत बृहद्रथ के समय का जो देश का क्षेत्रफल था वह सिमटकर आज का बिहार, उत्तर प्रदेश, दिल्ली और मध्य प्रदेश तक रह गया था। शेष अन्य क्षेत्रों पर सातवाहन और मध्य एशिया से आए हुए कुछ

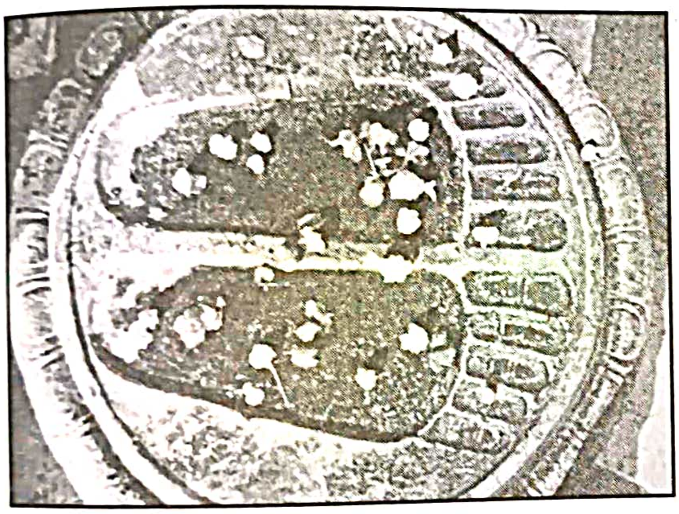
शासकों का आधिपत्य हो गया था। इस वजह से मध्य भारत के छोटे से भू-भाग पर ही बृहद्रथ की राजसत्ता थी। शुंग शासन की नींव भी कमजोर शासकों के कारण काफी कमजोर थी। इस वजह से शुंग का शासन भी बहुत प्रभावशाली तरीके से ज्यादा दिन तक नहीं चल सका। शुंग वंश का अंतिम सम्राट **'देवभूति शुंग'** था और उसका मंत्री **'वासुदेव कण्व'** था। देवभूति शुंग बहुत ही कमजोर सम्राट था जिसकी वजह से उसके कार्यकाल में उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल और भी ज्यादा सिमटकर छोटा होते हुए आज का बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के भागों तक रह गया था। आगे देवभूति शुंग का मंत्री **'वासुदेव कण्व'** ने भी देवभूति शुंग की हत्या करके शुंग साम्राज्य का खात्मा करते हुए अपने आपको **'कण्व वंश'** का सम्राट घोषित किया और मगध की गद्दी पर बैठ गया। लेकिन कण्व वंश भी ज्यादा वर्षों तक मगध की गद्दी को बचाए नहीं रख सका। उसका अंतिम शासक **'सुष्मि कण्व'** था। कण्व के क्षेत्र को **चित्र संख्या (35) में देखें।** जल्द ही मध्य एशिया के विदेशी हिंद-बैक्ट्रियाई (यूनानी) शासकों ने आक्रमण करते हुए भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

फिर! आज के कुछ तथाकथित लेखक किसको विदेशी आर्य साबित करने पर तुले हैं?

मध्य एशिया से आए आक्रमणकारियों में शक, पहलव और कुषाण का नाम प्रमुखता से आता है। परंतु ये सभी भारत के बौद्धिक संस्कृति से ऐसे घुल-मिल गए कि आगे भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी महामानव गौतम बुद्ध की परंपरा का प्रचार-प्रसार करते हुए अमिट छाप छोड़ गए थे। आज आप इन बातों को उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों को देखकर समझ सकते हैं। गौतम बुद्ध की जितनी भी मूर्तियां गांधार कला या मथुरा कला की मिलती हैं सभी इन्हीं सम्राटों के काल में निर्मित मूर्तियां हैं। मूर्ति बनाने की कला की शुरुआत भी इसी समय होती है। इसको ऐसा भी कह सकते हैं कि भारत में गौतम बुद्ध की मूर्ति बनाने का शुभारंभ इन्हीं यूनानी और कुषाण शासकों ने किया। भारत में इसके पूर्व मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति या किसी अन्य की मूर्ति का प्रचलन कतई नहीं था। स्वयं सम्राट अशोक ने भी बिहार के बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति नहीं बनवाई थी। मार्गदाता गौतम बुद्ध को जिस बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ था सिर्फ वहां पर उनके



बोधि आसन (36)



बोधि पाद (37)

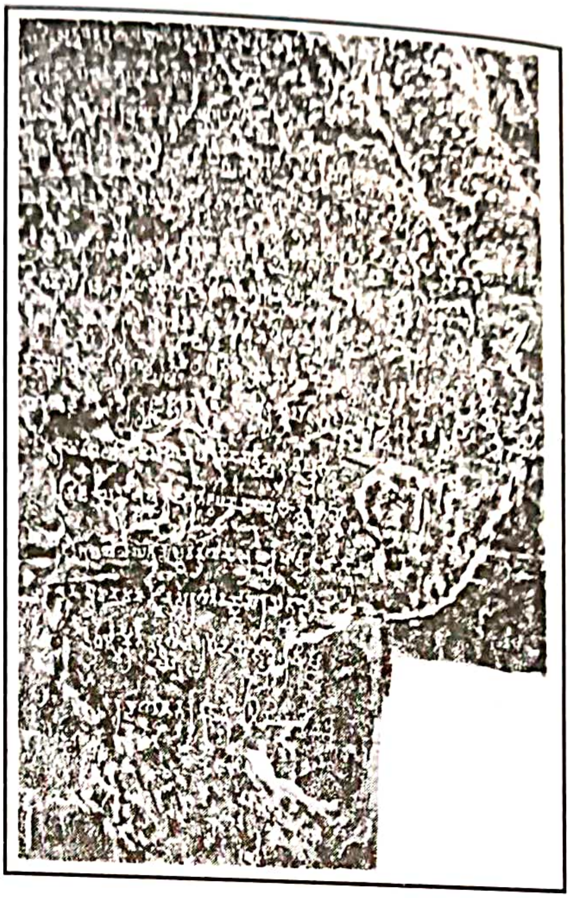
बैठने वाले स्थान का सौंदर्यीकरण कराते हुए मार्गदाता का सांकेतिक रूप से चरण-चिह्न का निर्माण करवाया था। **चित्र संख्या (36) में** बैठने का स्थान और **चित्र संख्या (37) में** चरण-चिह्न को देख सकते हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आज जिस **पंचांग पर वैदिक कर्मकांड** टिका हुआ है उस **पंचांग के निर्माता** ये **शक शासक** ही हैं, जिसका आरंभ ईसा से 78 ईस्वी के बाद किया गया था, जिसे आज **'शक संवत'** पंचांग कहते हैं। यानी कि इसके पहले वेद और वैदिक संस्कृति वालों को दिन और महीना जानने का कोई ज्ञान भी नहीं था। लेकिन आज अपने को विश्व का ज्ञाता बताते हुए उसी शक संवत पंचांग से अपने सभी देवी-देवता का जन्म और विवाह का दिन बताते हुए सभी समारोह का आयोजन करते हैं।

शक सम्राट का लिखित ताम्र-पत्र तक्षशिला विश्वविद्यालय से प्राप्त हुआ है। शक संवत पंचांग को स्थापित करने का श्रेय इसी शक वंश को जाता है, लेकिन इनके कार्यकाल में किसी भी वेद और वैदिक ऋचाओं से युक्त किसी भी मंत्र का साक्ष्य नहीं मिला है। आज शक शासकों को अपने व्यवस्थित शासन और योग्य कार्यों की वजह से जाना जाता है। उस समय भारतीय जनमानस की भलाई हेतु कई कल्याणकारी परियोजनाओं को स्थापित किया गया था, जिसमें कृषि उपज को बढ़ाने हेतु जलाशय का निर्माण प्रमुख है। उन सभी कार्यों को करते हुए सभी जगह लिखित शिलालेख भी स्थापित किए जो आज खुदाई से प्राप्त हुए हैं।

शक वंश के एक प्रमुख सम्राट को आज **'रूद्रदामन'** तृतीय के नाम से

लोग जानते हैं। लेकिन आज के कुछ लेखकों का मत है कि रूद्रदामन तृतीय का जूनागढ़ अभिलेख वैदिक संस्कृत में लिखा गया है, लेकिन उस अभिलेख को कोई भी आज वैदिक संस्कृत लिपि में लिखा हुआ दिखाने को तैयार नहीं है। इनके अभिलेख और मुद्रा पर जो लिपि मिली है वह प्राकृत लिपि और यूनानी लिपि है। उस अभिलेख को **चित्र संख्या** (38) **में** दिखा रहा हूं, जिसे देखकर कोई भी यह कह सकता है कि यह वैदिक संस्कृत का लेख नहीं है। इसको देखने के बाद भी अगर कुछ साथियों की मान्यता इस लिखावट पर संस्कृत भाषा की ही बनती है तो वैसे साथियों को मैं इतना बताना चाहता हूं कि संस्कृत भाषा की लिखावट नागरी लिपि की वर्णमाला और व्याकरण के बिना संपन्न नहीं हो सकती है। क्योंकि संस्कृत भाषा में विसर्ग, हलंत, बिंदु और चंद्रबिंदु जैसे कई अन्य चिह्नों का प्रयोग होता है, जो अन्य किसी भी लिपि से संभव नहीं है। इसलिए वैसे साथियों को बताना चाहता हूं कि बगैर नागरी लिपि के संस्कृत भाषा की लेखनी कभी लिखी नहीं जा सकती है। साथ ही सबसे अहम साक्ष्य एक और है कि रूद्रदामन की जो भी मुद्रा आज उत्खनन से मिली है और उस मुद्रा के ऊपर जो लिखावट है वह प्राकृत और यूनानी भाषा की है। फिर संस्कृत और रूद्रदामन का तारतम्य कैसा? रूद्रदामन के कार्यकाल में संस्कृत का कहीं कोई साक्ष्य अभी तक नही मिला है। आप रूद्रदामन की मुद्रा **चित्र संख्या (39) में देख सकते हैं।**



जूनागढ़ अभिलेख (38)

सम्राट अशोक के बाद मार्गदाता गौतम बुद्ध के बताए मार्ग और उनकी आकृति को देश-विदेश में फैलाने वाले सबसे प्रमुख सम्राट कुषाण वंश के सम्राट कनिष्क थे, जिन्होंने मार्गदाता गौतम बुद्ध की आकृति को मथुरा कला के माध्यम से बनवाने की शुरुआत की थी। इनके ही कार्यकाल में बौद्धों की चौथी

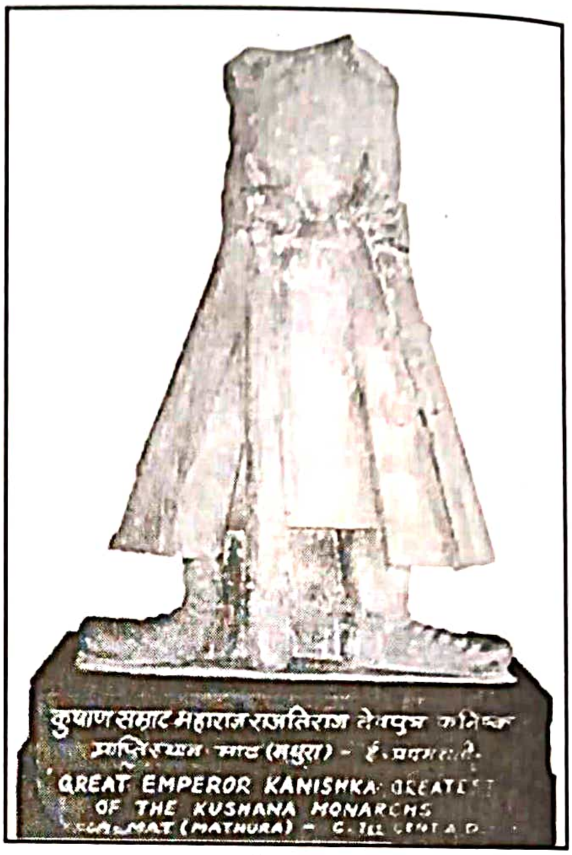


रूद्रदामन की मुद्रा (39)

संगीति कश्मीर में हुई थी। यूनानी शासकों के पूर्वज मूर्ति-पूजक क्षेत्रों के रहने वाले थे जिसकी वजह से ये लोग जब भारत आए तो अपने साथ कुछ मुद्रा लेकर आए थे जिस पर कुछ देवी-देवताओं का चित्र मिलता है, लेकिन आगे ये लोग उन देवी-देवताओं को छोड़ते हुए मार्गदाता को अपनाते हुए उनकी मूर्तियों का निर्माण शुरू कर दिए थे। इस मूर्ति-कला को आज गांधार कला के नाम से जाना जाता है। इसके बाद कुषाण काल में मथुरा कला विकसित हुई और इस कला में बुद्ध की मूर्ति बनने लगी। इसके पूर्व भारत में बुद्ध की मूर्ति-पूजा नहीं होती थी। इसी मूर्ति-पूजा की वजह से पूर्व के बौद्ध थेरवादी मार्ग को महायानी बौद्ध मार्ग में रूपांतरित किया गया। इस महायानी परंपरा की स्थापना के बाद से सम्राट कनिष्क ने मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति निर्माण का अंबार ही लगा दिया था।

भारत में इसी काल के बाद से मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति और मंदिर का निर्माणं शुरू हुआ था। आज भारत ही नहीं, पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सरजमीं की खुदाई में गौतम बुद्ध की जो भी मूर्तियां प्राप्त होती हैं वो सभी मूर्तियां इसी काल की हैं या इसके बाद के काल की स्थापित हैं।

सम्राट कनिष्क ने अपने बेहतर प्रशासकीय प्रबंधन हेतु भारत में दो राजधानियां बनाई थी, जिसमें एक राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) कंधार और दूसरी राजधानी मथुरा में स्थापित थी। आज इसका प्रमाण मथुरा की खुदाई से मिले अभिलेखों से मिलता है। उस मथुरा की खुदाई में कहीं से भी वैदिक या वैष्णव पंथ के कृष्ण का कोई अवशेष नहीं मिला है। ऐसे तो आज समाज में



मथुरा संग्रहालय (40)

काफी लंबी-लंबी कृष्ण और अर्जुन की वार्तालाप का संदेश गीता नामक पुस्तक में लिखा है, लेकिन उस गीता की कोई भी कथा-उवाच का साक्ष्य उस मथुरा की खुदाई में नहीं मिला है। फिर भी आज के मनुपुत्र लेखक अपने वैष्णव पंथ के अवतारी पुरुष को मथुरा से जोड़ते नहीं थकते हैं। आज आप लोगों में से जो भी उस मथुरा संग्रहालय में प्राप्त साक्ष्यों को देखे होंगे, उनको पता होगा कि मथुरा के पुरातात्विक उत्खनन में प्रथम सतह पर मुगल का साक्ष्य है, जो पंद्रहवीं शताब्दी के मुगल काल की याद दिलाता है। उसके बाद दूसरी सतह पर वैष्णव पंथ से जुड़ा हुआ साक्ष्य प्राप्त होता है जो ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में ब्राह्मणी-राजपूत गठजोड़ काल की ओर इशारा करता है। लेकिन उसके बाद की तीसरी सतह से लेकर आगे की सभी सतहों पर मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति और सम्राट कनिष्क के किला का साक्ष्य मिलता है जो आज भी मथुरा के संग्रहालय में सभी के दर्शनार्थ रखा है, ताकि लोगों को भी पता चले कि भारत में राजपूत काल (950 ईस्वी) से पूर्व के काल में भारत की वास्तविक सभ्यता-संस्कृति क्या थी? यानि कि सम्राट कनिष्क के भारत में वैदिक संस्कृति की कोई भी गंगोत्री नहीं मिली है, फिर भी आज के कुछ लेखक वेद और वैदिक मंत्र युक्त भाषा-लिपि वाली



मथुरा संग्रहालय (40 A)

सभ्यता को हुबली और पद्मा नदी से अलग ठहराने पर आमदा हैं। मथुरा खुदाई से प्राप्त साक्ष्य को राजकीय मथुरा संग्रहालय में **चित्र संख्या (40) में देखें।**



मथुरा संग्रहालय (41)

भारत में स्थापित मूर्ति-कला को मथुरा कला और कंधार कला की विशेष देन कहा जाता है। इसके बाद से ही भारतीय कला के इतिहास में अन्य सम्राटों के साथ-साथ मार्गदाता गौतम बुद्ध की अनेक मुद्राओं में मूर्तियां बननी शुरू हो गई थीं, जो आज उत्खनन से प्राप्त मूर्ति के रूप और आकार को देखकर कोई भी बता सकता है।

आज आप वैदिक शैव पंथ में 'शिवलिंग' की जिस आकृति को देखते हैं उस आकृति का प्रारूप इसी मथुरा कला में बनने वाली बुद्ध की मूर्ति और स्तूप से निकलते हुए हम सभी के सामने आई है। **देखें चित्र संख्या (41) में।**

अब आप लोग बताएं कि इस काल के पूर्व में किसी ने इस प्रकार का शिवलिंग बना देखा है?

सम्राट कनिष्क के बाद के भारत की पहचान को ज्ञान-विज्ञान में काफी उन्नत और विश्व-गुरु के रूप में जाना जाता था। इस ज्ञान-विज्ञान का केंद्र स्थल नालंदा विश्वविद्यालय, उदवंतपुरी विश्वविद्यालय, तेल्हारा विश्वविद्यालय, पुष्पागिरी विश्वविद्यालय, वल्वभी विश्वविद्यालय, जगदाला विश्वविद्यालय, सोमपुरा विश्वविद्यालय, साम्य विश्वविद्यालय, उज्जैन विश्वविद्यालय, नवदीप विश्वविद्यालय, तवांग विश्वविद्यालय, कन्हेरी विश्वविद्यालय जैसे अनेक विद्या-अध्ययन वाले शिक्षण संस्थान थे। जिसके द्वारा पठन-पाठन का कार्य अनेक भारतीय जनमानस में फैला हुआ था। जिसे आज भारत में स्वर्ण काल के रूप में भी सभी लोग याद करते रहते हैं।

इस समय तक भारत के सिंहासन पर गुप्त साम्राज्य का आधिपत्य कायम

हो गया था और आज के तथाकथित विद्वान लेखक लिखते हैं कि गुप्त शासक वैदिक संस्कृति का अनुयायी था। इसके कार्यकाल में वैदिक संस्कृति का काफी विकास हुआ था। फिर तो गुप्त शासक के कार्यकाल में अधिसंख्य रूप से विकसित इन शिक्षण संस्थानों में वैदिक साहित्य का लेखन निश्चित ही हो गया होगा और साथ ही सभी लिखित वैदिक साहित्य का पठन-पाठन इन शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों द्वारा अवश्य होता होगा?

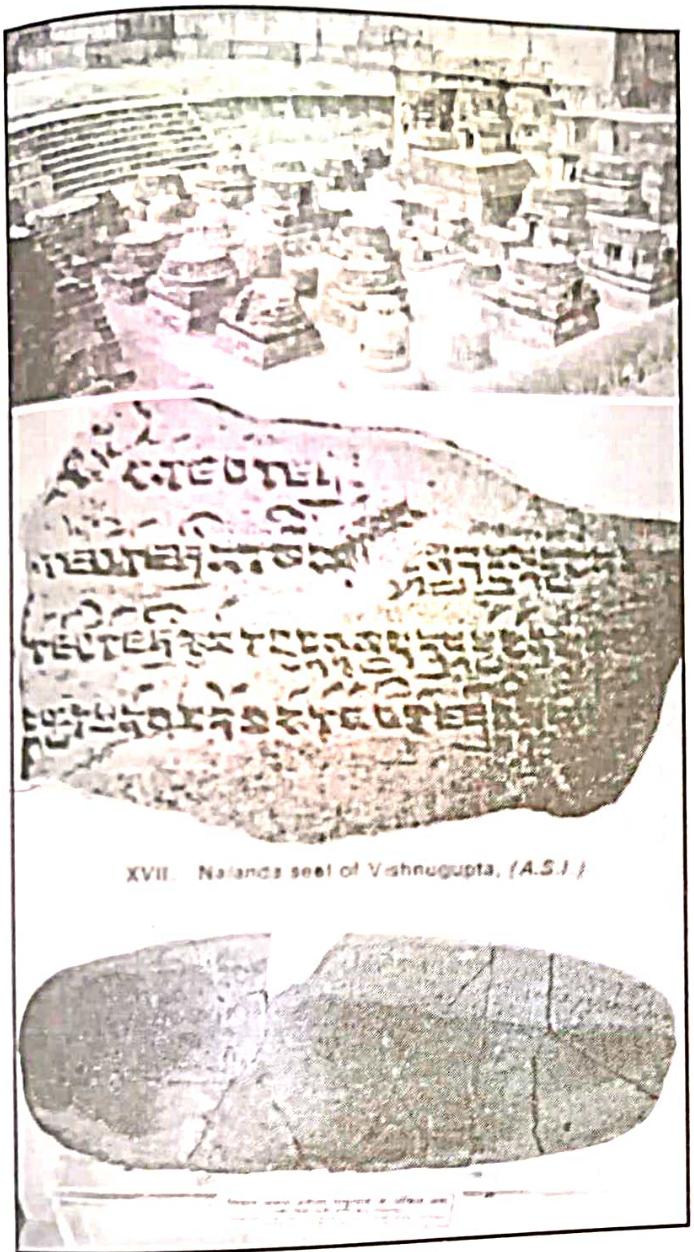
वैदिक अनुयायियों की संतुष्टि हेतु, अगर थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि गुप्त काल के किसी भी गुप्त शासक द्वारा किसी अज्ञात कारणवश से वेद का लेखन करना संभव नहीं हो पाया, तो क्या! उस वेद या वैदिकता के अनुयायी गुप्त शासक को तो निश्चित ही अपने कार्यकाल में संचालित सभी विश्वविख्यात शिक्षण संस्थानों में वेद के ज्ञान-विज्ञान का पठन-पाठन करवाना चाहिए था और अगर ऐसे ज्ञान का पठन-पाठन होता, तो निश्चित ही उस ज्ञान को देने वाला कोई विद्यालय या उस ज्ञान को प्राप्त करने वाला कोई देशी-विदेशी पाठक (छात्र) का साक्ष्य जरूर मिलना चाहिए था! क्योंकि आप लोगों के अनुसार उस वेद में ज्ञान-विज्ञान का अकूत भंडार जो भरा हुआ था? लेकिन उस काल में उस वेद रूपी पुस्तक के ज्ञान का कोई अध्ययनकर्ता या अध्यापनकर्ता का दूर-दूर तक अता-पता नहीं है। आखिर ऐसा क्यों?

जबकि उन तमाम शिक्षण संस्थानों में से किसी में भी वेद या वैदिक संस्कृति का या वैदिक उपासना स्थल में स्थापित हवनकुंड का या वैदिक मूर्ति का या वैदिक भाषा-लिपि (संस्कृत) द्वारा लिखित कोई पांडुलिपि का साक्ष्य अभी तक किसी शिक्षण संस्थान की खुदाई से नहीं मिला है। क्या कुछ कहेंगे तथाकथित लेखक महोदय! उस वैदिक (वेद) पुस्तक का लिखा हुआ साक्ष्य तो बहुत ही दूर की कौड़ी है।

क्यों सही बात है न तथाकथित लेखक महोदय और वैदिक संस्कृति के अनुयायी महोदय!

आज आप उन विश्वविद्यालयों और उनसे मिली लिपि और संस्कृति का साक्ष्य **चित्र संख्या (42) में देख सकते हैं।**

स्वर्ण काल के भारत में अन्य देशों के विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन करने इन शिक्षण संस्थानों में आते थे। **इन शिक्षण संस्थानों में आज की जीवकोपार्जन वाली**



XVII. Nalanda seal of Vishnugupta, (A.S.I.)

नालंदा (42)

प्रबंधन, अभियंत्रन, अधिवक्ता या अन्य विषय की पढ़ाई नहीं होती थी। उस समय किसी कल-कारखाने में नौकरी पाने की भी पढ़ाई नहीं होती थी। क्योंकि उस समय कोई भी कल-कारखाने का साक्ष्य नहीं मिलता है।

आखिर उन सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाई क्या होती थी?

और भारत विश्वगुरु था!

कैसे?

भारत विश्वगुरु था, यह बात तो आज किसी से नहीं छिपी है, लेकिन भारत किस लिए विश्वगुरु था यह बात आज तक जरूर छिपी है। आज तक तथाकथित सभी लेखक महोदय इस बात का खुलासा करना नहीं चाहते हैं।

आखिर क्यों?

क्यों खुलासा करने से डर लगता है!

तथाकथित लेखक महोदय, आपको तो विश्व के मानसपटल पर भारत को विश्वगुरु का दर्जा प्राप्त होने पर गर्व करना चाहिए था और साथ ही भारत को विश्वगुरु होने के नाते, आप लोगों को उन सभी विश्वविद्यालयों से वेद या वैदिक साहित्य का प्रमाण भी देना चाहिए था। लेकिन आप लोग तो अपने वेद या वैदिक ज्ञान का प्रमाण देने वाली बात पर, भारत को विश्वगुरु बनाने वाली सच्चाई पर एकदम से चुप हो जाते हैं या उस सच्चाई की जगह अनाप-सनाप बातों से लोगों को इधर-उधर घुमाने लगते हैं, ऐसा क्यों?

दरअसल आपके काल्पनिक वेद और वैदिक ज्ञान के बदले, उस समय के अनेक शिक्षण संस्थानों में जीते जी अपनी जिंदगी के सभी दुखों से मुक्त होने वाली विद्या लोगों को दी जाती थी, यानी जिंदगी में सुख कैसे प्राप्त होगा, उसकी विद्या दी जाती थी। इसके लिए उस समय के सभी शिक्षण संस्थानों में जिस मार्ग का ज्ञान दिया जाता था उसमें पहला **मन की शुद्धि** और दूसरा **तन (काया) की शुद्धि** से था। जिसमें सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति हेतु मन की शुद्धि को ही प्रमुख माना जाता था, क्योंकि तन सवल होते हुए भी अगर मन अपने वश में नहीं है तो वह व्यक्ति राग, द्वेष, तृष्णा से पीड़ित रहता था। उसके पास असंख्य दुखों का भंडार होता था। लेकिन जब वह व्यक्ति अपने मन को अपने वश में कर लेता था, तो उसकी सभी इंद्रियां उसके मन के वश में रहते हुए राग, द्वेष और तृष्णा से मुक्त हो जाती थीं। फिर वही व्यक्ति इसी जीवन में जीते-जी जिंदगी के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर मुक्त हो जाता था, निर्वाण प्राप्त कर लेता था।

इसी कड़ी में अभी तक भारत को विश्वगुरु होने का जो भी पहला लिखित साक्ष्य मिला है उसमें भगवान बुद्ध की एक वाणी मन की शुद्धि से संबंधित थी। यथा–

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा
मनोसेट्ठा मनोमया ॥

अर्थ : *सभी धर्म (सुधर्म/अधर्म) पहले मन में उत्पन्न होते हैं। मन ही मुख्य है, ये धर्म मनोमय है।*

दूसरा जो साक्ष्य मिला है वह तन की शुद्धि से था यानी आसन और प्रणयाम (विपश्यना) का था।

तीसरा सबसे मुख्य विद्या का प्रमाण "आर्य सत्य" और "प्रतीत्य-समुत्पाद" का मिलता है। इस विद्या द्वारा अपने जीवन में उत्पन्न होने वाले सुख-दुख के कारण को जान सकते थे और उस दुख को दूर कैसे करें इसकी जानकारी प्राप्त कर सकते थे, साथ ही इसी प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम द्वारा सृष्टि के बनने-बिगड़ने से लेकर मानव की उत्पत्ति के कारण को भी समझा जाता था। यानी प्रतीत्य-समुत्पाद के बारे में मोटे तौर पर या कम शब्दों में समझ लें कि बगैर कारण और प्रस्थिति (प्रतीत्य यानी दिखना) का कोई भी उत्पाद (सम उत्पाद) यानी जन्म नहीं होता है।

संक्षिप्त रूप में कहें तो विश्वगुरु के नाते उस समय की विद्या में एक शिक्षा अपने आपको जानने की भी मिलती है जिसको उस समय की विद्या में अध्यात्म (पालि में अज्झत्त कहते हैं) कहा जाता था। अध्यात्म यानी **"अध्य जोड़ आत्म (स्व)।"** ये आज वाली आत्मा और परमात्मा नहीं! बल्कि भारत की समृद्धशाली बौद्धिक परंपरा में आत्म यानी स्व से था, अपने आप से था, यानी **अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर का अवलोकन करते हुए उसके अंदर से सभी प्रकार के राग (दुखद, सुखद और अदुखद असुखद वेदना) को जानने-समझने से था। उस राग को अपने शरीर के अंदर से बाहर कैसे निकालें, उससे था। उसी विद्या को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाली विधि (प्रज्ञा) को ही अध्यात्म कहते थे।**

लेकिन आज तो अध्यात्म का अर्थ आत्मा और परमात्मा वाली भूल-भुलैया जैसी बातों को जानते हुए आडंबरयुक्त बातों को याद करने से जाना और माना जाता है। पूर्व के अध्यात्म द्वारा सभी लोग विपस्सना जैसी अद्भुत साधना से अपने अंदर की वेदना को जानते हुए उस पर काबू पाने की क्रिया करते थे, लेकिन आज के मनुवादियों ने अपनी अज्ञानता द्वारा उस वेदना को वेद रूपी ग्रंथ का नाम देते हुए कथा-कहानी वाली पुस्तक का रूप दे दिया है। इससे पूर्व काल में रही दुखद-सुखद-अदुखद-असुखद वेदना से मुक्त होने वाली यह **विपस्सना क्रिया** की सभी जानकारी इस कहानीयुक्त वेद पुस्तक द्वारा खत्म हो गई है। इसी वेद के कारण पूर्व के इस मार्ग ने आज एक कर्मकांड का रूप ले लिया है।

नोट : *भारत की समृद्धशाली भाषा पालि में वेदना का अर्थ 'अनुभूति' से जाना जाता है, लेकिन संस्कृत और हिंदी में वेदना का अर्थ 'दुख' से जाना जाता है।*

उन शिक्षण संस्थानों की विद्या कुदरत के कानून को समझने से जुड़ी थी, जो प्राकृतिक गुणों को जानने-समझने में सहायक होती थी। साथ ही इन सभी तत्वों को समझकर लोगों को मार्गदर्शक के रूप में बताने वाले मार्गदाता से जुड़ी होती थी। जिसका साक्ष्य आज भारत के विद्यार्थियों में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों से भारत में आकर अनेक शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में भी देखा जा सकता है। इस वजह से आज मनुवादी लेखकों को सोचना चाहिए कि स्वर्ण काल के भारत में उपस्थित अनेक शिक्षण संस्थानों के रहते

हुए भी उनमें तथाकथित ज्ञान वाली वेद और वैदिक संस्कृति का प्रभाव क्यों नहीं दिखा। आखिर उसका आभाव क्यों बना रहा? क्यों उस समय वेद और वैदिक ज्ञान के महत्त्व का जन्म नहीं हुआ था?

आज साक्ष्य स्वरूप गुप्त वंश के समय की काफी मुद्रा और अभिलेख भारतीय पुरातत्व विभाग को उत्खनन में मिले हैं, लेकिन किसी भी मुद्रा पर वैदिक संस्कृत वाली लिखावट नहीं है। सबसे मजे की बात है कि आज जिस प्रकार से वैदिक संस्कृति वाले लोग **शक-शासक** द्वारा या **सक्कमुनि** के नाम पर निर्मित **'शक संवत'** (पालि भाषा में सक संवत लिखा जाता है।) पंचांग से अपने आपको जोड़ते हैं उसी प्रकार के एक और पंचांग का निर्माण इस गुप्त काल के भी कार्यकाल में हुआ था, जिसका नाम **'विक्रम संवत'** पंचांग था। इस विक्रम संवत पंचांग के निर्माण का श्रेय गुप्त वंश के **सम्राट चंद्रगुप्त** उर्फ विक्रमादित्य को जाता है। लेकिन आज इस 'विक्रम संवत' पंचांग पर पेटेंट वैदिक कर्मकांडियों द्वारा अधिकार जताते हुए इसको हथिया लिया गया है। जिसको विस्तार से आप सम्यक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक **"बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र"** में देख सकते हैं।

आज वैदिक पक्षकार लेखक और वैदिक विपक्षकार लेखक के अंदर में एक जबरदस्त मान्यता बैठी है कि गुप्त वंश के शासक वैदिक अनुयायी थे।

साथ ही दोनों प्रकार के लेखकों की मान्यता है कि गुप्त सम्राट के कार्यकाल में वैदिक उत्थान हेतु बहुत सारा रचनात्मक कार्य हुआ था।

क्या आप पाठक लोग भी इस प्रकार की बातों से सहमत हैं?

अगर सहमत नहीं हैं तो अच्छी बात है, लेकिन अगर सहमत हैं तो फिर कुछ प्रश्न हैं जिन पर चिंतन करते हुए उचित जवाब दें।

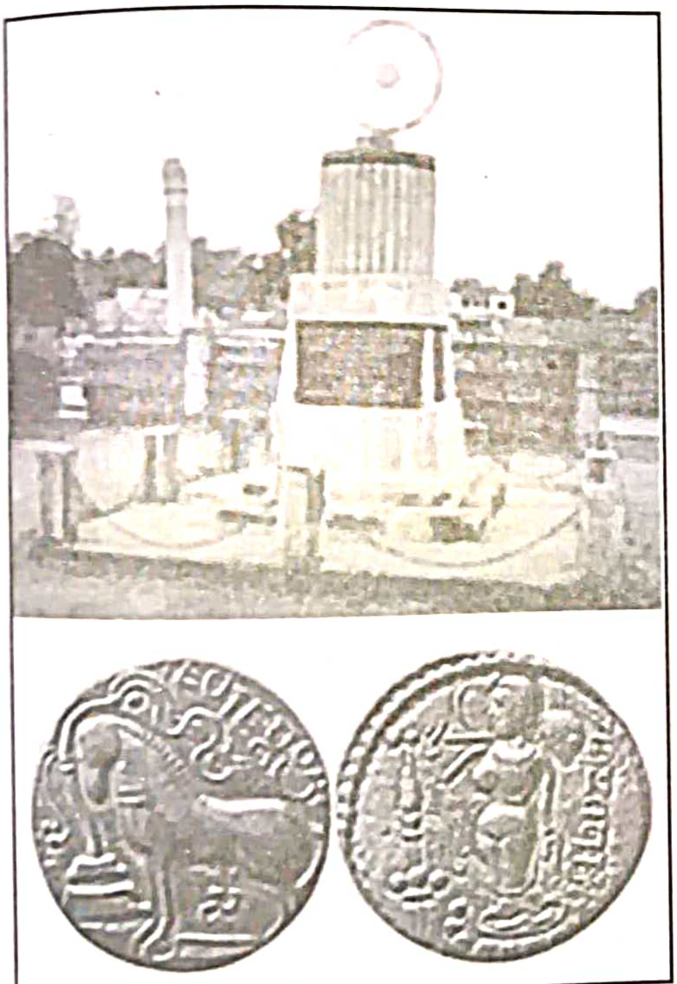
(1) गुप्त सम्राटों के कार्यकाल में भारत के अंदर अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए थे, फिर उन विश्वविद्यालयों में वैदिक ग्रंथों के पठन-पाठन का कार्य क्यों नहीं होता था?

(2) गुप्त सम्राट के समय कई शिक्षण संस्थान थे। यानी उन संस्थानों में लेखनकला भी निश्चित रही होगी, फिर वैदिक साहित्य का लेखन गुप्त सम्राट ने क्यों नहीं करवाया?

(3) अगर गुप्त सम्राट ने वैदिक साहित्य को लिपिबद्ध करवाया तो आज उस काल का कोई वैदिक ग्रंथ, वैदिक मंत्र मिला क्यों नहीं?

(4) गुप्त सम्राट के कार्यकाल में इनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थानों में अनेक विदेशी लोग शिक्षा प्राप्त करने हेतु आए थे, लेकिन किसी ने भी वैदिक ज्ञान की बात नहीं बताई, आखिर क्यों?

है न मजेदार वैदिक घालमेल!



चित्र संख्या (43)

इसी को कहते हैं कि जिसके पास अपना बैट और बॉल भी नहीं हो और वह अपने आपको एक महान क्रिकेटर कहते हुए क्रिकेट का जन्मदाता कहने पर आमादा है!

सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय उर्फ विक्रमादित्य ने ही अपने शासनकाल में खगोलीय ज्ञान को आगे बढ़ाते हुए भारत की कर्क रेखा पर स्थित उज्जैन नगर में एक वैद्यशाला बनवाई और इसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। उस उज्जैन में खगोलीय वैद्यशाला के साथ-साथ उज्जैनी विश्वविद्यालय की स्थापना भी करवाई थी। लेकिन आज उस उज्जैन से उत्खनन द्वारा प्राप्त वैद्यशाला और अशोक स्तंभ की जगह पर ब्राह्मणी-मुगल गठजोड़ काल की महाकाल मंदिर स्थापित हो गई है। आज कहां चला गया वह उज्जैनी विश्वविद्यालय और खगोलीय वैद्यशाला का साक्ष्य?

गुप्त काल की मुद्रा और वैद्यशाला का साक्ष्य **चित्र संख्या (43) में देखें।**

ऐसे वैदिक मत के समर्थक लेखकों और उनके अनुयायियों को एक बात

की जानकारी दे दूं कि स्वर्ण काल के समय तक अगर आज के वेद और वैदिक ऋचाओं वाली गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद और मनुस्मृति समेत संस्कृत भाषा की लिखित या मौखिक जिस भी प्रकार से जानकारी प्राप्त हो जाती तो उस समय के भारत में रहे सैकड़ों ज्ञान केंद्रों के हजारों विद्वान लोग इस वेद और वैदिक शास्त्र पर अनगिनत भाष्य लिख देते। लेकिन उस काल के एक भी भाष्य नहीं मिले हैं और न ही आज तक इसको जानने वाला एक विद्यार्थी ही मिला है। जवकि इन सभी विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी देश-विदेश में फैले हुए थे और आज की खुदाई में जमीन के नीचे से संबंधित साक्ष्य भी मिलते हैं। भारत के इन विश्वविद्यालयों से विश्व के अनेक देशों के विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को प्रचारित-प्रसारित करने का साक्ष्य सभी को दिखता है। आज स्वर्ण काल के समय को देखते हुए कोई यह बताए कि भारत के सभी जगहों की खुदाई से प्राप्त साक्ष्यों में वेद और वैदिक संस्कृति से जुड़ा हुआ कोई प्रमाण क्यों नहीं मिलता है?

नोट : *आज भारत के धूर्त लेखक तथाकथित महाकवि पं. कालिदास को इसी गुप्त सम्राट के दरवार में स्थापित करते हुए महान कवि की उपाधि से नवाजते हैं। कहा जाता है कि कालीदास ने अपने समय में अपने हाथों से काफी नाटक और कविता का लेखन किया था। लेकिन आज कितने लोग हैं जो कालीदास द्वारा लिखी गई बातों पर प्रश्न-चिह्न खड़ा करते हुए धूर्त लेखकों से पूछते हैं कि जब पं. कालिदास गुप्त सम्राट के दरवार में रहकर कविता और नाटक लिख सकता था तो फिर उसने वैदिक साहित्य को क्यों नहीं लिखा?*

कवि पं. कालिदास भी चाणक्य के जैसा एक काल्पनिक पात्र है। क्योंकि कालिदास का लिखा हुआ गुप्तकाल की भाषा-लिपि और उस काल की लेखन वस्तु में कोई भी साक्ष्य नहीं मिला है।

कारण स्पष्ट है कि यह वेद और वैदिक लिपि भी हुवली और पद्मा नदियों के जैसी 850 ईस्वी के बाद से भारतीय बौद्धिक और पालि लिपि से निकली संस्कृति है।

गुप्त वंश का साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। भारत में उस समय का अध्यात्म भी अपने ज्ञान-विज्ञान की ऊंचाई पर पहुंच गया था। लेकिन उस समय भी कोई वैदिक अध्यात्म का नामोंनिशान नहीं मिला है। उस समय का

भी जो अध्यात्म मिलता है वह भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आर्य सत्य, आष्टांगिक मार्ग, पंचशील, त्रिरत्न, प्रतीत्य-समुत्पाद, विपस्सना (विपश्यना) जैसी अन्य ज्ञानपरक बातों का मिलता है। गुप्त वंश के समय में भी इतने शिक्षण संस्थान रहते हुए भी कोई वैदिक साक्ष्य का प्रमाण नहीं दिखा।

उस समय ज्ञान-विज्ञान के रूप में प्राकृतिक हिमखंड से निकलने वाली **गंगोत्री जैसी विपस्सना, अलकनंदा जैसे आर्य सत्य और मंदाकनी जैसे आष्टांगिक मार्ग** को जोड़ते हुए बनने वाली गंगा नदी के समान महामार्गदाता गौतम बुद्ध की विकराल धारा बह रही थी, जिसे उस समय **"महायान"** बौद्धिक परंपरा कहा जाता था।

आज भारत के इतिहास लेखकों की धारणा है कि गुप्त वंश के अंतिम सम्राटों के द्वारा ही प्रथम बार मंदिरों का निर्माण प्रारंभ कर दिया गया था। परंतु गुप्तकाल का वैदिक मंदिर कौन-सा है, कुछ साक्ष्य और उस मंदिर का नाम भी बताएं?

दूसरी बात, लेखक महोदय! जब गुप्त सम्राटों द्वारा वैदिक मंदिर का निर्माण करवाया गया होगा तो गुप्त सम्राटों द्वारा पोषित नालंदा विश्वविद्यालय द्वारा आपकी वैदिक ज्ञानयुक्त वेद का लेखन क्यों नहीं हुआ?

तीसरी बात, लेखक महोदय! जब गुप्त सम्राटों द्वारा वैदिक मंदिर का निर्माण करवाया गया और गुप्तकाल की निर्मित वैदिक मंदिर आपके अनुसार आज भी सही-सलामत खड़ा है तो फिर उस मंदिर का निर्माण करने वाला गुप्त सम्राट का किला कितना विशाल रहा होगा! उस विशाल गुप्त सम्राट के किले का भी कोई साक्ष्य आज मिलना चाहिए न!

क्या आप लोग कुछ मदद करेंगे गुप्त सम्राटों द्वारा लिखित वैदिक ग्रंथ और गुप्त सम्राट का किला खोजने में?

लेखक महोदय! गुप्त काल की बनी हुई जो मूर्ति खुदाई में मिलती हैं, वे सभी मूर्तियां **'अवलोकितेश्वर बुद्ध या बोधिसत्त्व'** वाले मार्गदाता की हैं।

क्यों! महाशय है न मजेदार वैदिक घालमेल की कहानी!

गुप्त वंश के बाद भारत की सत्ता पर हर्षवर्धन (606-647 ई.) का आगमन होता है। लेकिन यह क्या! सम्राट हर्षवर्धन के कार्यकाल में भी किसी वेद या

वैदिक और चातुर्वर्णागत समाज का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। भारत में इस समय तक सभी प्रमुख बातों को लिखते हुए (अभिलेख) सुरक्षित करने की परंपरा का प्रचलन बढ़ गया था। आज प्राप्त उस काल के मिले कई साक्ष्यों को देखकर कोई भी इस सत्य को जान सकता है। लेकिन कोई इसको देख कर यह बताए कि कहां चातुर्वर्णागत समाज की बातें लिखी हैं? प्राप्त साक्ष्यों में से किस अभिलेख में वेद और वैदिक ऋचाओं का उल्लेख है?

भाई! वैदिक काल हो और संस्कृत में उद्धृत वैदिक ऋचाएं आज तक प्राप्त नहीं हों! किसी भी वैदिक देवी-देवता की मूर्ति नहीं मिली हो! शैव पंथी या वैष्णव पंथियों के किसी ग्रंथों का कोई नामोनिशान नहीं हो!

भाई! फिर वैदिक काल किसे कहते हैं?

भारत में हर्षवर्धन के काल तक बहुत से विदेशी यात्री भारत की ज्ञान विज्ञान वाली धरती को देखने और ज्ञानोपार्जन करने आए थे। जिन्होंने यहां प्रचलित सभी संस्कृतियों को काफी नजदीक से देखकर अपना यात्रा वृत्तांत लिखने का काम किया था। लेकिन उनके यात्रा वृत्तांत में किसी प्रकार के वेद या वैदिक चातुर्वर्णागत समाज का उद्भेदन नहीं हुआ है।

वेद और वैदिक काल के अधिकांश ग्रंथों द्वारा आज प्रचारित है कि वैदिक जमाने में अनेक गुरुकुल और गुरुग्राम हुआ करते थे, जिनमें उस समय के राजा-महाराजा के पुत्र ज्ञान प्राप्ति हेतु जाकर रहा करते थे। लेकिन उस काल का आज तक वैसा एक भी गुरुकुल या गुरुग्राम का कोई साक्ष्य उत्खनन से प्राप्त नहीं हुआ है। इस प्रकार के जो भी साक्ष्य मिले हैं वे 9वीं-10वीं सदी के बाद के हैं। फिर भी आज के वैदिक लेखक उस गुरुकुल और गुरुग्राम को अपनी कल्पना से पूर्वकाल में स्थापित करने में लगे हैं।

आखिर आप लोग बताओ तो सही कि यह वेद और वैदिक ज्ञान का गुरुकुल केंद्र कहां स्थापित था? उस गुरुकुल में किस राजा महाराजा के पुत्र शिक्षा प्राप्त करने जाते थे, फिर आज तक एक भी उस गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त राजकुमार विद्यार्थी अपने गुरुकुल से जुड़े हुए अभिलेख लिखकर क्यों नहीं छोड़े?

नोट : *जब आप लोग स्वयं कहते हैं कि वैदिक काल ज्ञान के दृष्टिकोण से बहुत ही उन्नत काल था तो सम्राट हर्षवर्धन के पूर्व से लेकर सिंधु घाटी सभ्यता तक और उससे पहले के मिले साक्ष्यों के विश्लेषण से कहीं भी*

वैदिक काल का कोई उन्नत ज्ञान और साक्ष्य क्यों नहीं दिखा?

फिर आप लोग आज कैसे कहते हैं कि वैदिक सभ्यता भारत में ईसा पूर्व काल की सभ्यता रही थी?

इसके दो मुख्य कारण हैं :

पहला— भारतीय शैक्षणिक पुस्तकों में सत्ता भोगी समाज और जातिगत सम्मान भोगी वर्गों द्वारा एक निश्चित एजेंडा के तहत **गैर पुरातात्विक** रूप से लिखी गई या लिखवाई गई वैदिक सभ्यता वाली पाठ्य-पुस्तक का प्रभाव होना

और

दूसरा— भारतीय बहुसंख्यक समाज के अंदर क्षेत्रीय स्तर पर घटने वाले सभी परंपरागत कर्मकांडों को वैदिक रीति-रिवाज की मान्यता की दृष्टि से जोड़कर देखना, जिसके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक समाज के मानसपटल पर अपनी **मान्यताओं का लेप** लगना।

निश्चित एजेंडा के लेखन का प्रभाव

अब यहां गौर करें कि पहला जो कारण है, वह कारण है शैक्षणिक क्षेत्रों में वैदिक युग की पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित गैर पुरातात्विक पाठ्य-सामग्री का प्रभाव होना। किसी भी देश का इतिहास लिखा जाए और उस लेखन में पुरातत्व का तनिक मात्र भी प्रभाव नहीं हो, तो समझना चाहिए कि वैसा लेखन निश्चित ही किसी खास वर्गों का एक गुप्त एजेंडा मात्र है। इसी गुप्त एजेंडे का प्रभाव है कि वर्तमान भारत में जितने भी लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं या कुछ लोग कहीं से इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित बातों की जानकारी पढ़कर या सुनकर प्राप्त कर लेते हैं, वैसे सभी लोगों के मानस पटल पर पुस्तकीय जानकारी का प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ जाता है। यह अलग बात है कि शैक्षणिक इतिहास की पुस्तकों में वर्णित बातों का समय-समय पर संशोधन या बदलाव भी होते रहते हैं। जैसे— पूर्व की शैक्षणिक पाठ्य-सामग्री में सतयुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग का पठन-पाठन होता था, लेकिन वर्तमान की उच्च शैक्षणिक पाठ्य-सामग्री से इस अध्याय को हटा दिया गया है, परंतु आज भी स्कूलों की पाठ्य-सामग्री में कहीं-कहीं सतयुग, द्वापरयुग और त्रेतायुग की पढ़ाई करवाई जाती है।

बात शिक्षण सामग्री में वैदिक सभ्यता की हो रही है, अतः अब यहां ध्यान देना होगा कि शैक्षणिक जगत हेतु जो भी इतिहास की पाठ्य-सामग्री उपलब्ध कराई गई है, उन सभी इतिहास की पुस्तकों का लेखन समाज व सत्ता के शीर्ष पायदान पर बैठे लोगों द्वारा ही निहित या निर्देशित हुआ है। वहीं दूसरी ओर समाज के अधिकांश शीर्षस्थ लोगों का लगाव या चिपकाव स्थानीय भू-भाग (देश) की वर्तमान में घटित सभ्यता-संस्कृति से होता है, जिस वजह से हर देश के शीर्ष नेतृत्व का लेखन अपने-अपने मानसपटल पर बैठी सांप्रदायिक संस्कृति की ओर चला जाना स्वाभाविक होता है। अब आप वृहद भारतीय भूखंड की ही बात ले लीजिए, इस वृहद भारतीय भूखंड के क्षेत्रफल का आजादी के बाद दो भागों में बंटवारा हो जाता है। एक भाग का नाम भारत तो दूसरे भाग का नाम पाकिस्तान रखा जाता है। अब दोनों देश अपने-अपने देश के शिक्षण संस्थानों हेतु अपनी अलग-अलग पाठ्य-पुस्तकों का लेखन करवाते हैं, जिस वजह से दोनों देशों की शैक्षणिक पुस्तकों के लेखन की जिम्मेदारी स्थानीय समाज व सत्ता शीर्ष पर बैठे लोगों का पर आ जाती है। अब उन देशों की सत्ता व समाज के शीर्ष पर बैठे लोगों का चिपकाव कहें या अपने-अपने मनोनुकूल संस्कृति में होने की वजह से उन सबों का लेखन भी अपनी मनोनुकूल संस्कृति को प्रस्थापित करने वाला होता है, जिसको आप दोनों देशों के इतिहास लेखन में देख भी सकते हैं। दोनों देशों को एक ही भूखंड से बंटने के बाद भी पाकिस्तान के शैक्षणिक इतिहास की पुस्तकों में केवल इस्लामिक युग एवं इस्लामिक शासकों का वर्णन है तो वहीं भारतीय शैक्षणिक इतिहास की पुस्तकों में पाषाण काल से लेकर आधुनिक भारत तक का इतिहास पुरातात्विक साक्ष्यों तथा ग्रीक एवं अन्य विदेशी यात्रियों के विश्वसनीय लेखन के आधार पर दर्शाया गया है, लेकिन वैदिक युग का इतिहास यहां के वैदिक साहित्य एवं अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत धार्मिक ग्रंथों के विश्लेषण के आधार पर वर्णित किया गया है, जिसका कि कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

भारतीय पाठ्य-पुस्तकों में भारत की जो द्वितीय सभ्यता प्रारंभ होती है, उस सभ्यता का नाम वैदिक सभ्यता है। अब देखना यह है कि देश के शीर्ष नेतृत्व द्वारा निर्देशित और विख्यात लेखकों द्वारा जो भी इतिहास की पुस्तक लिखी गई है और उस पुस्तक के अंदर वैदिक युग का जो वर्णन है, उस वैदिक युग को स्थापित करने हेतु सभी लेखकों ने अपनी-अपनी पुस्तक में इस देश

की दर्शनशास्त्र वाली पुस्तक "वेद" का सहारा लिया है। क्या है कि किसी भी प्रकार की सभ्यता पर जब कोई इतिहास लेखन होता है तो उस इतिहास लेखन में पुरातात्विक रूप से दर्शनीय मृदभांड और पुरातात्विक रूप से पठनीय अभिलेखों का आधार देना जरूरी होता है। तभी वैसे इतिहास लेखन की पुस्तक की प्रामाणिकता का दर्जा बढ़ जाता है या कहें तो वैसे इतिहास की पुस्तकों का स्थान सबसे ऊंचा होता है अन्यथा इसके बिना इतिहास लेखन का कार्य अधूरा ही कहा जा सकता है। परंतु वहीं पर किसी सभ्यता या वैदिक सभ्यता के इतिहास लेखन में देश की संस्था या स्वतंत्र लेखक द्वारा लिखित इतिहास की पुस्तक में साहित्यिक पुस्तक (संप्रदाय विशेष का ग्रंथ) वेद को आधार बनाया जाता है तो वैसे इतिहास की पुस्तक की लेखन की सारी प्रामाणिकता ही उस वेद की पुस्तक पर आकर टिक जाती है। यानी इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि जब कोई कारीगर (हलवाई) किसी मिठाई का निर्माण दूध या मेवा से करता है तो उस कारीगर द्वारा निर्मित मिठाई की गुणवत्ता सर्वप्रथम उस दूध या मेवा की गुणवत्ता (शुद्धता) पर आकर टिक जाती है। अगर वह दूध वाला मेवा ही अशुद्ध है तो उससे बनने वाली मिठाई की गुणवत्ता किसी भी प्रकार से उन्नत या उत्कृष्ट नहीं हो सकती है।

अब जब भारत के इतिहास लेखन में सभी विद्वान लेखकों ने पुरातात्विक साक्ष्यों के जगह पर साहित्यिक पुस्तक "वेद" का सहारा लिया है तो फिर उस वेद पुस्तक को ही देखना होगा कि क्या इस पुस्तक (वेद) लेखन में पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार (स्रोत) का सहारा लिया गया है या कुछ लोग वेद को लाखों वर्ष पूर्व का लिखित या ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं तो क्या आज उत्खनन होने के बाद उस पुस्तक में वर्णित बातों के अनुसार उसकी भाषा-लिपि और सभ्यता प्राप्त होती है? अगर लेखन में थोड़ा बहुत भी पुरातात्विक साक्ष्यों की चर्चा है या लेखन अनुसार पुरातात्विक उत्खनन प्राप्त होता है तो क्या उसका कोई वर्णन इस साहित्यिक पुस्तक में है या ऐसे ही ख्याली पुलाव के जैसा इस साहित्य का लेखन व प्रचलन है। इन सब बातों को जांचने के बाद ही किसी साहित्य को प्रमाणित करना चाहिए, अन्यथा बिना पुरातात्विक रूप से प्रमाणित साहित्य को कथा कहानी वाली उपमा से संबोधित करते हैं तो इसे किसी भी दृष्टि से गलत नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भारत में इस प्रकार के और भी साहित्यक पुस्तकों का वर्णन मिलता

है जिसे रामायण काल का युग, महाभारत काल का युग और विष्णु काल का युग भी कहते हैं। अब यहां ध्यान देना होगा कि उस रामायण काल की सभ्यता की सारी प्रामाणिकता राम कालीन साहित्य की पुस्तक पर आकर रुक जाती है तो वहीं महाभारत काल की सभ्यता का लेखन उस महाभारत काल वाली साहित्य की पुस्तक की प्रामाणिकता पर आकर टिक जाती है, तो विष्णु काल वाली साहित्य की पुस्तक की प्रामाणिकता विष्णु के समय वाले युग पर आकर ठहर जाती है।

यानी पहले राम के काल में प्रचलित बोली भाषा लिपि-मुद्रा, कृष्ण के काल में प्रचलित बोली-भाषा, लिपि-मुद्रा, विष्णु के काल में प्रचलित बोली-भाषा, लिपि-मुद्रा वाली प्रामाणिकता को पुरातत्व की दृष्टि से प्रामाणिक करना ज्यादा जरूरी हो जाता है। उसके बाद ही इन सबों के ऊपर लिखी गई साहित्यिक पुस्तक को आधार मानकर राम युग, कृष्ण युग और विष्णु युग की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो सकती है। अन्यथा इसे एक कहानी समझकर पढ़ें। ठीक वैसे ही अगर **वैदिक युग** की सभ्यता का लेखन आधार **वेद** पुस्तक है तो फिर पुरातात्विक रूप से सर्वप्रथम उस वेद पुस्तक की प्रामाणिकता की जांच होनी चाहिए। उस वैदिक युग में प्रचलित बोली-भाषा, लिपि की भी जांच होनी चाहिए, तभी वेद को आधार मानकर लिखी गई **"वैदिक युग"** की सभ्यता प्रमाणित होगी! अब देखना है कि वैदिक युग का लेखन जिस साहित्यिक पुस्तक "वेद" से किया गया है, उस साहित्यिक पुस्तक का लेखन आधार क्या है? क्या उस वेद पुस्तक का लेखन आधार पुरातात्विक है? क्या उस वेद साहित्य की पुरातत्व के अंदर कोई पांडुलिपि मिली है? क्या उस वेद साहित्य की भाषा लिपि भी पुरातत्व के अंदर प्राप्त हुई है? क्या उस वेद साहित्य में वर्णित कबीले का कोई पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त है? क्या उस वेद साहित्य में वर्णित बोली-भाषा का साक्ष्य पुरातत्व के अंदर उस समय मिला था? क्या उस वेद साहित्य में वर्णित कर्मकांड में प्रयोग मंत्रों का उल्लेख किसी पुरातात्विक अभिलेख में है?

इन सभी साक्ष्यों का अवलोकन व इसका मूल्यांकन इस पुस्तक में वर्णित मानव उत्पत्ति से लेकर ईसा पूर्व 2500 वर्ष तक (भाग A) और ईसा पूर्व 2500 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 1500 वर्ष तक (भाग B) तथा ईसा पूर्व 2000 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक (भाग C) में आपने अच्छी प्रकार से देखा होगा।

उसमें कहीं भी वेद में वर्णित किसी बातों का पुरातात्विक रूप से मिलना नहीं होता है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि वेद ग्रंथ और वैदिक सभ्यता का पुरातत्व से कोई संबंध नहीं है, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होकर आपस में ही एक दूसरे को सत्यापित करते हैं।

तो आइए,

हम लोग अवलोकन करते हैं इन शीर्षस्थ लेखकों द्वारा लिखित मुख्य शैक्षणिक इतिहास की पुस्तक में लेखन का आधार स्तंभ पुरातात्विक रूप से उत्खनन में मिले मृंदभांड, मुद्रा, अभिलेख, शिलालेख, राज्यादेश, उत्खनन में मिले वैदिक युग का नगरीय या ग्रामीण अवशेष है या किसी विदेशी यात्री का यात्रा वृत्तांत है! या सिर्फ साहित्यिक पुस्तक वेद से लिया गया उदाहरण मात्र है!

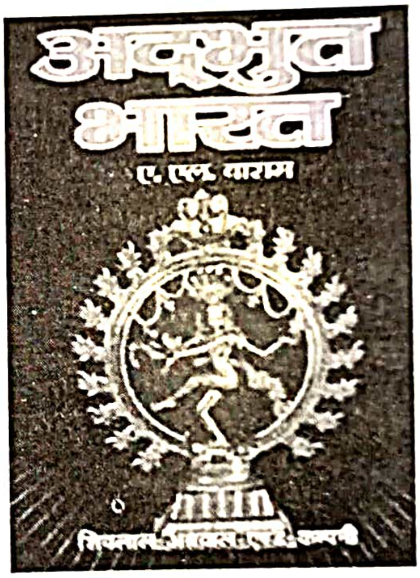
पहली पुस्तक– चित्र संख्या 44

पुस्तक का नाम : "अद्‌भुत भारत"

लेखक : ए.एल. बासम (इतिहास विभाग, लंदन)

(The Wonder that Was India, Auther–Arthur Llewellyn Basham)

प्रकाशक : शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा



चित्र संख्या (44)

लेखक महोदय अपनी पुस्तक के पेज नं. 19 पर लिखते हैं कि प्राचीनतम भारतीय साहित्यिक साक्ष्य जो हमें प्राप्त है वह ऋग्वेद है, जिसके अधिकांश भाग की रचना ई.पू. द्वितीय सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में की गई थी। यह स्पष्ट ही आक्रमणकारियों की कृति है जो उत्तर-पश्चिमी भारत के मूलनिवासियों पर उस समय तक अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित नहीं कर पाए थे।

भारत पर आक्रमण करने वाले अपने को आर्य कहते थे, जिसका सामान्य अंग्रेजी भाषांतर आर्यन्स होता है।

पेज नंबर 20

ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व पोलैंड से मध्य एशिया तक विशाल घास वाले मैदान में अर्द्ध-यायावर बर्बर लोग रहते थे। जो गोरे और लंबे थे। कालांतर में इन्हीं में से कुछ लोगों के समूह ने सिंधु सभ्यता पर आक्रमण किया।

भारत पर आर्यों का आक्रमण कोई एक क्रमबद्ध कार्य नहीं था, वरन इसमें कई शताब्दियां लगीं। आक्रमणकारी नगरों में बसे और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के पतन के उपरांत पंजाब व सिंध जैसे छोटे-छोटे गांवों में परिणत हो गए।

हड़प्पा के पतन के उपरांत 1000 वर्ष से भी अधिक समय तक भारत पुरातत्व सामग्री की दृष्टि से पूर्णतः रिक्त रहा, जिसकी पूर्ति इस समय केवल साहित्यिक सामग्री से ही हो सकती है।

पेज 21, 22, 23, 24

ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में जिन लोगों ने भारत में प्रवेश किया, उनमें 'भरत' कबीला प्रमुख था। ये लोग मुख्यतः पूर्वी पंजाब तथा सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती भागों में बस गए, जो बाद में 'ब्रह्मावर्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये लोग यज्ञों के समय अपने देवताओं की प्रशंसा के गीतों की रचना करते थे। नवीन गृहों में उनके मंत्र (गीत) कंठस्थ रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आते रहे और प्रथम सहस्त्राब्दी के आरंभ में उनको संकलित तथा क्रमबद्ध किया गया। उस समय तक वे लिपिबद्ध नहीं किए थे। भारत में लेखन कला के विस्तार के बाद भी मंत्र बहुत कम लिखे गए। मंत्रों का यह संग्रह "ऋग्वेद" है। ऋग्वेद तथा कण्ठस्थ धार्मिक साहित्य जिसकी रचना ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई है, यह हिंदू परंपराओं का सजीव अंश है।

ऋग्वैदिक संस्कृति

ऋग्वेद में वास्तविक समकालीन घटनाओं का वर्णन नहीं है, जिससे हमको इसके रचनाकाल की कोई सूचना प्राप्त हो सके। यह संभव है कि अधिकांश ऋग्वेद की रचना ईसा पूर्व से 1500 से 1000 वर्ष पूर्व तक हुई होगी, यद्यपि कुछ नवीनतम मंत्रों के संकलन तथा समस्त मंत्रों के संशोधन एवं संपादन में बाद की एक-दो शताब्दियां लगी होंगी। अनेक मंत्रों में आर्यों के एक कबीले से लिपि कबीले तथा दस्युओं के साथ युद्धों का प्रसंग प्राप्त होता है। दस्यु हड़प्पा संस्कृति के अनुजीवित थे तथा पंजाब और उत्तर-पश्चिम प्रदेश के संबंधी लोगों के प्रतिनिधि थे। दस्युओं का वर्णन काले रंग का लिंग पूजक तथा कटुवादी कहकर किया गया है। आर्य लोग यहां के प्राचीनतर निवासियों से अप्रभावित नहीं थे। आर्य अशिक्षित थे और युद्ध प्रिय तथा पशुपालक थे। जो छोटे-छोटे कबीलों में संगठित थे।

कबीलों का शासन प्रधानों द्वारा किया जाता था, जो राजा की पदवी धारण करते थे। आम व्यक्तियों की दो संस्थाएं सभा और समिति थीं। इन दोनों का राजा पर अत्यधिक प्रभाव था। राजा का एक सेनानी भी होता था, जो युद्ध में भाग लेता था। पुरोहित का पद बहुत महत्त्वपूर्ण था, जो युद्ध और शांति दोनों कालों में विजय के निमित्त ऐन्द्रजालिक संस्कारों का विधान करते हुए तथा मंत्रों का अस्पष्ट उच्चारण करते हुए कबीले के वैद्य के रूप में दिखाई देता है।

प्रारंभिक समय में राजा दैवीय प्रतिनिधि नहीं था। उस समय नियमित मालगुजारी प्रथा नहीं थी। प्रजा के उपहार तथा युद्ध में जीती हुई संपत्ति से राजा का निर्वाह होता था। प्रमुख कबीलों का नाम निम्न था—

– भरत कबीले का राजा सुदास

– पुरुष कबीला

– कुरु कबीला

आर्यों के कबीले के ढांचे में श्रेणी विभाजन पहले से ही था। वे रक्त की पवित्रता पर बल देते थे। जो आर्य दस्यु से शादी-विवाह कर लिए उन्हें समाज से दूर कर दिया गया। ऋग्वेद के अंतिम चरण में समाज चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया था। चार श्रेणियां-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। मंत्रों में वर्णित है कि चारों श्रेणियां आदिम मानव के अंग-विच्छेदन से उत्पन्न हुई थीं। उनके लिए प्रयुक्त संस्कृत शब्द 'वर्ण' रंग के अर्थ में आता है। वर्ण शब्द से जाति का अभिप्राय नहीं होता था।

– आर्यों के समाज की मूल इकाई कुटुंब थी। कुटुंब पितृसत्तात्मक थे। पत्नी पति पर आश्रित होती थी। साधारणतः एक विवाह की प्रथा थी। ऋग्वेद में संबंध-विच्छेद तथा विधवाओं के पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है।

– आर्य समाज में चार श्रेणी तथा उनके लिए प्रयुक्त संस्कृत शब्द वर्ण, रंग के अर्थ में आता है और यह स्वयं भिन्न-भिन्न रूप रंगों तथा विदेशी संस्कृति के लोगों के संपर्क से उनके मूल प्राचीन कबीलों की श्रेणियों के विकास की ओर संकेत करता है।

– आर्यों का आर्थिक जीवन पशुपालन तथा कृषि पर सम्मिलित रूप से निर्भर था, जिसमें पशुओं का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। कृषक पशु-वृद्धि के

लिए ईश्वर से प्रार्थना करता, योद्धा पशुओं के अपहरण की आशा करता तथा यज्ञादि में पुरोहितों को पशु ही उसकी सेवाओं के बदले भेंट किए जाते थे। वास्तव में पशु एक प्रकार के सिक्के थे और उनके द्वारा ही वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि उस समय पशु पवित्र समझे जाते थे। केवल एक-दो स्थानों पर ही गाय को अवध्य कहा गया है, परंतु इसमें केवल उसकी आर्थिक महत्ता ही अंतर्निहित हो सकती है। किसी भी दशा में यह पूर्णतः स्पष्ट है कि बैलों तथा गायों दोनों का ही खाने के लिए वध किया जाता था।

घोड़ा भी एक आवश्यक पशु था, जो रथों में जोता जाता था। कृषि कार्य भी अत्यंत आवश्यक रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे निम्नकोटि का कार्य समझा जाता था। अन्न के लिए एक 'यव' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ बाद में जौ लगाया गया है। आर्य जंगली और कलह प्रिय व्यक्ति थे। वे मादक पेय के अभ्यस्त थे। सोमपान यज्ञों के अवसर पर किया जाता था और उसे धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।

यद्यपि आर्यों ने न तो नगर सभ्यता का विकास किया और न ही पत्थर तथा ईंटों से कोई निर्माण कार्य ही किया था, परंतु फिर भी वे प्राविधिक ज्ञान से परिचित थे। ऐसा कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि उस समय लोहे का प्रयोग किया जाता था।

आर्य लोग आदान-प्रदान के लिए साधन तथा मूल्य की इकाई के लिए गाय पर निर्भर थे।

पेज नंबर 165 से 171

ऋग्वेद की रचना ईसा पूर्व 1500-900 के मध्य हुई। ऋग्वेद प्रार्थना मंत्रों का संग्रह है, जिसका उपयोग यज्ञों के समय किया जाता था। यजुर्वेद का संग्रह ऋग्वेद के एक या दो शताब्दी पश्चात किया गया। अथर्ववेद में जादू-टोना तथा तंत्र-मंत्र है, इसमें अनेक अनार्य तत्वों का समावेश है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रंथ, अरण्यक तथा उपनिषद आते हैं। ब्राह्मण ग्रंथ वेदों के परिशिष्ट माने जाते हैं। ब्राह्मण ग्रंथ का विषय मुख्यतया ईसा से पूर्व 800 और 600 के मध्य के युग की ओर दृष्टिपात करता है। इस साहित्य की रचना करने वाले व्यक्तियों का धर्म उत्तरकालीन भारत का नहीं है और बहुत से विद्वान इसको ब्राह्मण धर्म

या वैदिक धर्म कहते हैं, जिससे हिंदू धर्म से इसका विभेद स्पष्ट होता रहे।

ऋग्वेद का अधिकांश पूर्णतः समझ नहीं पाया गया है। आर्यों के आरंभिक देवता मुख्यतया आकाश से संबंधित थे और अधिकांशतः पुरुप थे। ऋग्वेद में कुछ देवियों का भी उल्लेख है, जैसे पृथ्वी, अदिति, उषा आदि। उनका प्रमुख देवता इंद्र था। उसके हाथ में वज्र रहता था। वह युद्ध और ऋतु का देवता था। वह आचारहीन देवता था, जिसे सुरापान और आनंद भोग प्रिय थे। अन्य प्रमुख देवता थे— सूर्य, पूषण (पशुओं का देवता), अग्नि आदि। अग्नि, देवता और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ था, क्योंकि वह यज्ञ-सामग्री का उपयोग करता और उसे देवताओं तक ले जाता था। वह गृह देवता भी था।

सोम एक पौधा था उससे सोम रस तैयार किया जाता था, जिसका पान केवल यज्ञों के समय होता था। वह अत्यंत शक्तिवर्धक प्रभाव रखता था। संभव है कि सोम भांग को कहा गया है, जो भारत के अनेक भागों में उत्पन्न होती है। वरुण भी एक देवता था, जिसे असुर कहा गया है। वरुण ऋतुओं का स्वामी था। वह पाप का कठोर दंडविधाता था। रुद्र देवता पर्वतों में रहता था और सामान्य रूप से वह भय का विषय था। वायु पवन का देवता था। अनेक अर्ध-देवता भी थे।

यज्ञ : आर्यों की धर्मास्था का केंद्र यज्ञ था। यज्ञ का प्रधान लक्ष्य वर प्राप्ति हेतु देवताओं को खुश करना था। ऋग्वेद का संबंध बड़े यज्ञों से है, जिसे कबीले के बड़े लोग प्रधान या धनीजन किया करते थे। इसमें कई पुजारी भाग लेते थे और पशुओं की बलि दी जाती थी। ये जटिल होते थे। सोमोन्मत्त आराधक देवताओं के विचित्र छायाभास देखते थे। उन्हें शक्ति के आश्चर्यजनक मनोवेगों का अनुभव होता था। यज्ञ का प्रधान लक्ष्य वर प्राप्ति के हेतु देवताओं को प्रसन्न करना था।

ऋग्वेद में हमें प्रायः ब्रह्म नामक एक रहस्यपूर्ण सत्ता के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उत्तर वैदिक काल में 'प्रजापति' देवता महत्त्वपूर्ण हो गए। उन्हें आदिपुरुष माना गया जो जगत के जन्म के पूर्व से ही अस्तित्व में था। ऋग्वेद के एक मंत्र में ब्राह्मण से भिन्न 'मुनि' नामक पूज्य व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। अन्य वर्ग व्रात्य था। अथर्ववेद में जिसका बहुधा उल्लेख है। ये वे आर्य थे जो धर्मनिष्ठा से च्युत हो चुके थे और जिसकी वेदों पर कोई श्रद्धा नहीं थी।

उत्तरकालीन वैदिक युग

ऋग्वेद के रचनाकाल तथा बौद्ध युग के बीच लगभग 400-500 वर्ष का समय व्यतीत हुआ। इस समय में आर्य पूर्व दिशा में गंगा के निचले प्रदेश तक बढ़ गए थे और उनकी संस्कृति ने परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया था। हस्तिनापुर नामक प्राचीन नगर की खुदाई हुई है और इसका समय ईसा पूर्व 1000 वर्ष से ईसा पूर्व 700 वर्ष पूर्व के बीच निश्चित किया गया है। यह काल उत्तर वैदिक युग का है, यहां से कुछ चित्रित भूरे रंग के मिट्टी के वर्तन, कुछ ताम्र अस्त्र तथा कच्ची ईंटों से निर्मित मकानों के कुछ अवशेष हमें मिले हैं। इसके अतिरिक्त कई जगहों से मात्र कुछ मिट्टी के बर्तन ही प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त हमको इस युग का स्पष्ट ज्ञान अन्य किसी वस्तु से नहीं होता है और हमारे ज्ञान के साधन अब भी पूर्णतः धर्मग्रंथ जैसे उत्तरकालीन वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद ही हैं। बाद की शताब्दियों में आकर इन ग्रंथों के मौलिक कथन में प्रक्षिप्त अंशों की मात्रा इतनी अधिक हो गई कि इनको ऐतिहासिक रूप देकर सर्वसाधारण की स्वीकृति प्राप्त करने में अभी तक कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो पाया है।

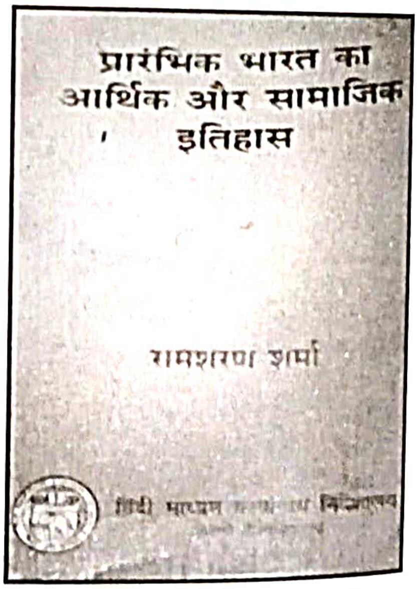
दूसरी पुस्तक–चित्र संख्या 45

पुस्तक का नाम : प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास

लेखक : रामशरण शर्मा

(हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय)

पेज नंबर 25, 26



चित्र संख्या (45)

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम है। इसकी रचना ईसा पूर्व 1500 के लगभग या उससे पहले हुई। ऋग्वेद के प्रथम और दशम मंडल बहुत बाद के माने जाते हैं। दसवें मंडल के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मण विराट पुरुष के सिर से पैदा हुआ, राजन्य (क्षत्रिय) उसके बाहु से निकला, वैश्य उसकी जंघा से निकला और शूद्र उसके पैर से निकला। उस उक्ति को प्रक्षिप्त माना गया है। उसके आधार पर कोई यह नहीं कह सकता है कि वर्ण-व्यवस्था ऋग्वेद काल से चली आ रही है। यहां यह

उल्लेखनीय है कि प्राचीन पुस्तकों में आसानी से प्रारंभ में या अंत में जोड़-तोड़ किया जा सकता था, इसलिए वैदिक साहित्य या इस प्रकार के अन्य साहित्य के अध्ययन में ग्रंथ के विभिन्न सुस्पष्ट स्तरों पर बराबर ध्यान रखना पड़ेगा, नहीं तो इतिहास निर्माण सही ढंग से नहीं हो पाएगा। अथर्ववेद में जादू टोने पाए जाते हैं और बीमारियों से कैसे छुटकारा पाया जाए, इसके उपाय मिलते हैं। इसका समय ईसा पूर्व 1000 के बाद रखा जाता है, इसमें अवैदिक संस्कृतियों के तत्वों की प्रधानता है।

यजुर्वेद का काल लगभग अथर्ववेद जैसा ही है और इसमें अनेक विधि-विधान और अनुष्ठान हैं। उत्तर वैदिक काल के अनुष्ठानों के द्वारा शूद्रों को धीरे-धीरे यज्ञ के अधिकार से वंचित किया जाता है। स्मृतियों का रचना काल लगभग 200 वर्ष ईसा पूर्व से 9वीं सदी तक है। परंतु अधिकांश स्मृतियों की रचना 6ठीं शताब्दी तक समाप्त हो गई।

कई विद्वानों का विचार है कि पुराणों में क्षत्रियों की परंपरा पाई जाती है। इन ग्रंथों में क्षत्रिय राजाओं की वंशावली दी गईं है, बहुत-सी वंशावली गढ़ी हुई हैं इसलिए उन पर भरोसा करना कठिन है। यदि हम गुप्तोत्तर काल के अभिलेखों का अवलोकन करें तो पता चलेगा कि नए-नए राजवंश अपनी वंशावली सूर्यवंश और चंद्रवंश से प्रारंभ करते हैं। ये वंशावलियां क्षत्रियों ने अपने लिए स्वयं नहीं बनाई, बल्कि ब्राह्मणों ने उनको तैयार किया। इसके बदले में ब्राह्मणों को भूमि अनुदान और लिपि प्रकार का भी दान मिलता था। वैदिक काल में चमड़े का काम भी अपवित्र नहीं माना जाता था। वैदिक युग में कारीगरों में चर्मकार शामिल थे और कारीगर जनजातीय समुदाय के अंग होते थे। परंतु उत्तर वैदिक काल में जैसे-जैसे पुरोहित और योद्धाओं के वर्ग उभरने लगे, वे हाथ के काम व कारीगर से केवल अलग ही नहीं हुए बल्कि इन कार्यों में लगे लोगों से घृणा करने लगे और अपने को पवित्र और भद्र मानने लगे।

वैदिक युग में जातियां स्वाभाविक रूप से पेशों पर आधारित थीं और व्यवसाय परिवर्तन संभव था। लेकिन सदियों बाद यह असंभव हो गया। महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि श्रम-विभाजन को इस तरह लागू किया कि ब्राह्मणों अथवा पुरोहितों और क्षत्रियों अथवा योद्धाओं को उत्पादन के कार्य से हटा लिया गया और यह केवल वैश्यों और शूद्रों के मत्थे मढ़ दिया गया। लेकिन

वैश्य-शूद्रावलंबी सामाजिक संरचना वैदिक-ऋग्वैदिक युग में नहीं पाई जाती है। प्रारंभिक वैदिक समाज मुख्यंतः पशुचारी था। गाय (गो) संपत्ति (रयि) की पर्यावाची मानी जाती थी और धनी व्यक्ति गोमत कहलाता था। युद्ध में लूटी हुई वस्तुओं और गायों से संपत्ति के मुख्य ढांचे वनते थे।

पेज 47, 48

ऋग्वेद में वर्ण अथवा वर्ग के नाम पर नहीं, बल्कि कवीलाई जाति के नाम पर लोग संगठित होते थे। परवर्ती वैदिक काल में भी कृषि का विकास उतना नहीं हुआ था। पुरोहित अपनी प्रार्थनाओं और धार्मिक अनुष्ठानों के वल पर देवताओं को प्रसन्न कर राजा के लिए विजयश्री हासिल करने वाले माने जाते थे। वैदिक युग के अंत में धीरे-धीरे ब्राह्मण अन्य सभी प्रकार के पुरोहितों को हटाकर पुरोहित वर्ग का एकमात्र प्रतिनिधि बन गया और सारी दक्षिणा के आधे का हकदार बन गया।

खेती और दस्तकारी में लोहे के व्यापक प्रयोग की शुरुआत के साथ छठी सदी ईसा पूर्व में ऐसी परिस्थिति पैदा हुई, जिसमें अंततः कवीलाई पशुचारी और प्रायः समतावादी वैदिक समाज बदलकर पूर्ण विकसित कृषि आधारित और वर्ग-विभाजित समाज बन गया। किसानों, कारीगरों, भाड़े के मजदूरों और खेतिहर गुलामों के द्वारा पैदा किए गए सामाजिक अधिशेष के उपभोग के लिए वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार हुआ। द्विजों को वेद-अध्ययन और यज्ञोंपवीत-धारण का अधिकारी बनाया गया और चौथे वर्ण के सदस्य अथवा शूद्रों को इससे अलग रखा गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों किसानों और कारीगरों द्वारा दिए गए करों, उपहारों और श्रम पर जीवन-यापन करते थे, इसलिए कभी-कभी इन दोनों के बीच हिस्सा पाने के लिए झगड़े हो जाते थे। लेकिन ये झगड़े वैश्यों और शूद्रों के विरोध का सामना करने के लिए निबटा लिए जाते थे।

गुप्त और गुप्तोत्तर कालों में बड़ी तेजी से जातियों की संख्या बढ़ी। बहुत हद तक जनजातीय इलाकों में भू-अनुदानों के कारण ऐसा हुआ। यद्यपि भारतीयों को लेखन कला की जानकारी 2500 ईसा पूर्व में ही थी। फिर भी उनका प्राचीनतम सुपाठ्य आलेख ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं मिलता है। **हड़प्पा युग के अंत तथा अशोक के शासन काल के बीच के अभिलेख अभी तक नहीं मिले हैं।** यद्यपि रूप विधान और विषयवस्तु के

आधार पर वैदिक साहित्य 1500 ईसा पूर्व का माना जाता है तथापि इसकी प्राचीनतम पांडुलिपि मध्यकाल में मिलती है। स्मरण-शक्ति के महत्त्व के कारण वैदिक मूल-पाठों को श्रुति की संज्ञा दी जाती है।

पेज 96-98

वैदिक मंत्रों का संकलन विभिन्न चरणों (स्कूलों) के द्वारा हुआ। शिष्यों की विभिन्न पीढ़ियों ने उनका संरक्षण किया और ईमानदारी के साथ बिना परिवर्तन के उनका पाठ चलाते रहे। भारत पर सिकंदर की चढ़ाई यद्यपि प्राचीन विश्व के इतिहास में बड़ी घटना थी, फिर भी उसकी विजय का उल्लेख किसी प्राचीन भारतीय लेख में नहीं मिलता है।

वैदिक युग के बाद से ही ज्योतिष संबंधी अनेक प्रथाएं आदिम जातियों से अपनाई गईं। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के हित में इनको विस्तृत और परिष्कृत किया गया। राजा से लेकर किसान तक और ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक समाज के सभी वर्गों को इन अंधविश्वासों में आस्था थी जिससे वे सब एक वैचारिक सूत्र से बंधे थे। पुनर्जन्म की भावना और स्वर्ग एवं नरक की धारणा में विश्वास का प्रसार ब्राह्मणवादी लेखकों ने किया। *(पेज नंबर 113)*

यद्यपि भारत में वैदिक काल के बाद से संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था और पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से संस्कृत में अनेक प्रकार के सूत्रों की रचना हो रही थी। फिर भी वैदिकोत्तर काल के सुधारवादी धार्मिक संप्रदायों ने इस भाषा का प्रयोग नहीं किया। इसके विपरीत जैनों और बौद्धों ने जनता द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा को अपनाना अधिक पसंद किया। यूनानी प्रभाव के कारण भारतीयों ने जन्मकुंडली विकसित थी। *(पेज नंबर 114 से 122)*

आर्यों और हड़प्पावासियों के भौतिक जीवन में जो उल्लेखनीय अंतर दिखाई देता है वह धातुओं के उपयोग में नहीं वरण इस तथ्य में निहित है कि ऋग्वैदिक काल में शहरों का अस्तित्व प्रायः एकदम नहीं है। आर्यों को अनाज की केवल एक किस्म 'यव' की जानकारी थी। इसे या तो विभिन्न अनाजों का सूचक जाति-नाम माना जाना चाहिए था या फिर इसका शाब्दिक अर्थ 'जौ' ग्रहण किया जाना चाहिए। ऋग्वैदिक काल के आरंभ में पशुपालन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। इसके महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि गविष्टि (जिसका शाब्दिक अर्थ है गायों की खोज)

युद्धों का पर्याय माना जाता था। गायों के लिए बराबर प्रार्थनाएं की जाती थीं और पुत्री को दुहितृ कहते थे जिसका शाब्दिक अर्थ है, गाय दुहने वाली। यह बात बड़ी अजीब लगती है कि भारी वर्षा वाले मैदानों में कृषि उत्पादन पर आधारित हड़प्पाई चरण की नगर व्यवस्था के बाद सात नदियों वाले इस प्रदेश में पशुचारी अवस्था का आविर्भाव हुआ हो। ऋग्वैदिक काल में लोगों को रुई की जानकारी नहीं थी, हालांकि हड़प्पाई जनों को यह जानकारी थी। ऋग्वैदिक समाज में विनिमय वितरण या उपभोग का स्वरूप क्या था, इनके बारे में कोई स्पष्ट विचार उपलब्ध नहीं है। *(पेज 134 से 136)*

चूंकि ऋग्वैदिक आर्य मुख्यतः युद्ध में लगे रहते थे, अतः उनके पास व्यापार के लिए अपेक्षित अधिशेष उत्पादन के लिए कोई समय नहीं था। उत्तर वैदिक काल में आर्य, सिंधु घाटी और उसकी सहायक नदियों के मैदानों से सिंधु-गंगा विभाजक और उच्च गंगा द्रोणी के विस्तार में आ गए। लिपि शब्दों में उन्होंने पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान से मिले हुए क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। *(पेज 137)* भारत में शहरों का उदय हड़प्पाकालीन कांस्य युग में 2350 ईसा पूर्व के लगभग हुआ, फिर ईसा पूर्व 1750 के आस-पास उनके विलीन होने पर उनका एक बार फिर उदय मध्य गंगा के मैदानी इलाकों में ईसा पूर्व 500 के लगभग हुआ। हड़प्पाई शहरों में और गंगा के मैदानी शहरों में एक बहुत बड़ा अंतर शहरों की जीवन अवधि का है। परंतु यह विस्मय का विषय है कि हड़प्पाई शहरों के विलीन होने पर उपमहादेश के उस भाग में करीब 1000 से अधिक वर्षों तक शहरों का उदय नहीं हुआ। उससे भी बढ़कर यह आश्चर्यजनक है कि हड़प्पाई नगर योजना के अंत होने पर उपमहादेश से ईंटें भी गायब हो गईं। हड़प्पाई क्षेत्रों में या देश के अन्य भागों में मौर्यकाल के आगमन के पहले पकी हुई ईंट नहीं पाई जाती है।

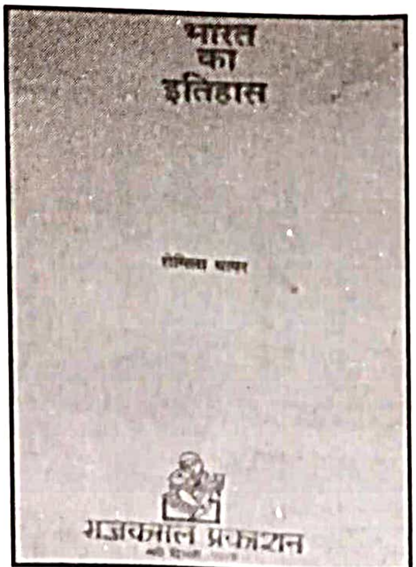
तीसरी पुस्तक– चित्र संख्या 46

पुस्तक का नाम : भारत का इतिहास

लेखक : रोमिला थापर

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

पहला हिंदी संस्करण : 1975 (पुनः मुद्रित 1995)



चित्र संख्या (46)

पेज नंबर 19, 20, 21, 22

भारत के मानवीय कार्यकलाप के जो प्राचीनतम चिह्न अब तक मिले हैं वे 400000 ईसा पूर्व से 200000 ईसा पूर्व के बीच लिपि तीसरे हिम-युगों के संधिकाल के हैं और वे इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि उस समय पत्थर के उपकरण काम में लाए जाते थे। इसके पश्चात एक लंबे अरसे तक विकास मंद गति से होता रहा, जिसमें अंतिम समय में जाकर तीव्रता आई और उसकी परिणति 2300 वर्ष ईसा पूर्व लगभग सिंधु घाटी की आलीशान सभ्यता के रूप में हुई। प्राचीन सभ्यताओं में क्षेत्रफल कई दृष्टि से हड़प्पा संस्कृति का विकास सबसे अधिक था। यह मूलतः एक नगर संस्कृति थी। 1700 ईसा पूर्व तक हड़प्पा संस्कृति का ह्रास हो चुका था और 1500 ईसा पूर्व के लगभग ईरान से भारतीय आर्यों के प्रवजन के फलस्वरूप उत्तर-पश्चिमी भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कुछ नई विशेषताओं का समावेश हुआ।

उपमहाद्वीप के इस क्षेत्र का सिंधु नदी और हिंदुकुश पर्वत के उत्तर और पश्चिम के क्षेत्रों से संपर्क हमेशा बना रहा। कई बार यह उनकी राजनीति में भी आत्मसात हुआ और उनके सांस्कृतिक मिश्रण का अंग बना। पूर्व की ओर गंगा के मैदान में ऐसे लोगों की छोटी-छोटी बस्तियों के प्रमाण मिलते हैं जो शिकार और खेती के बीच संक्रमण की अवस्था में थे और विभिन्न प्रकार के पाषाण और तांबे के उपकरण तथा कुछ घटिया किस्म के कपिशवर्ण मिट्टी के बर्तन काम में लाते थे। भूरे रंग वाले बर्तनों के स्थल गंगा घाटी के पश्चिमी भागों में पाए गए हैं, जिनका काल 1100 ईसा पूर्व से 1500 ईसा पूर्व के बीच है। भूरे रंगे बर्तनों वाले स्थल खेतिहर समुदाय के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जिनका परिचय पशु-पालन के साथ-साथ घोड़ों से भी था। इन स्थलों से अब तक प्राप्त साक्ष्य मोटे तौर पर वैदिक स्रोतों में दिए गए आर्य संस्कृति के विवरण से मेल खाते हैं। कुछ पुराने स्थलों पर भी अभी हाल में ही लोहा भी पाया गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि भारत में लोहे का प्रयोग लगभग 800 ईसा पूर्व की साधारणतया स्वीकृत तिथि के पहले भी होता था।

नृवंशीय अध्ययनों से भारतीय उपमहाद्वीप में छह मुख्य प्रजातियों का पता चला है। प्राचीनतम लोग स्पष्टतः नेग्रिटो थे, उसके बाद प्रोटो-आस्ट्रेलियाई, मंगोलियाई, भूमध्यसागरीय और फिर आर्य संस्कृति से संबद्ध जातियां आईं।

हड़प्पाई संस्कृति के केंद्रों में प्रोटो-ऑस्ट्रेलियाई, भू-मध्यसागरीय, अल्पाइन तथा मंगोलियाई अस्थि पंजरों के अवशेष मिलने के प्रमाण हैं। प्रोटो-ऑस्ट्रेलियाई भारत की जनसंख्या के आधारभूत अंग थे और उनकी बोली ऑस्ट्रिक भाषा समूह की थी, जिसका एक नमूना कुछ आदिम कबीलों की मुंडा बोली में आज तक उपलब्ध है।

आर्य वास्तविकता में एक भाषिक पद है, जिससे भूरोपीय मूल के एक भाषा समूह का बोध होता है– नृवंशीय पद नहीं है। अतः आर्यों के आगमन की बात करना त्रुटिपूर्ण है। किंतु प्राचीन भारत के ऐतिहासिक अध्ययनों में यह त्रुटि इतनी अधिक प्रचारित हो चुकी है कि आर्यों को आर्यभाषी लोग कहना अनुचित रूप से पांडित्य का प्रदर्शन प्रतीत होगा।

पेज 25, 26

हमारा प्राचीनतम साहित्य स्रोत ऋग्वेद है, जिसके कुछ भागों की रचना 1000 वर्ष ईसा पूर्व से पहले हुई थी। शेष वैदिक साहित्य– सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की रचना बाद में हुई है। आर्यों के जीवन और संस्थाओं के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण का आधार यही साहित्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप से महाभारत एक स्थानीय संघर्ष का विवरण रहा होगा, परंतु चारणों की कल्पना ने इसे बढ़ा-चढ़ाकर अंत में ऐसा रूप प्रदान कर दिया है कि हम इस उपमहाद्वीप के समस्त जनों और लोगों को इस युद्ध में भाग लेते हुए पाते हैं। ऐसा मालूम होता है कि ऋग्वेद के समय में ये पंजाब और दिल्ली के प्रदेशों में तो फैले चुके थे, किंतु उन्होंने अभी पूर्व की ओर बढ़ना आरंभ नहीं किया था।

हस्तिनापुर में हुई खुदाई से ज्ञात होता है कि 700 ईसा पूर्व के लगभग लोहे का प्रयोग होने लगा था। लोहे के उन्नत औजार के कारण विस्तार की गाति बढ़ी तथा इसी कारण से खेती का कार्य आसान हो गया। अब धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतन के लिए अधिक अवकाश मिलने लगा, जैसा कि लगभग 700 ईसा पूर्व एवं इसके बाद रचित ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों से स्पष्ट है। जनजातियों के बीच अक्सर होने वाले युद्धों का कारण संभवतः पशुओं की चोरी और भूमि संबंधी झगड़े होते थे।

युद्ध अंतर-जन संघर्षों तक ही सीमित नहीं थे। आर्यों को अब उत्तरी

भारत के मूलनिवासियों से संघर्ष करना था, जो अनार्य थे और जिनको आर्य लोग हेय समझते थे। इन अनार्य जातियों को पणि और दास कहा गया है। दास क्षुद्र समझे जाते थे, क्योंकि उनका रंग काला होता था और उनके नाक-नक्श चपटे होते थे। इसके विपरीत ऐसा विश्वास किया जाता है कि आर्यों की त्वचा गोरी थी और उनके नाक-नक्श स्पष्ट एवं सुंदर थे।

आर्य भारत में अर्ध-विचरणशील पशुचारियों के रूप में आए थे। उनका निर्वाह मुख्यतः पशु-उत्पादनों से होता था और कुछ समय तक पशु-पालन ही उनका मुख्य व्यवसाय रहा। उनके लिए गाय, मूल्य का माप थी और बड़ी बहुमूल्य वस्तु समझी जाती थी। सामान्य रूप से गौ-मांस खाना वर्जित था, परंतु कुछ विशेष अवसरों पर गौ-मांस खाना शुभ समझा जाता था। गाय तो वैसे ही पूजी जाती थी, परंतु आर्थिक दृष्टि से उसका महत्त्व होने के कारण उसे और भी श्रद्धा से देखा जाता था। जनों के अधिक स्थायी रूप से बसने पर इनके पेशे में भी परिवर्तन हुआ। पशुपालन के स्थान पर उन्होंने कृषि को अपनाया। प्रारंभ में भूमि गांव की सांझी संपत्ति होती थी, परंतु ज्यों-ज्यों जन-इकाइयां समाप्त होती गईं और इस प्रकार निजी संपत्ति का जन्म हुआ। बढ़ई समुदाय का एक अत्यंत सम्मानित सदस्य बना रहा, क्योंकि वह केवल रथ ही नहीं बल्कि अब हल भी बनाता था। कृषि ने व्यापार का मार्ग प्रशस्त किया। गंगा घाटी के साथ-साथ पूर्व की ओर भूमि साफ हो जाने से गंगा नदी प्राकृतिक रूप से व्यापार का मुख्य मार्ग बन गई। इस प्रकार समाज के भूपतियों में से ही व्यापारी वर्ग का जन्म हुआ। इस समय व्यापार का अर्थ था वस्तु के बदले वस्तु लेना-देना। बड़े सौदों में गाय मूल्य की इकाई मानी जाती थी।

प्रारंभ में वैदिक राजा मुख्यतः सैनिक नेता होता था। उसे वस्तुओं के रूप में स्वेच्छा से उपहार मिलते थे। उसे भूमि पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। राजा को दैवी गुण प्रदान करने के लिए विशेष यज्ञ किए जाते थे और यह कार्य पुरोहित करते थे, जो मनुष्यों और देवताओं के मध्यस्थ समझे जाते थे। इस विचार की स्वीकृति होने के साथ कि राजा में दैवी गुण है, पुरोहित को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और यहीं से राजाओं और पुरोहितों की पारंपरिक निर्भरता का श्री गणेश हुआ। *(पेज 31, 32)*

जब आर्य लोग सबसे पहले भारत में आए, तो वे तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे— योद्धा अथवा कुलीन वर्ग, पुरोहित एवं सर्वसाधारण।

वर्ण-चेतना उस समय बिल्कुल नहीं थी, जैसा कि इस प्रकार के कथनों से सिद्ध होता है कि "मैं चारण हूं, मेरा पिता वैद्य है और मेरी मां अनाज पीसती है। व्यवसाय पैतृक नहीं थे।" (पेज 32)

हड़प्पा के लोगों की तो अपनी लिपि थी, परंतु आर्यों की बहुत समय बाद तक भी अपनी कोई लिपि नहीं थी। भारत में उपलब्ध प्राचीनतम नमूनों (सम्राट अशोक के शिलालेख, जो तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हैं) को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारंभिक लिपि सैमिटिक लेखन पद्धति से प्रभावित हुई होगी। शिक्षा उच्च वर्णों तक ही सीमित थी और वेदों का अध्ययन साधारणतया ब्राह्मण ही कर सकते थे। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से समस्त द्विज वर्णों को अध्ययन की अनुमति थी।

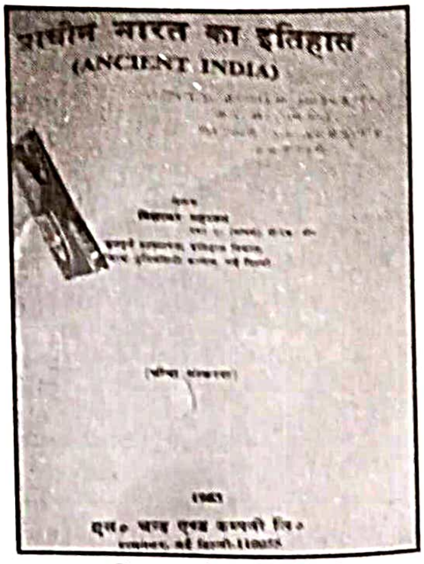
ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्यों के धर्म का मूल रूप दिखाई देता है। ऋग्वैदिक धर्म ने यद्यपि परवर्ती हिंदू धर्म के कई पक्षों का स्वरूप निर्धारित करने में योगदान किया है, पर फिर भी यह उससे भिन्न है। आर्यों के प्राचीनतम धार्मिक विचार प्रारंभिक जीवात्मवाद के थे, जहां वे अपने चतुर्दिक स्थित शक्तियों में, जिन्हें वे नियंत्रित नहीं कर पाते थे या समझ नहीं पाते थे, दैवी-शक्ति का आरोप करके देवी या देवता के रूप में उनकी उपासना करते थे। इंद्र आर्यों का अवतार पुरुष माना जाता था। वह शक्ति का देवता था, अग्नि परिवार के चूल्हे का अधिपति था। उसकी उपस्थिति में ही विवाह संपन्न होते थे। वह देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ था। आर्यों के धार्मिक जीवन का केंद्रीय तत्व था यज्ञों में विश्वास। आर्य समझते थे कि यज्ञ से उत्पन्न होकर ही देवता उन्हें वरदान देते हैं। आर्यों की यज्ञ-प्रथा का विकास प्रारंभ काल की आदिम क्रियाओं से हुआ था, जिनका प्रयोग बलि के समारोहों में होता था।

चौथी पुस्तक– चित्र संख्या 47

पुस्तक का नाम : प्राचीन भारत का इतिहास

लेखक : वी.डी. महाजन (विद्याधर महाजन)

प्रकाशक : एस. चांद एंड कंपनी लि., आसफ अली रोड, नई दिल्ली-02, पहला संस्करण-1962 (पुनः मुद्रित 1983)



चित्र संख्या (47)

पेज नंबर 74 से

आर्यो का मूल स्थान— आर्यों के मूलनिवास स्थान के विषय में काफी मतभेद है। किसी प्रकार का एकमत अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। सबसे महत्त्वपूर्ण विचार तो यह रहा है कि आर्य शुरू-शुरू में मध्य एशिया में रहते थे। प्रो. मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक भाषा विज्ञान (Lectures on the Science of Languages) में बताया है कि भारतीय, यूनानी, ईरानी आदि जातियों के आदि पूर्वज इकट्ठे रहे होंगे। (ऐसा मत है)

डॉ. होर्नल ने यह विचार प्रस्तुत (ऐसा मत है) किया है कि आर्यों ने भारत पर दो आक्रमण किए। प्रथम आर्य समुदाय पंजाब आया और वहीं बस गया। दूसरे आर्य समूह गिलगित और चित्रल के रास्ते आए और हिमालय से यमुना गंगा के संगम तक फैल गए।

वैदिक साहित्य— वेद शब्द संस्कृत भाषा के विद् शब्द से बना है, इसका अर्थ ज्ञान होता है। हिंदू वेदों को ईश्वर द्वारा रचित ग्रंथ मानते हैं। हिंदुओं ने वेदों को पवित्र समझा और उन्हें कंठस्थ कर लिया, इसलिए वेदों को श्रुति कहते हैं। उन्हें बिना समझे रट लिया जाता था। उनमें परिवर्तन की आज्ञा नहीं थी।

पेज नंबर 91 से 96

ऋग्वेद संसार में सबसे प्राचीन पुस्तक है। इसके रचनाकाल के विषय में इतिहासकार पूर्णतः असहमत हैं। मैक्समूलर का मत था कि ऋग्वेद की रचना 1000 ई.पू. में पूर्ण हो गई होगी।

प्राचीन हिट्टाइट राज्य की राजधानी बोगजकोई में पाई गई मिट्टी की पट्टिकाओं से ऋग्वेद के काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यह खोज 1907 में एशिया माइनर में ह्यूगो विक्लर ने की। चौदहवीं शती ई.पू. के आरंभ में हिट्टाइट शासक और मिटानी के शासक के बीच की गई संधियां भी इन पट्टिकाओं में सम्मिलित हैं। इन संधियों में कुछ देवताओं का रक्षक के रूप में उल्लेख है। उन देवताओं के नाम हैं— मित्र, वरुण, इंद्र और नास्त्य। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पूर्वतम वैदिक श्लोकों की रचना संभवतः लगभग 1500 ईसा पूर्व के बाद नहीं हुई थी। लेकिन ओल्डनबर्ग का विचार है कि इस खोज से ऋग्वेद के लिए अधिक प्राचीनता स्वीकार करने का कोई कारण प्राप्त नहीं होता है। उनका विचार है कि ये देवता भारतीयों से मिलते जुलते किंहीं पश्चिमी आर्यों के हैं जिन्हें

उन्होंने किसी सामान्य अतीत से प्राप्त किया था। जैसा कि भारतीयों ने भी अपने देवता उसी स्रोत से प्राप्त किए। (सिर्फ मतों का अवलोकन मात्र है)

सामाजिक अवस्था (पेज 96 से आगे)– ऋग्वेद में एक ऊंची स्तर की सुव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का संकेत मिलता है। साधारण जनता में एक से अधिक विवाह करने की प्रथा नहीं थी, लेकिन राजवंशों में बहु-विवाह प्रचलित थे। संतान न होने की स्थिति में विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति थी। कन्या का विवाह अनिवार्य नहीं समझा जाता था। बाल-विवाह नहीं होते थे। दहेज की प्रथा सामान्यतः प्रचलित थी। किंतु कभी-कभी वधू खरीदने के लिए वर को वधू के माता-पिता को नकद मूल्य देना पड़ता था।

ऋग्वैदिक भारत में जाति-प्रथा की उपस्थिति या अनुपस्थिति के विषय में विद्वान सहमत नहीं हैं। आर्यों तथा अनार्यों में भेद था। अनार्यों को दास या असुर कहते थे। अनार्यों को काले रंग वाले और बिना नाक के या चपटी नाक वाले लोग भी कहा जाता था। उनकी भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न थी। वे वैदिक देवताओं की पूजा नहीं करते थे।

दूध और उससे बने हुए पदार्थ आर्यों के भोजन के प्रमुख अंग थे। वेदि पर चढ़ाई गई भेड़ों-बकरियों का मांस भी खाया जाता था। गाय को पवित्र माना जाता था और उसे अवध्य अर्थात हिंसा के अयोग्य समझ कर नहीं काटा जाता था। सोम रस और सुरा का प्रयोग किया जाता था, किंतु मादक द्रव्य के रूप में सुरा के प्रयोग को बुरा समझा जाता था।

ऋग्वैदिक भारत के आर्य खानाबदोश नहीं थे। वे एक स्थान पर रहते थे और लकड़ी व फूस की कुटिया बनाते थे।

आर्थिक अवस्था– ऋग्वैदिक आर्य अधिकतर खेती करते थे इसलिए कृषि को बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। उगाए हुए अनाज को यव और धान्य कहते थे। जीवन-निर्वाह, क्रीड़ा तथा जंगली जानवरों से अपने गाय-बैलों की रक्षा करने के लिए ऋग्वैदिक भारतवासी शिकार करते थे। ऋग्वैदिक समाज में बढ़ई भी महत्त्वपूर्ण काम करता था।

ऋग्वैदिक समाज में पदार्थों की अदल-बदल का तरीका भी लागू था। लोग ऋण भी लेते थे और ब्याज भी देते थे। यहां ध्यान देने योग्य बात है कि एक ऋषि का पिता वैद्य था और मां अनाज पीसती थी।

धार्मिक अवस्था— ऋग्वैदिक लोगों का धर्म बहुत सरल था। प्रकृति के रूप में वे कई देवताओं की पूजा करते थे। वरुण को आकाश का देवता कहा जाता था। वरुण से अगला स्थान इंद्र का है, जिसे मेघ का देवता मानते थे। वह युद्ध-प्रिय भी था। श्लोकों में दस्युओं के साथ उसके युद्धों का वर्णन भी है। गंधर्व या वायु आत्माएं ऋभु या वायु-पुरुष और अप्सराओं या जलसुंदरियों जैसे गौण देवी-देवता भी थे। ऋग्वैदिक भारत में पशु-पूजा नहीं होती थी। ऋग्वैदिक लोग देवताओं से उस समय भी प्रार्थना करते थे जब उन्हें किसी वरदान की आवश्यकता होती थी। इसी कार्य के लिए यज्ञ किए जाते थे और दूध अनाज और मांस आदि पदार्थ यज्ञों में भेंट चढ़ाए जाते थे। ऋग्वैदिक लोग मरणोपरांत जीवन में भी विश्वास रखते थे।

राजनीति अवस्था— ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुत बड़ा क्षेत्र आर्यों के अधिकार में था। भरतगण जिनके नाम पर ही हमारे देश का नामकरण किया गया है। ये लोग सरस्वती और यमुना के बीच की भूमि पर रहते थे। भरत जाति के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शासक थे— दिवोदास और सुदास। दास, आर्य देवताओं में विश्वास नहीं रखते थे और लिंग की पूजा करते थे।

ऋग्वेद में राजा को गोपजनस्य (प्रजा का रक्षक) और पुरामभेत्ता (नगरों पर विजय पाने वाला) कहा गया है। राजा उस समय प्राचीन जातियों का शासक नहीं था। प्रजा की रक्षा का भार राजा पर था। देवताओं को भेंट की गई आहुति या प्रसाद को ऋग्वेद में वलि कहा गया है। प्रजा से कर संभवतः पदार्थ के रूप में लिया जाता था। राजा को प्रजा के खाने वाले के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका अर्थ था प्रजा की सहायता पर रहने वाला। वह भूमि का स्वामी नहीं था। वह तो विशेष रूप से युद्ध-कालीन स्वामी था।

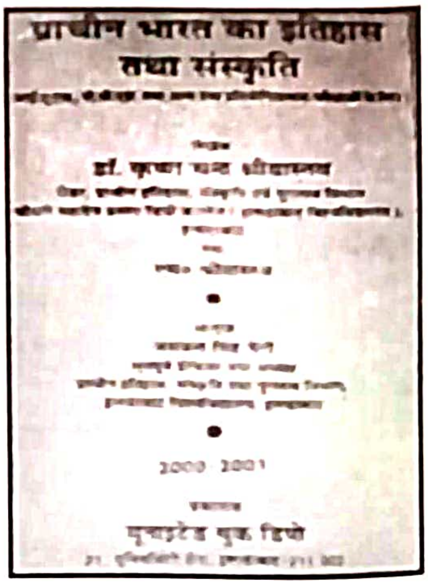
ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संस्कारों तथा अनुष्ठानों के लिए राजा कई पुरोहितों को नियुक्त करता था। राजा न्यायाधीश के रूप में भी काम करता था। वह स्वयं अदंड्य या दंड मुक्त था। पुरोहित सभी धार्मिक कार्यों में राजा का प्रतिनिधि था। डॉ. कीथ का मत है कि वैदिक पुरोहित ब्राह्मण राजनीतिज्ञों का अग्रगामी था। सभा और समिति जैसे सार्वजनिक निकायों के कारण राजा की निरंकुशता काफी सीमा तक सीमित हो जाती थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि सारी प्रजा या उसकी उपस्थिति में समिति नामक संस्था राजन् या राजा का निर्वाचन करती थी।

उत्तर कालीन वैदिक सभ्यता– उत्तर कालीन वैदिक सभ्यता का वर्णन सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य पूर्व की ओर जाकर बस गए और कुरुक्षेत्र उनका रंगमंच वना। उनके पुराने रीति-रिवाज समाप्त होते गए और नए राज्यों की स्थापना हुई।

ऋग्वेद में मगध के लोगों को 'व्रात्य' कहा गया है। उन्हें नीच तथा खानावदोश समझा जाता था। इस युग में साम्राज्यवाद का भी विकास हुआ। यह बताया गया है कि इस युग में राजा निरंकुश नहीं था। कुछ गणतंत्रीय तत्व भी विद्यमान थे। लोगों को भी राजा के चुनाव में कुछ शक्तियां प्राप्त थीं।

इस काल में जाति-प्रथा भी विकसित हुई। विभिन्न व्यवसायों को विभिन्न जातियों ने अपना लिया, लेकिन अभी यह प्रथा उतनी कठोर नहीं बनी थी। जाति बदलना वहुत कठिन था, लेकिन नितांत असंभव नहीं था। उपनिषदों में आध्यात्मिक ज्ञान पर अत्याधिक वल दिया गया है। यज्ञों को आवश्यक नहीं समझा जाता था और यज्ञ करने वालों को मूर्ख समझा जाता था। उस समय कुछ सुयोग्य और विदुषी स्त्रियां भी थीं, उन्हें 'ब्रह्मवादिनियां' कहा गया है। लेकिन स्त्रियों की सामान्य स्थिति वहुत खराव थी।

(पेज 108 से 112) ब्राह्मणकाल में यज्ञों की संख्या में वृद्धि हुई। इस काल में रुद्र और विष्णु को मान्यता प्राप्त हुई। कृपि अव भी लोगों का मुख्य व्यवसाय था। कई प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है– धोवी, कसाई, नाई, मछियारा, रथवान आदि। स्त्रियों को टोकरी बनाने वाली, रंगसाज, कढ़ाई करने वाली आदि कहा गया है।


प्राचीन भारत का इतिहास
तथा संस्कृति
2000-2001
यूनाइटेड बुक डिपो

चित्र संख्या (48)

पांचवीं पुस्तक– चित्र संख्या 48

पुस्तक का नाम : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति

लेखक : डॉ. के.सी. श्रीवास्तव (डॉ. कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव)

प्रकाशक : यूनाइटेड बुक डिपो, 21 यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद, रीडर, प्राचीन इतिहास, चौधरी

महादेव प्रसाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद वि.वि., पहला हिंदी संस्करण-1991, संस्करण 2000-2001 भारत में आर्य तथा पूर्व वैदिककालीन सभ्यता (पेज 3 से.....)

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास अत्यंत गौरवपूर्ण रहा है, परंतु दुर्भाग्यवश हमें अपने प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए उपयोगी सामग्री बहुत कम मिलती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रंथों का प्रायः अभाव सा है जिन्हें आधुनिक परिभाषा में इतिहास की संज्ञा दी जाती है।

वेद भारत के सर्वप्राचीन धर्म ग्रंथ हैं, जिसका संकलनकर्त्ता महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को माना जाता है। भारतीय परंपरा वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय मानती है। वैदिक युग की सांस्कृतिक दशा के ज्ञान का एकमात्र स्रोत होने के कारण वेदों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत ज्यादा है।

वेदों की संख्या चार है— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद न केवल भारतीय आर्यों की, अपितु समस्त आर्य जाति की प्राचीनतम रचना है। विद्वानों के अनुसार आर्यों ने इसकी रचना पंजाब में की थी, जब वे अफगानिस्तान से लेकर गंगा-यमुना के प्रदेश तक ही फैले थे। ऋग्वेद का अधिकांश भाग देव-स्रोतों से भरा हुआ है और इस प्रकार उसमें ठोस ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है। सामवेद तथा यजुर्वेद में किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अंधविश्वासों का विवरण मिलता है।

सबसे प्राचीन अभिलेखों में मध्य एशिया के बोगजकोई से प्राप्त अभिलेख हैं। इनमें वैदिक देवता मित्र, वरुण, इंद्र और नास्त्य (अश्विनी कुमार) के नाम मिलते हैं। ये लगभग 1400 ई.पू. के हैं।

आर्यों का इतिहास हमें मुख्यतः वेदों से ज्ञात होता है, जिसमें ऋग्वेद सर्वप्राचीन होने के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः ऐसा माना गया है कि जिन विदेशी आक्रांताओं ने सैंधव नगरों को ध्वस्त किया था, वे आर्य ही थे। स्वयं ऋग्वेद में इस संघर्ष का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इंद्र को दास-दस्युओं का विनाश करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में दास-दस्युओं की जो विशेषताएं वर्णित हैं वे सब सैंधव निवासियों में देखी जा सकती हैं। दास-दस्युओं को लिङ्ग पूजक (शिश्नःदेवाः) कहा गया है।

पेज 62 से आगे

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आर्यों का प्रसार अफगानिस्तान से गंगा घाटी तक था। आर्य कई जनों में विभक्त थे। देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द आया है। आर्यों के ये विभिन्न जन परस्पर लड़ा करते थे। ऋग्वैदिक युग में राजा भूमि का स्वामी नहीं होता था, वह प्रधानतः युद्ध का नेता होता था। सभा और समिति नामक दो संस्थाएं राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखती थीं। युद्ध के समय पुरोहित राजा के साथ जाता था तथा विजय के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। ऋग्वेद में वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि पुरोहितों के नाम मिलते हैं।

ऋग्वैदिक समाज का आधार परिवार था। परिवार पितृ-सत्तात्मक होता था। ऋग्वैदिक कालीन समाज प्रारंभ में वर्ग-विभेद से रहित था तथा समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। आर्यों को गौर वर्ण तथा दासों को कृष्ण वर्ण का कहा गया है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द रंग के अर्थ में तथा कहीं-कहीं व्यवसाय चयन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वैदिक समाज में विवाह एक पवित्र बंधन माना जाता है। ऋग्वेद में जायेदस्तम अर्थात पत्नी ही गृह है, कहकर उसके महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। बाल-विवाह एवं विधवा-विवाह नहीं होते थे। अंतर्जातीय विवाह होते थे, परंतु आर्यवर्ण का दासवर्ण के साथ विवाह निषिद्ध था। विवाह का मुख्य उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति करना था। समाज में सती-प्रथा के प्रचलित होने का उदाहरण नहीं मिलता। पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में घोसा, लोपा, मुद्रा, विश्ववारा आदि स्त्रियों के नाम आते हैं, परंतु स्त्रियों को राजनीति में भाग लेने का अधिकार नहीं था और उन्हें संपत्ति संबंधी अधिकार नहीं प्राप्त थे।

आर्य मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकार के भोजन करते थे। प्रायः भेड़, बकरी आदि पशुओं का मांस खाया जाता था। गाय के लिए अहन्या (न मारने योग्य) शब्द मिलता है। सोम तथा सुरा आर्यों के मुख्य पेय थे।

आर्यों की संस्कृति मूलतः ग्रामीण थी। अतः उनके आर्थिक जीवन के मूलभूत आधार कृषि और पशुपालन थे, परंतु ऋग्वैदिक आर्य चावल से परिचित थे। पशु आर्यों की संपत्ति समझे जाते थे। मुख्यतः गाय विनिमय का माध्यम होती थी। ऋग्वैदिक समाज में व्यवसाय आनुवंशिक नहीं थे। तथापि ब्राह्मण मुख्यतः याज्ञिक क्रियाओं को संपन्न कराते थे, क्षत्रिय युद्ध संबंधी कार्यों में व्यस्त रहते थे और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करते थे। परंतु शूद्रों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के लोग किसी भी पेशे को अपना सकते थे।

आर्यों के सामारिक जीवन में रथों का अधिक महत्त्व होने के कारण तक्षा (बढ़ई) की सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक बढ़ी हुई थी।

ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन जितना ही सरल था, धार्मिक जीवन उतना ही अधिक विषद् तथा जटिल था। यहां हमें प्रारंभ में बहुदेववाद के दर्शन मिलते हैं। आर्यों के प्रधान देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि हैं जिनका मानवीकरण किया गया है। ऋग्वैदिक मंडल में पुरुष देवताओं की संख्या ही अधिक है। कुछ देवियों के नाम भी मिलते हैं। सभी देव समूह में इंद्र, वरुण तथा अग्नि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

ऋग्वैदिक आर्यों ने अपने देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में ही की तथा उनमें समस्त मानवोचित गुणों को आरोपित कर दिया। देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा की जाती थी। यज्ञीय विधि-विधान अत्यंत जटिल थे। देवोपासना मुख्यतः भौतिक कल्याण जैसे युद्ध में विजय, अच्छी खेती, संतान प्राप्ति आदि के लिए की जाती थी। ऋग्वैदिक ऋषियों के विचार पूर्णतया आशावादी थे, जिसमें निराशावाद की कोई झलक नहीं मिलती है। आर्यों के परलोक विषसयक विचार अधिक स्पष्ट नहीं हैं।

उत्तर वैदिक काल (पेज 78 से आगे)

इस काल का इतिहास हमें ऋग्वेद के आधार पर ही विकसित संहिता, ग्रंथ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों से ज्ञात होता है जिनका समय लगभग ई.पू. 1000 से 600 तक माना जाता है।

उत्तर वैदिक काल की समाप्ति के पूर्व ही आर्यों ने यमुना, गंगा एवं सदानीरा (राप्ती या गंडक) नदियों द्वारा सिंचित उपजाऊ मैदानों को पूर्णतया जीत लिया था। मगध तथा अंग आर्य-संस्कृति के प्रभाव से बाहर थे। अथर्ववेद में मगध के लोगों को 'व्रात्य' कहा गया है जो प्राकृत भाषा बोलते थे। किसी भी वैदिक ग्रंथ में दक्षिण के राज्यों का नामोल्लेख नहीं पाते हैं।

अब राजा जन या कबीले का नेता न होकर एक विस्तृत भू-भाग का एकक्षत्र शासक होता था। वर्गों में क्रमशः कठोरता आने लगी थी और अब वे जाति के रूप में परिणत होने लगे थे। समाज में अनेक धार्मिक श्रेणियों (Guilds) का उदय हुआ जो कठोर होकर विभिन्न जातियों में बदलने लगी। व्यवसाय आनुवंशिक होने लगे। समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी थी।

बाल-विवाह नहीं थे। बहु-विवाह तथा विधवा-विवाह प्रचलित थे। उत्तर-वैदिक काल में ही उत्तर भारत में लोहे का प्रचार हुआ। प्रारंभ में इसका उपयोग अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में किया गया, किंतु बाद में इसकी सहायता से कृषि यंत्रों का भी निर्माण किया गया।

इस काल में अनेक ऋग्वैदिक देवताओं का महत्त्व घट गया तथा उनके स्थान पर नवीन देवताओं की प्रतिष्ठा हुई। अब प्रजापति, विष्णु, रुद्र-शिव ने स्थान ले लिया। यज्ञीय विधि-विधान अत्यंत विस्तृत एवं जटिल हो गए। यज्ञों में पशुबलि को प्राथमिकता दी गई तथा अन्य आहुतियां गौण होने लगीं। ऋग्वैदिक काल के अंत तक जिस एकेश्वरवादी विचारधारा का उदय हुआ वह इस युग के अंत तक पूर्णता को प्राप्त हुई।

X X X X

आप लोगों ने ऊपर में प्रसिद्ध इतिहासकारों द्वारा लिखी गई भारतीय शैक्षणिक पुस्तकों का क्रमवार टंकण देखा। उस टंकण में मैंने अपनी ओर से कोई भी जोड़-घटाव नहीं किया है। यह शुद्ध रूप से उन लेखकों द्वारा लिखी गई पुस्तकों का अंश है। अब आप लोग स्वयं तय करें कि जिस शैक्षणिक इतिहास की पुस्तक के लेखन में पुरातत्व का कोई वर्णन नहीं हो, उस पुस्तक को पुरातात्विक कैसे माना जा सकता है! उन सभी सम्मानीय लेखकों द्वारा अपने-अपने पुस्तक में जो भी वर्णन किया गया है उन सभी वर्णनों का आधार ऋग्वेद की पुस्तक है यानी कि इन सभी लेखकों द्वारा लिखी गई पुस्तक का आधार-स्तंभ ऋग्वेद की पुस्तक है। दूसरी बात उन सभी लेखकों ने कई बार प्रयोग किया है कि ऐसा मेरा मत है। फिर मत के आधार पर की गई लेखनी के बारे में आप सब लोग अवगत भी होंगे और इसी पुस्तक में अवगत भी कराया हूं कि इसी भारतीय भू-भाग का दो खंड, एक का नाम भारत और दूसरे का नाम पाकिस्तान है और दोनों के निवासियों का मत भी अलग-अलग है। अब दोनों अगर मत के आधार पर इसका लेखन करेंगे तो फल क्या निकलेगा, वह आप लोग भी जानते ही हैं। इसलिए इतिहास लेखन में मत का कोई स्थान नहीं होता है।

अब आप सभी सम्मानित पाठकजन से कहना चाहूंगा कि इसी पुस्तक (वैदिक युग का घालमेल) में पाषाण काल से लेकर ज्ञात काल यानी सम्राट

बिंबिसार (मगध राजा) तक के काल तक का वर्णन उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार किया गया है। उस उत्खनन के साक्ष्य में कहीं पर भी ऋग्वेद की पुस्तकों में वर्णित बोली-भाषा का साक्ष्य (संस्कृत), लिपि का साक्ष्य (वेद की पाण्डुलिपि), ऋग्वैदिक काल के राजा के किले का साक्ष्य, ऋग्वैदिक काल के मिले मृदभांड का साक्ष्य, ऋग्वैदिक काल के अभिलेख या शिलालेख का साक्ष्य या ऋग्वैदिक काल का किसी विदेशी यात्री का यात्रा वृत्तांत प्राप्त नहीं हुए हैं। यानी ऋग्वेद पुस्तक गैर पुरातात्विक रूप से लिखी गई एक संप्रदाय विशेष के साहित्यिक दर्शन की पुस्तक मात्र है। जो उस संप्रदाय के लोगों की आस्था से जुड़ी हुई है। इस पुस्तक के किसी भी खंड या भाग को किसी पुरातत्व से कोई लेना-देना नहीं है, इसे शुद्ध साहित्यिक पुस्तक समझकर पठन-पाठन करते रहें।

नोट : *आज के समय में इसे इतना ही कहा जा सकता है कि इतिहास की सभी पुस्तकों को ऋग्वेद (वेद) पुस्तक ने सत्यापित किया और ऋग्वेद (वेद) पुस्तक को सभी इतिहास की पुस्तकों ने सत्यापित किया। बस बन गई दोनों (इतिहास की पुस्तक और वेद साहित्य) की जोड़ी निराली। ऐसे ही घटना को ग्राम की भाषा में कहा जाता है "शराब और शराबी की जोड़ी" यानी शराब की तारीफ शराबी करता है और शराबी की मददगार शराब होती है।*

वेद की ऐतिहासिकता मानने का दूसरा सबसे बड़ा कारण यह है— भारतीय बहुसंख्यक समाज के अंदर क्षेत्रीय स्तर पर घटने वाले सभी घरेलू परंपरागत कर्मकांडों को वैदिक रीति-रिवाज वाली मान्यता की दृष्टि से देखना। अब यहां ध्यान देगा होगा कि किसी परंपरा को अपने चिंतनीय ज्ञान की दृष्टि से कुछ मानना या एक खास वर्ग द्वारा किसी साजिश के तहत किए गए लेखन को पढ़ना, दोनों ही परिस्थिति में वैसे बहुसंख्यक समाज के मानसपटल पर अपनी मान्यताओं का लेप लगना तय है।

वस्तुतः इस प्रकार की बातों को मानना या कहना या लिखना, सभी बातें उस व्यक्ति के मानसपटल पर बैठी हुई गहरी काल्पनिक मान्यता के लेप का ही परिणाम होता है। जैसे कोई व्यक्ति जिस भी संप्रदाय में जन्म लेकर बड़ा होता है और वह उस संप्रदाय के दर्शन वाले हर छोटे-बड़े कर्मकांड को अपने जन्म से माता के दूध के साथ-साथ अपने घर के परिवारिक लगाव के साथ अपने घर-आंगन में सांप्रदायिक कर्मकांड होते देखता है तो वैसे सांप्रदायिक दर्शन का उस व्यक्ति में बहुत बड़ा लगाव हो जाता है। जिस वजह से वैसे

दर्शन का प्रभाव उसके मानसपटल पर एक गहरा बाह्य लेप लेता हुआ बैठ जाता है। इसके बाद से यह व्यक्ति सभी सांप्रदायिक संस्कृति को अपने लेप वाली दृष्टि से ही देखना शुरू कर देता है।

आइए उस 'मान्यता वाली लेप' को देखें, आखिर लोगों में यह लेप लगता कैसे है?

मान्यता का लेप

अभी तक भारत में जितने भी प्रकार के वैदिक काल या वैदिक संस्कृति से जुड़ी हुई मान्यताओं के श्रुत दर्शन या लिखित पुस्तकें हैं, उन सभी का दायरा अभी तक अपने-अपने मानसपटल पर बैठी हुई गहरी मान्यता को ही पुष्ट करता हुआ एक कहानी मात्र साबित हो रहा है। कारण यह कि इन सभी मान्यताओं से जुड़ी हुई जितनी भी लिखित पुस्तकें हैं वे सभी पुस्तकें इस दर्शन व काल्पनिक मान्यता के अलावा अन्य किसी भी प्रकार के उत्खनन युक्त साक्ष्य से सिद्ध नहीं की जा सकतीं। पूर्व की सभ्यता-संस्कृति से मिलते-जुलते कुछ स्थानों के नाम समान होना या उनमें से कुछ घटनाओं का तारतम्य मिलना मात्र एक संयोग हो सकता है। इन सभी काल्पनिक मान्यता युक्त घटनाओं को साक्ष्यों के नजदीक ले जाकर एक दूसरे से मिलाने वाले और कोई दूसरे नहीं बल्कि अपने मानसपटल पर मोटी-मोटी काल्पनिक मान्यताओं की चादर ओढ़े हुए एक अनुयायियों का झुंड है। क्योंकि इन सभी काल्पनिक मान्यतायुक्त बातों को अभी तक कोई भी भारतीय पुरातत्व विभाग या पूर्व कालिक अंग्रेजी सरकार के पुरातत्वज्ञाता ने सत्यापित नहीं किया है। यह केवल और केवल उस मान्यता से जुड़े लोगों के मानसपटल पर बैठी मोटी-मोटी मान्यता का बाह्य प्रकटीकरण का लेप ही कहा जा सकता है।

इस वैदिक मत के अधिकांश लोगों की मान्यता है कि वेद वैदिक और संस्कृत भाषा में बने देवताओं को खुश करने वाले मंत्रों का उद्भव अनंतकाल पूर्व से है, परंतु! अगर कोई इसे आज अनंतकाल पूर्व का नहीं भी मानता है तो यह निश्चित ही मौर्य काल से पूर्व का जरूर है। वैदिक के सभी शिक्षित और अशिक्षित अनुयायी ऐसी मान्यता की गहरी लेप लगाकर बैठे हैं। लेकिन इन दोनों प्रकार के अनुयायियों ने यह कभी नहीं सोचा कि किसी भी सभ्यता-संस्कृति का यौवन जब अपनी चरम विकसित अवस्था में होता है तो वह उस विकसित

अवस्था से आगे बढ़ते हुए अपनी अल्पविकसित जन्म वाली अवस्था में नहीं पहुंच जाता है। कोई भी सभ्यता की भाषा-लिपि अपनी विकसित अवस्था को छोड़कर आगे अपनी अल्पविकसित अवस्था में नहीं पहुंचती है। जैसे आज कोई व्यक्ति यह कहे कि सर्वप्रथम प्राचीन काल की किसी सभ्यता में धागे का बनना हुआ था फिर उसी धागे को देखकर उसके बाद वाली सभ्यता में कपास का बनना हुआ था! यह बात आपको पढ़ने में जितनी हास्यास्पद लग रही है उतनी ही वैदिक अनुयायियों के दृष्टिकोण से वैदिक काल में प्राप्त संस्कृत भाषा-लिपि का आगे प्राकृत-पालि के रूप में प्रकटीकरण होता है, जो अपनी प्रारंभिक विकसित अवस्था को खोते हुए मौर्यकाल और गुप्त-काल में अल्पविकसित अवस्था में आकर पालि-प्राकृत के रूप में प्राप्त होती है। क्योंकि जिस प्रकार से धागे की प्रारंभिक अवस्था कपास के रूप में प्रमाणित है उसी प्रकार संस्कृत जैसी भाषा के लिए प्राकृत-पालि कपास के समान है। उसका मुख्य कारण है कि संस्कृत भाषा में उन्नत व्याकरण है, जबकि पालि भाषा में उतनी उन्नत व्याकरण नहीं है। उसी प्रकार से नागरी लिपि को उन्नत बनाने हेतु प्राकृत वर्णमाला के स्वर और व्यंजन के अंदर संयुक्त स्वर और व्यंजन को जोड़कर उत्कृष्ठ किया गया था। अब कोई यह बताए कि आज की बहुप्रचलित नागरी वर्णमाला के स्वर और व्यंजन के साथ-साथ संस्कृत भाषा व्याकरण होने के बाद भी बीच के 2000 वर्षों तक यह सभी कुछ लुप्त कैसे हो गई थी और पुनः ब्राह्मणी संस्कृति आने के बाद उस वर्णमाला और व्याकरण की आप रूपी उत्पत्ति कैसे हो जाती है? मान्यतावादी महोदय ऐसा नहीं होता है। किसी भी वस्तु, भाषा, संस्कृति का सुधार जन्म के बाद से कदम-दर-कदम होना सुनिश्चित होता है। ऐसा कभी नहीं होता है कि कोई वस्तु, भाषा, लिपि, संस्कृति रचनात्मक रूप से विकसित या उम्रदराज स्थिति में जन्म ले और जैसे-जैसे वह अपनी उम्र को आगे बढ़ाती जाए, वैसे-वैसे वह अपनी परिपक्वता खोती हुई शनैः-शनैः बाल्यावस्था में पहुंचती हुई विकृत होती जाए। विकृत इसलिए लिखा कि आपके अनुसार वैदिक काल और मौर्य काल के बीच में एक लिपि मिली है जिसे शंख लिपि कहते हैं। लेकिन इसके मूल स्वरूप को आज तक कोई पहचान नहीं पाया है। आखिर ऐसा क्यों? यह चित्रण सिर्फ काल्पनिक कहानियों के पात्रों या सभ्यताओं में ही संभव है, किसी भी वास्तविक संस्कृति में किसी व्यक्ति-समूह, लिपि-भाषा, ज्ञान-विज्ञान,

सभ्यता-संस्कृति, जीव-जंतु या पेड़-पौधों के साथ ऐसा नहीं हो सकता है।

भारत में उत्खनन से प्राप्त जितनी भी भाषा-लिपि के साक्ष्य मिले हैं वे सभी अपनी बाल्यावस्था से प्राप्त होकर अपने उम्र के बढ़ते क्रम से यौवन काल में आ खड़े हुए हैं, उस साक्ष्य को कोई भी उत्खनन विभाग या किसी संग्रहालय में जाकर देख सकता है। सर्वप्रथम आज से 4000 वर्ष पूर्व सिंधु सभ्यता में चित्र-लिपि जन्म वाली अवस्था में मिली थी, उसके बाद उसका बाल्याकाल सांख्य-लिपि से गुजरता हुआ अपने यौवन के अधिकतम 2000 वर्षों तक प्राकृत और पालि-लिपि के रूप में प्रतिस्थापित रहते हुए ढलती उम्र में यानी राजपूत-मुगल के संक्रमण काल में नागरी-लिपि और संस्कृत भाषा के रूप में परिवर्तित होते हुए मध्यकाल के समय फारसी के सम्मिश्रण में आकर उर्दू और हिंदी में परिवर्तित हो जाती है। उस मध्यकाल के बाद यह हिंदी भी अंग्रेजी से संसर्ग करते हुए हिंगलिश का रूप लेती जा रही है। लेकिन काल्पनिक मान्यताओं का गहरा लेप लगाए हुएं असंख्य व्यक्तियों के दिलो-दिमाग पर आज भी बैठा है कि वेद और वैदिक ऋचाओं वाली संस्कृत भाषा-लिपि आज से 3000-4000 वर्ष पूर्व की है। इस प्रकार की मान्यता और दर्शन का लेप लगाए हुए व्यक्ति और समूह पर आज बहुत दया आती है। क्योंकि अभी तक किसी भी प्रकार की कोई संस्कृत लिखित पांडुलिपि या आज के वैदिक अनुयायियों के घरों में होने वाले कर्मकांड का कोई साक्ष्य ईस्वी सन से पूर्व की सभ्यता-संस्कृति में उत्खनन से प्राप्त नहीं हुआ है, फिर इस वैदिक कर्मकांड को ईसा से पूर्वकाल का सत्यापित करने पर इसके अनुयायी क्यों तुले हुए हैं।

अब सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार से संस्कृत और पालि के अंदर जिस वर्णमाला और व्याकरण का होना और नहीं होना मुख्य विषय है, ठीक उसी प्रकार उस अनुपस्थित वर्णमाला और व्याकरण से बनने वाले शब्दों का होना और नहीं होना उतना ही मुख्य विषय बन जाता है। उत्खनन से प्राकृत (पक्कीत) लिपि में लिखे हुए आज तक जितने भी अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उन सभी अभिलेखों में उपयोग हुए शब्द और वाक्यों में वर्णमाला को देखा जा सकता है, उनमें ऋ, श, ष, क्ष, त्र, ज्ञ जैसे स्वर और व्यंजन सहित उनसे बनने वाले शब्द भी विलुप्त हैं। लेकिन संस्कृत में लिखी हुई आज जितनी भी पांडुलिपि मिली है (उत्खनन से नहीं, बल्कि सामान्य रूप से मिली है) उनमें श, ष, क्ष, त्र, ज्ञ, ऋ जैसे वर्णों की काफी प्रचुरता है। अब कोई यह बताए कि

संस्कृत की उत्पत्ति अगर पूर्व की है तो प्राकृत और पालि शब्दावली में संस्कृत भाषा की वर्णावली में प्रयुक्त होने वाली लाभकारी स्वर-व्यंजन सहित भाषा व्याकरण क्यों नहीं मिलती है? क्या उस समय के लोग इस स्वर-व्यंजन सहित भाषा व्याकरण का उपयोग करना नहीं जानते थे? कारण स्पष्ट है, जो भाषा लिपि सहित उसका स्वर और व्यंजन के साथ-साथ व्याकरण ही बाद में बना हो, भला वह सभी विषय पूर्वकाल में कैसे मिल सकते हैं! जैसे आज की सभ्यता में निर्मित मोबाइल, टी.वी., कार जैसे उपकरण हैं और कोई इसे मुगलकाल या मौर्यकाल की सभ्यता से जोड़कर देखे तो यह उसकी काल्पनिक मान्यता की अंधभक्ति ही कही जा सकती है। उसी प्रकार ब्राह्मणी-राजपूत काल में बनने वाली भाषा-लिपि को कोई कितना भी पूर्व की सभ्यता-संस्कृति से तारतम्य मिलाते हुए जोड़े, लेकिन उसका तकनीकी विषय के साथ-साथ वास्तविक लिखित अभिलेखों का साक्ष्य भी उसे देखना चाहिए। उस भाषा-लिपि से बनने वाले जितने भी पुस्तक, ग्रंथ या मंत्रों वाले छंद हैं वे राजपूत मुगलकाल से मिलते आ रहे हैं उसके जैसा लिखित शब्दों का साक्ष्य राजपूत-ब्राह्मणी काल से पूर्व कभी भी नहीं मिला है। आज कोई क़ितना भी अपने मानसपटल पर अपने घर आंगन में प्रचलित ब्राह्मणी कर्मकांड युक्त दार्शनिक मान्यता का मोटा लेप क्यों नही लगा ले, परंतु यह सारा कुछ उसकी अपनी सोच और समझ का संकुचित दर्शन दायरा मात्र ही कहा जा सकता है।

मान्यता के लेपधारियों में वैदिक काल की "वेद" के बारे में अभी तक मान्यता है कि पूर्वकाल में विकसित वेद-ज्ञान श्रुत-पद्धति द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी होते हुए आगे बढ़ने वाली ज्ञानप्रद वैज्ञानिक जानकारी थी।

बहुत अच्छी बात है!

लेकिन क्या आज के इस वैज्ञानिक युग में वैदिक अनुयायी या कर्मकांडियों द्वारा प्रचारित श्रुत वाली वेद-कथा पर आप जैसे जागरूक पाठक ने ध्यान दिया है?

ध्यान का अर्थ है कि किसी ने इस पर अपने अंदर की प्रज्ञा वाली अनुभूति से जांचा-परखा है!

आइए! हम सभी लोग अपनी प्रज्ञा वाली अनुभूति से अपनी छठी इंद्रिय को खोलें—

मान्यता अनुसार वेद श्रुत और ज्ञानवर्धक जानकारी थी तो फिर पूर्व के

भारत में चलने वाले अनेक विश्वविद्यालयों के आचार्य और विद्यार्थी इस ज्ञान से अछूते क्यों थे?

वेद के अंदर भारत के ऋषि-मुनियों के अनमोल ज्ञान की खोज थी तो पूर्वकालीन विश्वविख्यात विश्वविद्यालय या अनेक विद्या अनुसंधान केंद्र होते हुए भी इस पर कोई भाष्य या इसको लिपिबद्ध करने का प्रयास क्यों नहीं किया गया?

वे लोग भारत में प्राप्त ज्ञान ही नहीं, बल्कि अन्य देशों के ज्ञान को भी अपने भाष्य से भाषित करते थे। फिर अपने देश वाला ज्ञान उस समय कैसे बचा रह गया?

आप लोग अभी तक स्वार्थी लेखकों की दी हुई जानकारी से ओत-प्रोत हैं कि वेद वैदिक काल की कोई श्रुत पुस्तक है, जबकि सच्चाई ठीक इसके उलट है।

वेद के अर्थ का घालमेल

वेद सम्यक काल की भाषा पालि से निकला हुआ एक शब्द है, जिसका अर्थ 'अनुभव' होता था। सम्यक काल में वेद शब्द का प्रयोग विशेषण के तौर पर पालि भाषा में किया जाता था। उस समय जब किसी को अपनी पांच इंद्रियों से इन इंद्रियों के विषय का स्पर्श होता था, तो उसके लिए पालि में वेदना का उपयोग किया जाता था। जैसे आंख से रूप का स्पर्श, कान से शब्द का स्पर्श, नाक से गंध का स्पर्श, जीभ का रस से स्पर्श और त्वचा का स्पष्टव्यों का स्पर्श को वेदना (संवेदना) कहते हैं। उसी वेदना से वेद शब्द को धूर्तों ने संस्कृत भाषा में संज्ञा के रूप में एक पुस्तक का नाम रखते हुए किया है। जबकि पालि कच्चान व्याकरण अनुसार वेद का निर्माण विद धातु से हुआ है। उसी विद धातु से विद्या, वेदना, वेदगू, वेदयितं, वेदयामी, वेदयमानो जैसे शब्दों का निर्माण हुआ है। उसी विद धातु से संस्कारित भाषा का विद्व और विद्वान बना है। पालि तिपिटक (त्रिपिटक) में विद धातु से बनने वाला शब्द वेद, वेदना, वेदगू, वेदयितं, वेदयामी, वेदयमानो भरा पड़ा है। आज कोई भी व्यक्ति मूल पालि त्रिपिटक को देख सकता है। वैसे त्रिपिटक से कुछ उदाहरण को आप सबों के बीच रख रहा हूं।

सम्यक काल में जितने भी बुद्ध हुए थे, उन सबों का ज्ञान स्वयं की वेदना (स्वयं की अनुभूति) के बल पर ही प्राप्त हुआ था। उसी वेदना से विद्या बना

है, जिस विद्या का अर्थ अपनी अनुभूति द्वारा किसी विषय पर जब ज्ञान प्राप्त होता है तो वैसे ज्ञान को विद्या वाला ज्ञान कहा जाता है। जैसे भगवान गौतम बुद्ध को बोधि वृक्ष के नीचे अपनी स्वयं की वेदना (अनुभूति) द्वारा दुखों से कैसे मुक्त होंगे, उसके बारे में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। लेकिन वहीं पर जब कोई किसी पुस्तक को पढ़कर या किसी से सुनकर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे शिक्षा (पालि में सिक्खा) कहते हैं।

सम्यक काल के समय आठ अंगों वाला मार्ग (शील, समाधि, प्रज्ञा) था, जिसमें शील के अंदर तीन मार्ग (सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका), समाधि के अंदर तीन मार्ग (सम्यक समाधि, सम्यक प्रयत्न, सम्यक समझ) और प्रज्ञा के अंदर दो मार्ग (सम्यक संकल्प, सम्यक दृष्टि) थी। अब प्रज्ञा में जो सम्यक दृष्टि है, इस दृष्टि का अर्थ आंखों से देखने का नहीं होकर अपने ज्ञान की दृष्टि (अनूभुति) से देखने से था। उस समय इस ज्ञान की अनुभूति को जानने का तीन प्रकार था। (1) श्रुत ज्ञान, (2) चिंतन ज्ञान, 3) भावनामयी ज्ञान। यह जो तीसरा भावनामयी ज्ञान है यही अनुभूति वाला सर्वोत्तम ज्ञान होता था, इसे ही उस समय प्रज्ञा (प्रत्यक्ष ज्ञान) वाला ज्ञान कहा जाता था। इस भावनामयी ज्ञान का अर्थ ही होता था कि स्वयं की वेदना (आज की संवेदना) वाली अनुभूति से (भावित होते हुए) जो प्रत्यक्ष ज्ञान अपने अंदर उत्पन्न हो, वह भावनामयी ज्ञान ही वेदन (स्ववेदन) वाली प्रज्ञा कहलाती थी। उस वेदन के आधार पर जागे हुए प्रत्यक्ष ज्ञान को वेद (अनुभव) कहते थे।

इन सब बातों का प्रमाण भगवान गौतम बुद्ध द्वारा बोली गई वाणी और उस वाणी का संग्रह त्रिपिटक (तिपिटक) में देखा जा सकता है। ऐसे त्रिपिटक की बात चली है तो उस त्रिपिटक के कुछ अन्य उदाहरण को रख रहा हूं। त्रिपिटक तीन खंडों में है जिसके दूसरे खंड का नाम "सुत्तपिटक" है। उस सुत्तपिटक में पांच निकाय हैं, पहले निकाय का नाम दीघनिकाय है। इस दीघनिकाय में महासतिपट्ठानसुत्त का वर्णन है।

इस महासतिपट्ठानसुत्त में **वेदनानुपस्सना** का एक अध्याय है। जिस अध्याय के पहले पैरा में ऐसा वर्णन है—

"कथंच पन, भिक्खवे, भिक्खु **वेदनासु वेदनानुपस्सी** विहरती? इध, भिक्खवे, भिक्खु सुखं वा **वेदनं वेदयमानो** 'सुखं **वेदनं वेदयामी'ति** पजानाति। दुक्खं वा

वेदनं वेदयमानो 'दुक्खं **वेदनं वेदयामी'ति** पजानाति। अदुक्खमसुखं वा **वेदनं वेदयमानो** अदुक्खमसुखं **वेदनं वेदयामी'ति** पजानाति।

अनुवाद : *और फिर, भिक्खुओ! (कोई) भिक्खु* ***वेदनाओं (संवेदनाओं, अनुभूतियों)*** *में* ***वेदनानुपश्यी (अनुभूति का ज्ञान)*** *होकर कैसे विहार करता है? यहां, भिक्खुओ! भिक्खु* ***सुखद वेदना को अनुभव*** *करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं* ***सुखद वेदना (सुख की अनुभूति)*** *को* ***अनुभव*** *कर रहा हूं। अथवा* ***दुखद वेदना (दुख की अनुभूति) को अनुभव*** *करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं* ***दुखद वेदना को अनुभव*** *रहा हूं। अथवा* ***अदुःखद-असुखद वेदना (दुख सुख रहित अनुभूति) को अनुभव*** *करता हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं* ***अदुःखद-असुखद वेदना को अनुभव*** *कर रहा हूं।*

उसी प्रकार दुक्खसच्चनिद्देसो अध्याय है। उस अध्याय के सातवें पैरा को देखा जाए, उसमें भगवान द्वारा जो बोला गया है और आनंद ने जैसा सुना, वही त्रिपिटक में अंकित है और वह इस प्रकार है—

कतमंच, भिक्खवे, दुक्खं? यं खो, भिक्खवे, कायिकं दुक्खं कायिकं असातं कायसम्फस्सजं दुक्खं असातं **वेदयितं,** इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खं।

अनुवाद : *और भिक्खुओ! क्या होता है दुख? भिक्खुओ! शारीरिक दुख, शारीरिक पीड़ा, काया के संस्पर्श से होने वाला दुख, कष्ट,* ***अनुभव (वेदयितं)****— यह भिक्खुओ! कहलाता है दुख।*

उसी प्रकार दीघनिकाय में महासतिपट्ठान सुत्त के समुदयसच्चनिद्देसो का सातवां पैरा—

"चक्खुसम्फस्सजा **वेदना** लोके.. सोतसम्फस्सजा **वेदना** लोके.. घानसम्फस्सजा **वेदना** लोक.. जिव्हासम्फस्सजा **वेदना** लोके.. कायसम्फस्सजा **वेदना** लोके.. मनोसम्फस्सजा **वेदना** लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति।

अनुवाद : *शरीर (लोक) में आंख (चक्षु) के संस्पर्श होने वाली* ***अनुभूति (वेदना)****... शरीर (लोक) में कान (श्रोत) के संस्पर्श होने वाली* ***अनुभूति (वेदना)*** *... शरीर (लोक) में नाक (घ्राण) के संस्पर्श होने वाली* ***अनुभूति (वेदना)****... शरीर (लोक) में जिह्वा के संस्पर्श होने वाली* ***अनुभूति (वेदना)****... शरीर (लोक) में काया (त्वचा) के संस्पर्श होने वाली* ***अनुभूति (वेदना)****... शरीर (लोक) में मन*

के संस्पर्श होने वाली **अनुभूति (वेदना)** *प्रिय लगती है, अच्छी लगती है। यहां यह तृष्णा जागती है, यहां पैठती है।*

मित्रों उसी प्रकार सुत्तपिटक के दीघनिकाय पुस्तक में संयुत्तनिकाय खंड है जिसमें वेदनासंयुत्तं के सुखसुत्तं में—

सुखं वा यदि वा दुखं, अदुक्खमसुखं।
अज्झत्तं च बहिद्धा च, यं किञ्चि अत्थि **वेदितं** ॥

अनुवाद : *अपने शरीर रूपी लोक में सुख, दुख या अदुख-असुख की अनुभूतियां हैं, फिर भले ही वे अध्यात्म (अज्झत्तं) हों या बाह्य, ऐसा जो भी अनुभव करता है।*

पहानसुत्त में—

"सुखं **वेदयमानस्स, वेदनं** अप्पजानतो।
सो रागानुसयो होति, अनिस्सरणदस्सिनो ॥
"दुक्खं **वेदयमानस्स, वेदनं** अप्पजानतो।
पटिघानुसयों होति, अनिस्सरणदस्सिनो ॥

अनुवाद : *"सुखा वेदना का* **अनुभव** *करने वाले को, उस वेदना* **(अनुभूति)** *को यथार्थतः न जानने वाले को तथा मोक्ष के विषय में अनभिज्ञ को वह रागानुशय होता है।*

"दुखा वेदना का **अनुभव** *करने वाले की, उस वेदना* **(अनुभूति)** *को यथार्थतः न जानने वाले की तथा मोक्ष के विषय में अनभिज्ञ साधक के चित्त की द्वेष (खिन्नता) की ओर प्रवृति होती है।*

उसी प्रकार दीघनिकाय का अङ्गुत्तरनिकाय है जिसका चतुक्कनिपातो वर्ग में पांचवां वर्ग वस्सकारसुत्तं का है। उसके पांचवें खंड को देखा जाए—

"यो **वेदि** सब्बसत्तानं, मच्चुपासप्पमोचनं।
हितं देवमनुस्सानं, ञायं धम्मं पकासयि।

अनुवाद : *"जिसने सभी प्राणियों के मृत्युपाश-बंधन से मुक्ति का उपाय जान लिया (अनुभव कर लिया) है। देवता एवं मनुष्यों के हित में जिसने उचित धर्म की देशना की, जिसे सुनकर, साक्षात कर बहुत से लोग उनके प्रति श्रद्धालु हैं।*

मित्रों उसी प्रकार त्रिपिटक का भाग तो नहीं कहेंगे, लेकिन उसी त्रिपिटक

के अनुयायी यानी भगवान बुद्ध के अनुयायी रहे यवन शासक मिनांडर उर्फ मिलिंद थे। जिन्होंने ईसा पूर्व में थेर नागसेन से भगवान बुद्ध के मार्ग पर काफी लंबी चर्चा की थी। उसी चर्चा वाली बात को लेखन द्वारा एक पुस्तक का रूप दिया गया, उस पुस्तक का नाम "मिलिंदपञ्ह" (मिलिंद वग्गो) है। आज वह पुस्तक अपनी गुणवत्ता की वजह से त्रिपिटक का भाग बनती जा रहा है। उस पुस्तक से भी कुछ उदाहरण रख रहा हूं।

"मिलिंदपञ्ह"

इस पुस्तक की सूची में दूसरा अध्याय मिलिंदपञ्हो लक्खणपञ्हो का है जिसमें अद्धानवग्गो है। जिसमें पटिसंदहन पुग्गल वेदियन पञ्हो में लिखा है—

राजा आह— "भंते नागसेन, यो न पटिसन्दहति, **वेदेति** सो किञ्चि दुक्खं **वेदने**'तिद्य थेरो आह- किञ्चि **वेदेति**, किञ्चि न **वेदेति**'ति। किं **वेदेति**, किं न **वेदेति**'ति?

अनुवाद : *राजा बोला— भंते नागसेन। जो फिर जन्म लेने वाला नहीं है, वह क्या कोई वेदना (सुख या दुख) अनुभव करता है? स्थविर बोले— कुछ को अनुभव करता है और कुछ को नहीं। किसको अनुभव करता है और किसको अनुभव नहीं करता है। शरीर में होने वाली वेदनाओं को अनुभव करता है और मन में होने वाली वेदनाओं को अनुभव नहीं करता है। भंते! वह कैसे? शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदनाओं के उत्पन्न के जो हेतु और प्रत्यय हैं, उनके ऊपरान्त (बंद) न होने के कारण वह अनुभव करता है। चित्त में उत्पन्न होने वाली वेदनाओं के जो हेतु और प्रत्यय हैं उनके ऊपरान्त हो जाने के कारण वह उनका अनुभव नहीं करता है। महाराज! भगवान ने कहा है— जो एक ही प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करता है— शरीर में उत्पन्न होने वाली को, चित्त में उत्पन्न होने वाली को नहीं।*

वेदना पञ्हो—

राजा आह— भंते नागसेन, सुखा **वेदना** कुसला वा अकुसला वार अब्याकता वा'ति?

अनुवाद : *राजा बोला— भंते क्या सुख वेदना (अनुभूति) कुशल, अकुशल या अव्याकृत होती है?*

तीसरा अध्याय विचारवग्गो का

वेदगू पञ्हो

राजा आह— भंते नागसेन, **वेदगू** उपलब्भती'ति? को पनेस, महाराज, वेदगू नामा'ति?...

अनुवाद : *राजा बोला— भंते! सर्वस्य जानने वाला (वेदगू-उच्चतम ज्ञान प्राप्त) कोई है? महाराज! यह सर्वस्य जानने वाला (वेदगू-उच्चतम ज्ञान प्राप्त) कौन है?...*

ऐसे आज लोगों में यह भी एक धारणा बैठ गई है या कहें तो बैठा दी गई है कि भगवान गौतम बुद्ध से पूर्व पुस्तकीय वेद का ज्ञान उपलब्ध था, जिस वेद पुस्तक का अध्ययन स्वयं भगवान बुद्ध ने भी किया था। कितनी अज्ञानता वाली बात है। जिस विषय का पुरातात्विक प्रमाण जमीन के ऊपर और जमीन के नीचे किसी दिशा में नहीं मिला हो, उस विषय पर इतना बड़ा भ्रम और वहीं जिस भगवान बुद्ध का ज्ञान प्राप्ति से लेकर उनके द्वारा स्थापित मार्ग का प्रमाण जमीन के ऊपर से लेकर जमीन के नीचे तक प्रचुर मात्र में मिलता रहता है, उस साक्ष्यजनक जानकारी पर लोग मौन! यह सारा विषय आज की परंपरा पर आशक्ति का है और उस आशक्ति का एक ही कारण है निश्चित एजेंडा के तहत लेखन का प्रभाव।

ऐसे आज अपने सुधी पाठकों को वेद और भगवान बुद्ध की सच्चाई से अवगत करा ही देता हूं। त्रिपिटक के सुत्तपिटक का संयुक्त निकाय है, उस निकाय में सक्क संयुक्त वर्ग है जिसमें धजग्ग सुत्त है। ऐसे इस सुत्त का बुद्ध अनुरागी प्रत्येक दिन पठन-पाठन व वाचन करते हैं। उस सुत्त को देखें—

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो **लोकविदु (लोक-विदु)** अनुत्तरो पुरिस-दम्म-सारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।

अनुवाद : *(इतिपि सो भगवा) ऐसे ही तो हैं वे भगवान, (अरहं) अरहत, (सम्मासम्बुद्धो) सम्यक-सम्बुद्ध, (विज्जाचरणसम्पन्नो) विद्या तथा सदाचरण से सम्पन्न, (सुगतो) उत्तम गति प्राप्त, (लोकविदु)* ***समस्त लोकों के ज्ञाता,*** *(अनुत्तरो) सर्वश्रेष्ठ, सभी विषयों के जानकार, (पुरिस-दम्म-सारथी) भटके लोगों को सही मार्ग पर लाने वाले सारथी, (सत्था देव-मनुस्सानं) देवताओं और मनुष्यों के शास्ता आचार्य, (बुद्धो भगवा'ति) बुद्ध भगवान।*

इसे बुद्ध वंदना कहा जाता है और जो लोग भगवान को नमन करते हैं वे सभी लोग इस वंदना का पाठ करते हैं। इस वंदना में विद धातु से बनने वाला विदु कितना स्पष्ट लिखा हुआ है। इस **विदु का अर्थ ज्ञाता** होता है। यानी भगवान बुद्ध स्वयं समस्त लोकों के ज्ञाता थे।

अब इस विदु को देख कर निश्चित एजेंडा पर लेखन करने वाले को वेद लगने लगे तो इसमें कोई क्या कर सकता है!

उसी प्रकार भगवान बुद्ध ने गुण, स्वभाव, लक्षण, कुदरत के नियम को धर्म कहा है, उस धर्म की भी वंदना की जाती है, जो इस प्रकार है–

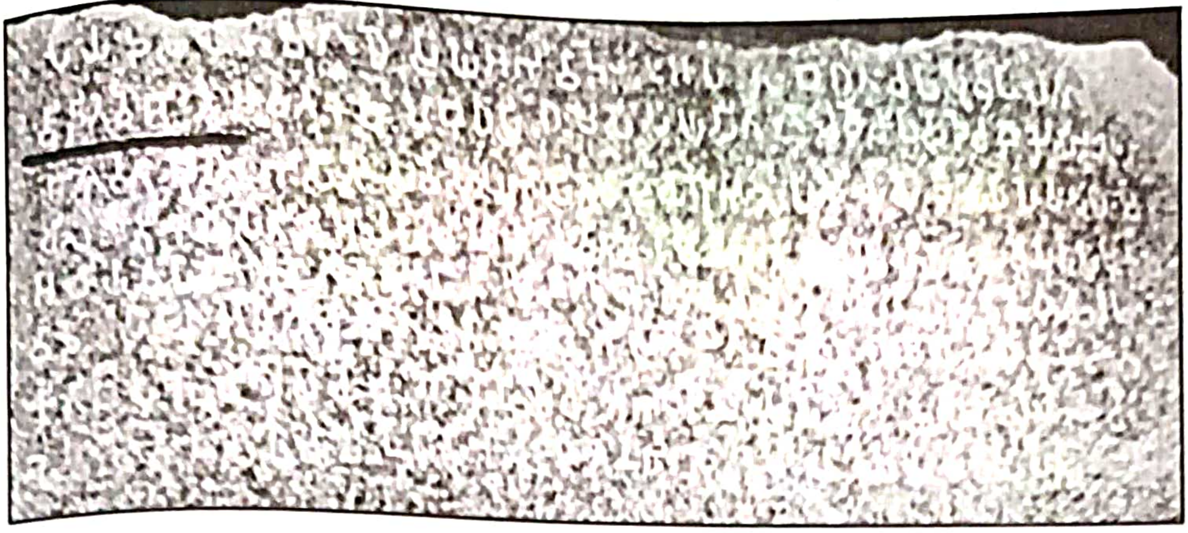
स्वाक्खातो भगवंता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं **वेदितब्बो** (**वेदि**-तब्बो) विञ्ञूही'ति।

अनुवाद : *(स्वाक्खातो भगवता धम्मो)– भगवान द्वारा भली प्रकार आख्यात किया गया यह धर्म है, समझाया गया यह धर्म है, (सन्दिट्ठिको)– संदृष्टिक है, काल्पनिक नहीं है, प्रत्यक्ष है, (अकालिको)– तत्काल फलदायक है, तुरंत लाभदायक है, (एहिपस्सिको)– आओ और देखो कहलाने योग्य है, (ओपनेय्यिको)– निर्वाण तक ले जाने योग्य है, दुखों से मुक्त करने वाला है (पच्चत्तं* ***वेदि-तब्बो****)– प्रत्येक* ***समझदार*** *व्यक्ति,* ***जानकार*** *व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति को साक्षात (विञ्ञूही'ति)– करने योग्य है, पालन करने योग्य है, धारण करने योग्य है।*

यहां पर भी विद धातु से वेदि शब्द का निर्माण हुआ है जिस वेदि का अर्थ समझदार, जानकार, ज्ञानी से है, जबकि एक निश्चित एजेंडा पर लेखन करने वाले लेखकगण और उनके अनुयायियों अनुसार वेद केवल एक पुस्तक का नाम है।

पुरातात्विक और प्रामाणिक तौर पर भारत की सर्वप्रथम पठनीय लिपि और ज्ञात भाषा का लिखित ग्रंथ "त्रिपिटक" (तिपिटक) और मिलिंद वग्गो का उदाहरण आप लोगों ने देखा। कैसे उन दोनों ग्रंथों में वेद शब्द का प्रयोग हुआ है जिसमें सभी जगह पर वेद का अर्थ ज्ञानी और जानकार से ही किया गया है।

अब आप लोगों को सम्राट अशोक द्वारा लिखित एक अभिलेख दिखाता हूं। जिसमें **विदितेवे** का प्रयोग हुआ है। यह अभिलेख विराट नगर (बैराट) की बीजक डुंगरी पहाड़ी से प्राप्त हुआ है। डुंगरी पहाड़ी पर एक बुद्ध विहार बना हुआ है। उस क्षेत्र में किसी कार्य से कैप्टन बर्ट गए हुए थे और रहने के लिए



चित्र संख्या (49)

विराट नगर में भाबरू स्थान पर शिविर लगाए हुए थे, उसी दौरान उनको डुंगरी पहाड़ी पर बने बुद्ध विहार के प्रवेश द्वार पर सम्राट अशोक द्वारा लिखित एक अभिलेख मिला। उस अभिलेख को वे सलीके से काटकर भावरू शिविर में ले आए। इसी वजह से उस शिलालेख का नाम बैराट भाबरू शिलालेख कहा जाता है। इस शिलालेख का अनुवाद कैप्टन किटोई ने किया था। उस खुले स्थान में शिलालेख को सुरक्षित नहीं समझते हुए कैप्टन बर्ट ने सिर्फ लिखे हुए भाग को काटकर कलकत्ता के संग्राहलय में रख दिया, जो आज तक वहां सुरक्षित रखा है। अब इस शिलालेख का नाम कलकत्ता बैराट भाबरू अभिलेख से जाना जाता है। इस अभिलेख को चित्र संख्या 49 में देखें।

सम्राट अशोक ने इस अभिलेख की दूसरी पंक्ति के माध्यम से लोगों को बताया है कि भगवान बुद्ध के मार्ग को जानने के लिए **"विदितेवे भंते आवंतके धम्मा बुधसि धम्मसि संघसी तिगलवे च पासदे च एके चिभते"** ([illegible]) सात ग्रंथों की चर्चा की है। इन ग्रंथों का उल्लेख अभिलेख की चौथी पंक्ति के अंत में (1) विनय समुकास, पांचवीं पंक्ति के प्रारंभ से, (2) अलिय वसाणि, (3) अनागत भयानि, (4) मुनि गाथा, (5) मोनेय सुते, (6) उपतिस पसिने, ए चा, (7) लाघुलो वादे मुसावादं अधिगिच्च भगवता बुधेन भासिते। ([illegible])

दूसरी पंक्ति में **जानने के लिए "विदितेवे"** का प्रयोग धर्म प्रिय मगध नरेश

सम्राट अशोक ने किया है, जिस **विदितेवे** का अर्थ **ज्ञान जानना** होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज के धूर्त वर्गों द्वारा एक निश्चित एजेंडा के तहत जो लेखन कराया जा रहा है उसका न तो कोई पुरातात्विक साक्ष्य है और न ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के समुचित अर्थ का स्रोत ही है। ये लोग तो बस जोड़-तोड़ कर **"कहीं का ईट और कहीं का रोड़ा-भानुमति का कुनबा जोड़ने"** जैसा एक काल्पनिक महल खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं। जबकि पालि ग्रंथ व अभिलेख में वेद, विदु, वेदि, वेदयमानो, वेदयति, वेदगू, वेदनं, वेदना जैसे शब्दों का अंबार लगा है। जिसका अर्थ सब जगह अपनी स्वयं की अनुभूति, अनुभव, जानने-समझने का है। इस शब्द का अर्थ कहीं पर भी संज्ञा नाम के रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। आज अगर शब्दकोश की बात की जाए तो संस्कृत भाषा के शब्दकोश में वेद का अर्थ एक पुस्तक के नाम तक सिमटकर रह गया है और वेदना का अर्थ दुख के रूप में बैठकर आज लोगों को दुखी कर रहा है। सुधी पाठकों से अपील करता हूं कि पालि में प्रयुक्त होने वाला गुणवाचक शब्द का अर्थ और वही गुणवाचक को संस्कृत में संज्ञा (नाम) के रूप में प्रयोग करने की चालाकी को समझना होगा। साथ ही दोनों काल की (एक जमीनी काल और दूसरा पुस्तकीय काल) सभ्यता में रहे एक समान शब्दों का अर्थ भी समझना होगा, तभी आप लोग भारत में निश्चित एजेंडा के ऊपर लेखन करने वालों की धूर्तता को समझ पाएंगे और भारत की मूल संस्कृति को समझ पाएंगे।

भारत में पूर्व पाषाण सभ्यता से लेकर सिंधु सभ्यता, मौर्य सभ्यता और गुप्त सभ्यता में जितने भी बुद्ध, अरहत जैसे ज्ञानी इसि-मुनि (संस्कृत में ऋषि-मुनि) लोग हुए थे, वे सभी लोग कुदरत के रीत की ऐचना (खोज) करते थे, गवेषणा करते थे, पर्यवेषणा करते थे और उसी आधार पर वे अपनी "वेदना" (संवेदना/अनुभूति) से कुदरत का कानून, शील सदाचार या अन्य जीवकोपार्जन वाली बातों को जानकर सम्यक जीवन जीने का अनुभव (वेद) प्राप्त करते थे, जिस ज्ञान को वे ज्ञानी लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली प्रक्रिया द्वारा आगे बढ़ाते हुए सभी को लाभांवित करते रहते थे। पूर्वकाल के जितने भी खोजकर्त्ता, शोधकर्त्ता या मार्गदाता हुए थे वे सभी लोग आज के जैसे कर्मकांड करने वाले जैसी वेश-भूषा या किसी मठ का आचार्य (अद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशिष्ठ द्वैतवादी, या त्रैतवादी) जैसा आडंबर पाखंडी कर्मकांडी नहीं

होते थे, वे लोग अपने द्वारा खोज किए गए अनुभव (वेद) से लोगों को लाभांवित करते रहते थे। जबकि आज वाली वेद पुस्तक अद्वैतवाद (एकेश्वरवाद) के दर्शन पर लिखी गई है तो गीता द्वैतवाद के दर्शन पर लिखी पुस्तक है और पुराण की कुछ पुस्तक त्रैतवाद के दर्शन पर भी लिखी गई है। इसलिए ऐसी पुस्तकों को दर्शन की पुस्तक कहते हैं।

आज उन सभी सम्यकसम्बुद्धों की अनुभूति (वेदना) वाले अनुभव (वेद) की खोज का परिणाम है कि हम सभी लोग प्रकृति के सभी प्रकार के नियम-कानून, गुण-दोष को समझते हुए नित्य अपनी जिंदगी में शील सदाचार से परिपूर्ण वाली जिंदगी को जानते और समझते हुए जिंदगी व्यतीत करते हुए रह रहे हैं।

अन्यथा आज अगर सभी सम्यकसम्बुद्धों की अनुभूति वाली विद्या (अनुभव) को कुछ देर के लिए मनुष्य की सामाजिक जिंदगी से हटा दिया जाए तो इस कहानी युक्त वेद के ज्ञान से मनुष्य और जानवर में कोई अंतर दिखाई नहीं देगा।

(जैसे किसी मनुष्य के बच्चे को जन्म के बाद से ही जानवरों के बीच में रख दिया जाए और उसे मनुष्य के अनुभव वाले व्यावहारिक ज्ञान से अवगत नहीं कराया जाए, तो आगे क्या परिणाम आएगा वह सभी लोग जानते हैं।)

लेकिन वही वेदना वाली प्रज्ञा जब धूर्तों के हाथ में चली जाती है और वे उस प्रज्ञा वाले ज्ञान के नाम को अपने क्षुद्र स्वार्थ में उपयोग करने पर आतुर हो जाएं, तो वे उस वेदना से उत्पन्न अनुभव यानी **'वेद'** को एक कर्मकांडयुक्त कहानी का शीर्षक बनाते हुए एक पुस्तक में परिवर्तित कर देते हैं। जैसा की आज की वेद नामक पुस्तक के साथ हुआ है। अब उस वेद में किसी भी प्रकार की कोई जिंदगी जीने का ज्ञान नहीं है। वह तो मात्र एक कर्मकांडयुक्त कहानी की पुस्तक है। अगर इस वेद में कोई ज्ञान है तो आज की स्कूली शिक्षा या अपने घरों के अंदर बच्चों की शिक्षा में शामिल कोई क्यों नहीं करता है? क्या इस वेद के ज्ञान से मानव समाज के अंदर शील-सदाचार आ सकता है? क्या इस वेद के ज्ञान से मानव-समाज का कुछ भला हो सकता है? क्या इस वेद के ज्ञान से मानव-समाज का मानसिक और शारीरिक विकास हो सकता है?

बिल्कुल नहीं।

इस पुस्तक में वर्णित बातों का जीवन की चर्या से कोई लेना-देना नहीं है। यह पुस्तक शुद्ध रूप से आस्था के ऊपर लिखी गई है, जिसमें एक खास वर्ग के अस्था से जुड़ा हुआ कर्मकांड भरा विषय-वस्तु का लेखन है।

तथाकथित बुद्धिजीवी धूर्तों ने पूर्वकाल से चले आ रहे वेदना (संवेदना) वाले अनुभव की जगह पर राजपूत-मुगल-ब्राह्मणी गठजोड़ वाले काल में एक कहानी युक्त पुस्तक "वेद" का लेखन कर दिया है और उस पूर्व के पालि वाली वेदना (संवेदना) का भवार्थ ही आज की संस्कृत भाषा में "दुख" से कर दिया है। जबकि पालि में वेदना का अर्थ स्वयं की अनुभूति से होता था और आज की भाषा (संस्कृत/हिंदी) में वेदना का अर्थ दुख से होता है।

आखिर ऐसा क्यों है? पूर्व के भारत में संप्रदाय विहीन सभ्यता-संस्कृति और शांतचित सामान्य बहुसंख्यक वर्गों के जनजीवन में इस प्रकार के दार्शनिक मान्यता वाले सांप्रदायिक लेप को पैदा करने वाला आखिर कौन और क्यों पैदा लिया?

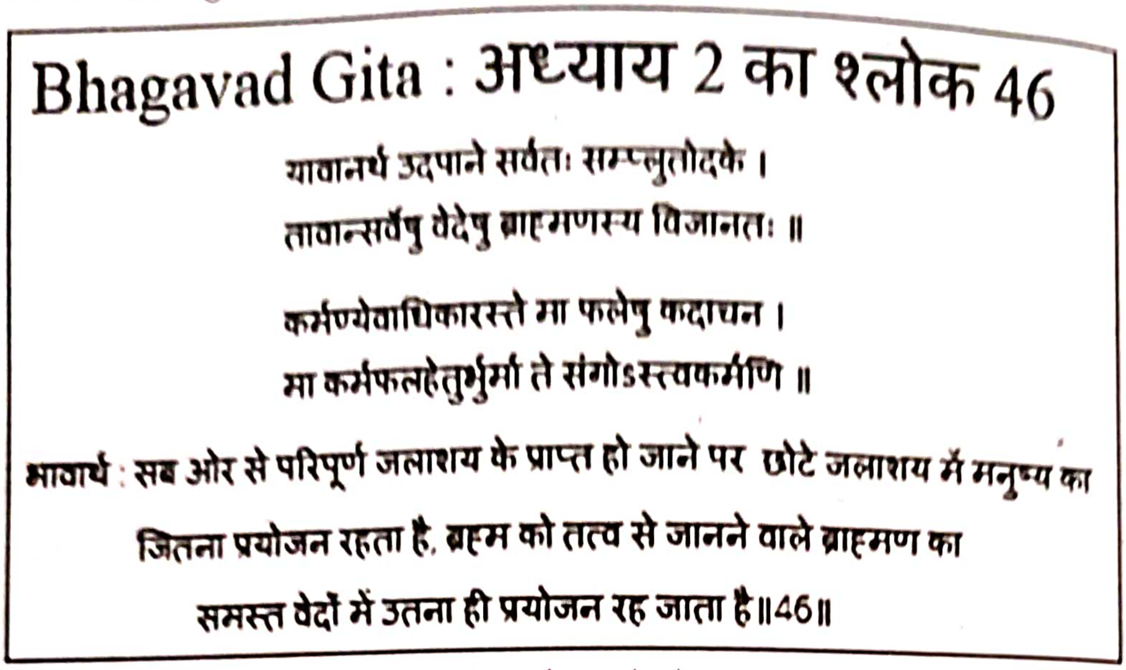
आखिर उसका निजी या सामाजिक स्वार्थ क्या था?

वस्तुतः भारत में हजारों वर्ष पूर्वकाल से चली आ रही सार्वजनिक कुदरती गुण, स्वभाव, के साथ-साथ सभी मनुष्यों को धारण करने वाली शील, समाधि, प्रज्ञा वाली धर्म-संस्कृति में किसी व्यक्ति विशेष या समूह विशेष को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आर्थिक लाभ या सामाजिक ऊंच-नीच वाले मान-सम्मान का लाभ कभी प्राप्त नहीं होता था। इसी आर्थिक और सामाजिक मान-सम्मान को प्राप्त करने हेतु भारत में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच कुछ ज्यादा ही चतुर दार्शनिक मान्यताओं वाले लोगों का जन्म हुआ है, जिसमें मुख्य रूप से दो दार्शनिक मान्यताएं— शैव संप्रदाय और वैष्णव संप्रदाय महत्त्वपूर्ण हैं। इनके संस्थापक का नाम क्रमशः आदिशंकर और रामानुज है। इनके आलावा भी कई संप्रदाय को स्थापित करने वाले लोग हैं, जिसमें मुख्य रूप से तंत्र-मंत्र, सिद्धि-साधना में अपनी महारत हासिल करने वाले लोग थे जिन्होंने अपने शाक्त संप्रदाय को स्थापित किया था। इसमें देवी-शक्ति की आराधना करने का प्रावधान है। लेकिन भारत के राजपूत-मुगल-ब्राह्मणी गठजोड़ समय में इन संप्रदायवादियों के अंदर नए-नए अनुयायियों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती चली गई। जिसके नाम हैं— गौडीय संप्रदाय, रामानंदी

संप्रदाय, रामानुज संप्रदाय, कबीर संप्रदाय, तुलसी संप्रदाय, वल्लभी संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, रामस्नेही संप्रदाय, दादू दयाल संप्रदाय, जसनाथी संप्रदाय, आर्य समाज संप्रदाय, गायत्री संप्रदाय, साईं संप्रदाय जैसे अन्य कई संप्रदाय बने और आज भी बन रहे हैं। इन सबों में परस्पर अपने दर्शन से संबंधित एक दूसरे से कभी मित्रता नहीं रही है।

इसी शैव संप्रदाय (अद्वैत वेदांत) के अंदर रहे शिष्य रामानुजाचार्य का मतभेद इन अद्वैत दर्शन और सिद्धांत के अनुयायियों से हो जाता है, जिसकी वजह से अद्वैत वेदांत से इनका निष्कासन हो जाता है। निष्कासन के बाद इन्होंने अपनी एक अलग मान्यता और दर्शन पर आधारित "द्वैतवाद" वैष्णव संप्रदाय नाम के एक दार्शनिक संप्रदाय को स्थापित किया। जिसे आज सभी लोग "वैष्णव संप्रदाय" के नाम से जानते हैं। इनके दर्शन का मूल सार अवतारवाद पर आधारित होते हुए "आत्मा और परमात्मा" के अस्तित्व को मानना था। शैव और वैष्णव संप्रदाय के लोग आपस में एक-दूसरे के काफी विरोधी होते थे। कभी-कभी तो दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे भी बन जाते थे। इन बातों को आप सभी लोग इन दोनों के द्वारा स्थापित शैव आराधना स्थल और वैष्णव आराधना स्थल की दूरी से समझ सकते हैं। यानि वैष्णव संप्रदाय के आगे जितने भी मंदिर बने, वे सभी शिव मंदिर से अलग वैष्णव अवतारवाद के नाम-रूप में बने। उससे भी ज्यादा वैचारिक रूप से छोटा-बड़ा दिखाने का मनभेद लिखित रूप से आगे भी बदस्तूर जारी रहा। इस विरोध को आज कोई भी इन दोनों के द्वारा स्थापित लिखित ग्रंथों में देख सकता है। सर्वप्रथम शैव संप्रदायवादियों ने अपने दर्शन के आधार पर वेद पुस्तक को लिखा था, जिसके प्रतिउत्तर में वैष्णव संप्रदायवादियों ने अपने दर्शन ग्रंथ गीता की रचना की एवं उसमें उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास किया। अब आप उस **"गीता के अध्याय 2, श्लोक 46 को देखें, उसमें इन्होंने वेद के दर्शन को गीता के समुद्र रूपी दर्शन के आगे एक छोटे से तालाब वाले दर्शन से तुलना की है।"** इस लोक वाली गीता के पृष्ठ को **चित्र संख्या (50) में देखें।**

अब प्रश्न, शैव संप्रदाय और वैष्णव संप्रदाय के बनने के बाद उनके द्वारा लिखित वेद, उपनिषद, रामायण, गीता, महाभारत जैसे अन्य ग्रंथों की प्राप्ति पर उठता है। ये सभी ग्रंथ नागरी लिपि और संस्कृत भाषा के अभ्युदय के बाद ही प्राप्त होते हैं। दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि इन सभी ग्रंथों की



Bhagavad Gita : अध्याय 2 का श्लोक 46

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

भावार्थ : सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रहम को तत्व से जानने वाले ब्राहमण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है॥46॥

चित्र संख्या (50)

प्रथम पांडुलिपि संस्कृत भाषा में होने के साथ-साथ कागज पर लिखी हुई मिली है। अब सबसे बड़ा विचारणीय विषय यह है कि ईस्वी सन से पूर्व में जितने भी वंश परंपरा वाले सम्राट हुए वे सभी लोग अपने कार्यकाल में अपने अभिलेख को लिखने हेतु कागज का प्रयोग नहीं करते हुए लेखन में केवल शिलाओं का प्रयोग करते थे। जिसके असंख्य साक्ष्य आज भारत के संग्रहालयों में देखने को मिल जाएंगे। यानी इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय कागज का उपयोग या कहें तो कागज की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। जबकि इस मान्यता के दर्शन वाले सभी लिखित पांडुलिपि कागज की मिली हैं।

ईस्वी सन से लेकर आठवीं शताब्दी तक के अनेक विश्वविख्यात शिक्षण संस्थान के साथ-साथ उस समय के अनेक सम्राटों के लिखित राज्यादेश आज भी खुदाई से मिलते हैं। वे सभी लिखित साक्ष्य ताम्रपत्र, ताड़पत्र और भोजपत्र पर मिले हैं। उन सबों के कार्यकाल में भी कागज का प्रयोग नहीं मिला है। इस साक्ष्य पूर्ण जानकारी से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक भारत में कागज का आविष्कार या दूसरे देशों से भी आयात करते हुए लिखने की परंपरा विकसित नहीं हुई थी।

लेकिन शैव संप्रदाय और वैष्णव संप्रदाय या कहें तो आज के वैदिक मान्यता से जुड़ी हुई जितनी भी दार्शनिक मान्यताओं का लेख प्राप्त हुआ है उन सभी की मूल पांडुलिपि कागज पर लिखी हुई प्राप्त हुई है।

भारत में इस लिखित दर्शन के अलावा भी काफी मात्र में कागज पर लिखी हुई पांडुलिपी मिली है, जिनमें उस समय के शिक्षण संस्थान और सम्राटों के लिखित अभिलेख हैं, लेकिन वे कागज की सभी पांडुलिपियां दसवीं शताब्दी बाद से लेकर मुगल काल तक की लिखी हुई हैं। अब आप स्वयं समझ गए होंगे कि सभी शिक्षण संस्थान और राज्यादेश के लेखन हेतु जिस कागज की पांडुलिपि का उपयोग दसवीं शताब्दी के बाद से होता है तो अन्य जो कुछ भी कागज की पांडुलिपि पर लिखा हुआ मिला है, वह भी निश्चित ही दसवीं शताब्दी के बाद का है। लेकिन इस दर्शन के लेपधारियों की मान्यता है कि कागज का आविष्कार लाखों वर्ष पूर्व हो गया था। इसको इनकी अंधभक्ति के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

जैसे ही शैव संप्रदाय के संस्थापक आदिशंकर का नाम आता है वैसे ही इनके द्वारा स्थापित शिव की आराधना और अपने वैदिक दर्शन-शास्त्र की बुनियाद पर बनी "ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या" की याद ताजा हो जाती है। इन्होंने इसी मिथ्या पर अपना अद्वैतवाद सिद्धांत भी प्रतिपादित किया था। आदिशंकर के द्वारा ही पूर्वकाल से चली आ रही सम्यक सभ्यता-संस्कृति वाले चार कोणों में स्थापित सम्यक मठ पर कब्जा करते हुए उसे अपने दर्शन वाले चार वेदांत मठ (चार धाम) में परिवर्तित किया गया था।

वैदिक दर्शन के मूल प्रणेता आदिशंकर हैं और इसे इन्होंने अपने कार्यकाल में वैदिक दर्शन के रूप में प्रचारित करते हुए समस्त भारत में फैला दिया। आज के कुछ तथाकथित लेखक इसी वैदिक उत्पत्ति को आज से चार हजार वर्ष पूर्व का बताते हुए इन चार वेदांत मठों को पूरे भारत में वैदिक काल के रूप में दिखाते हैं और इस पर अपनी मान्यता अनुसार कई उपनिषद और पुराण जैसे ग्रंथों का लेखन भी कर देते हैं। उन्हीं ग्रंथों के पठन-पाठन का परिणाम है कि इसके अनुयायी लोग अपने मानसपटल के दर्शन पर लिखित बातों का गहरा लेप लगा लिए हैं। जबकि आदिशंकर के द्वारा स्थापित इन्हीं चार पीठों से चारों वेद का प्रचार हुआ है। इस मान्यता के जितने भी अनुयायी हैं उन लोगों के अंदर एक धारणा बनी हुई है कि जीते जी इस चार धाम की यात्रा जरूर होनी चाहिए, तभी जीवन धार्मिक रूप से सार्थक और सफल होगा। आपको एक बात की जानकारी से और ज्यादा आश्चर्य होगा कि रामायण के अंदर का पात्र श्रवण भी अपने माता-पिता को लेकर इसी चार

धाम (आदिशंकर द्वारा स्थापित) की यात्रा करवाने गया था।

आज के दार्शनिक ग्रंथों में आदिशंकर का जन्म काल काफी विवादित और अबूझ पहेली के रूप में परोसा गया है। जिससे इस मान्यता के लोग काफी उलझे हुए हैं। परंतु इसकी सच्चाई को अगर जानना और समझना चाहते हैं तो आदिशंकर की जीवनी को देखें या पुरातात्विक रूप से अभिप्रमाणित जन्मकाल को देख सकते हैं। इन दोनों तथ्यों के आधार पर आदिशंकर का जन्म 788 ईस्वी है। यानी आदिशंकर द्वारा ही वेदांत अध्यात्म दर्शन, चार वेदांत मठ, शैव मंदिर जैसे धार्मिक स्थलों की स्थापना इनके जन्म के बाद से प्रारंभ होती है। जिसको उस काल के छद्म लेखकों ने अपने नाम को पीछे रखते हुए काल्पनिक लेखकों को लेखक बनाते हुए सभी ग्रंथों को पूर्व के अज्ञात काल समय में जाकर बैठाया है। आज इस मान्यता के जितने भी लाभ प्राप्त मठाधीश हैं वे सभी लोग इन्हीं लिखी हुई बातों की जानकारी अपने अनुयायी को देते हुए उनको मंत्रमुग्ध करवाते रहते हैं और इस मान्यता के सभी अनुयायी भी अपने-अपने मठाधीश से इस प्रकार की कथा-कहानी सुनकर झूमते रहते हैं। वस्तुतः आज तक इस प्रकार की बातों का कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है।

अब मुख्य सवाल यह उठता है कि किसी भी दर्शन को फैलाने में उसके संस्थापक और उसके अनुयायियों को क्या लाभ हुआ?

दूसरी बात कि शैव और वैष्णव संप्रदाय के निर्माण काल की जानकारी साक्ष्यों पर आधारित होने के बाद भी इनके अनुयायियों के अंदर अपनी मान्यता असंख्य हजार वर्ष पूर्व की कैसे बन गई?

अब देखना यह है कि इस शैव और वैष्णव संप्रदाय को स्थापित करते हुए इसे फैलाने में इन दोनों के संस्थापकों को क्या लाभ होता है और आगे इन दोनों के अनुयायियों को भी इस दर्शन को सदियों पूर्व का भ्रम बनाए रखते हुए फैलाने में क्या लाभ है? क्योंकि जब तक इन सबों के लाभ वाले मकसद को नहीं जान जाएंगे, तब तक इस पर सही या गलत की कुछ भी व्याख्या नहीं कर पाएंगे।

आइए इस शैव और वैष्णव संप्रदाय के संस्थापकों के मुख्य उद्देश्य को जानें!

इनके पूर्व के भारत में कुदरत की सार्वजनिक धर्म वाली संस्कृति विद्यमान थी। जिसमें समतामूलक समाज होता था, कोई वर्ण या जाति के द्वारा निर्मित ऊंच-नीच वाला गैर-समतामूलक समाज नहीं था। अब जब समतामूलक समाज था और उस समतामूलक समाज में कोई वर्ण नहीं था, कोई जाति नहीं थी, तो निश्चित ही कोई व्यक्ति ऊंचा-नीचा भी नहीं होगा। अब अगर ऐसी बनावट वाले समाज में कोई स्वयं और अपने अनुयायियों को भी ऊंचा बनाना चाहता है तो सबसे पहले उसे पूर्व के समतामूलक समाज को गैर-समतामूलक समाज में परिवर्तित करना होगा। इसके बाद उस परिवर्तित गैर-समतामूलक समाज में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ बनाते हुए अन्य बचे हुए सभी समाज को क्रमानुगत नीचा बनाने वाली कोई व्यवस्था बनानी होगी। इसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु उस समय के अति महत्त्वाकांक्षी चतुर दार्शनिक संस्थापकों ने वर्णागत समाज का निर्माण करते हुए कई जातियों में विभाजित समाज बनाना शुरू किया था। अपने को सर्वश्रेष्ठ निर्माण करना ही इन सबों का मुख्य लक्ष्य था, जिसकी पूर्ति इन दोनों के बाद से शुरू हो गई थी।

अब बात आती है इनके अनुयायियों की!

जिस किसी भी दर्शन-मान्यता से किसी व्यक्ति या जाति-समूह को अपने सामाजिक सम्मान, आर्थिक सम्मान, राजनीतिक सम्मान जैसे लाभ की पूर्ति होने लगती है तो वह वैसे मान्यता-दर्शन को अपने लिए खेत समझता है और उस खेत में से लाभ देने वाले अनुयायियों को उस खेत की फसल। अब भला कोई अपने खेत और उस खेत की फसल को क्यों नष्ट होने देगा! इसके बाद से वह अपनी स्वार्थलोलुप्ता में पड़कर उस मान्यता और दर्शन की चिंता करने लगता है कि यह दर्शन लोगों के बीच में ज्यादा-से-ज्यादा कैसे प्रचारित हो। फिर क्या, वह लोगों को भावनात्मक रूप से समझाते हुए उनके दिलो-दिमाग में धीरे-धीरे बैठाता चला जाता है और उनके अंदर बैठाकर अपने शैव दर्शन या वैष्णव दर्शन से उन्हें भाग्य और ईश्वर की लाभ-हानि दिखाता है। उस लाभ-हानि को प्राप्त करने हेतु अन्य सभी लोग उसके द्वारा बनाए हुए कर्मकांडों को करते हैं। इन सब बातों में आमजन पड़कर धीरे-धीरे अपने मानसपटल पर इस मान्यता को मानने का लेप लगाना शुरू कर देते हैं और आगे वह इस दर्शन के कर्मकांड से ही अपनी अच्छाई या बुराई को तय करते हुए, इसमें अंतरध्यान हो जाते हैं। आगे इस दार्शनिक कर्मकांडी प्रक्रिया को पीढ़ी-दर-पीढ़ी दोहराते-दोहराते

उनके वंशजों की नसों में इसका जहर इतना फैल जाता है कि अब वह अपने जन्म से मृत्यु के बीच में घटने वाली सभी घटनाओं की समीक्षा इसी दर्शन से जोड़ते हुए कर्मकांड करके संतुष्ट रहने लगते हैं। अंत में वह अपनी दर्शन मान्यता को ही सर्वोच्च मानने लगते हैं। उसके बाद फिर संप्रदायवादियों के अनुयायियों की तो बल्ले-बल्ले हो जाती है। अपने अनुयायियों द्वारा सामाजिक मान-सम्मान, राजनीतिक पहचान, आर्थिक आन-बान और शान की प्राप्ति के साथ-साथ दिन-रात उसका गुणगान भी होने लगता है।

अब भला इससे ज्यादा किसी को और क्या चाहिए?

लेकिन इस मान्यताधारी परिवार में भी दो प्रकार के अनुयायी आपको मिलेंगे। पहले प्रकार के अनुयायी अपने मन-मस्तिष्क के अंदरूनी हिस्से पर इस मान्यता का गहरा लेप लगाकर ग्रसित रहते हैं तो दूसरे अपने बाहरी मन-मस्तिष्क पर ही इस मान्यता का लेप लगाकर इससे ग्रसित रहते हैं। अंदरूनी लेप उसे कहते हैं जो किसी भी व्यक्ति के अंदर अविद्या की वजह से जन्म लेता है और जन्म से लेकर मृत्यु तक के बीच अपने घर-आंगन में होने वाले दार्शनिक कर्मकांडों के गहरे प्रभाव का मोटा लेप होता है, जिसको कोई कितना भी साक्ष्यजनक प्रमाण को दिखाते हुए उनके मन-मस्तिष्क से दूर करना चाहे, तो भी वह उनके मन-मस्तिष्क से बाहर नहीं निकल सकता है। परंतु इस दर्शन मान्यता के दूसरे प्रकार वाले जो अनुयायी हैं वह अपने घर की मान्यता को देखते-देखते छिछले तौर पर उसे अपने बाहर के मन-मस्तिष्क पर बैठाते हैं। ऐसे लोग अपने घर-आंगन के बीच होने वाली किसी भी दार्शनिक मान्यता को जन्म से देखते हुए बड़े तो होते हैं, लेकिन हर दर्शन में अपने विद्या-बुद्धि द्वारा तर्क करते हुए विचार करते हैं और उन्हें जैसे ही कुछ साक्ष्यों का सहारा मिलता है तो वह वैसे ही इस दकियानूसी मान्यता से निकलकर तुरंत बाहर आ जाते हैं। अगर किसी कारणवश वे नहीं भी निकलते हैं तो भी वह इस प्रकार के धूर्तों द्वारा स्थापित स्वार्थपूर्ण बातों को समझते जरूर हैं। ऐसे समझदार सज्जन पुरुषों के पास अपने घर-परिवार का कुछ भावनात्मक बंधन होता है जिसकी वजह से वे व्यक्ति इस अनचाहे बंधन से बंधे रहते हैं।

आइए अब हम लोग इस अंधश्रद्धा से हटकर अपनी साक्ष्यों वाली बातों की ओर चलें।

हां! वेद और वैदिक काल की सभ्यता का उद्‌गम अब बौद्ध सभ्यता से

हुबली और पद्मा नदी के जैसे उदय हो रहा है जिसको बनने से लेकर आज तक पोषित होने का साक्ष्य आप लोग अब देख सकते हैं।

सम्राट हर्षवर्धन के बाद पूर्वी भारत में पाल वंश (8वीं सदी) का उदय होता है। इस पाल वंश के उदय के साथ-साथ भारत के महायान बौद्ध परंपरा से कुछ पंथों का उदय स्पष्ट रूप से दिखता है जो आगे चलकर वेद और वैदिक परंपरा का रूप ले लेता है। जरूरत है सिर्फ निर्विकार रूप से अवलोकन करते हुए सूक्ष्म दृष्टि से देखने की।

पाल वंश के पहले तक भारत में संस्कृत लिपि के सदृश्य लेख आज तक प्राप्त नहीं हुए हैं। लोग कहते हैं कि वेद और वेद वाली लिपि संस्कृत का उदय इसके कई हजार वर्ष पूर्व हो गया था, लेकिन इस पाल वंश के पूर्व तक का एक भी संस्कृत का अभिलेख आज तक किसी को दिखाया नहीं गया है और न ही किसी पुरातात्विक संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। कहना और दिखाना दोनों दो विषय हैं और दोनों कितने महत्त्वपूर्ण हैं यह आप भी जानते हैं। दूसरा, इस काल तक किसी भी वैदिक परंपरा से जुड़े हुए शैव पंथ, वैष्णव पंथ, शाक्त पंथ के मंदिर का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। आज जो भी मंदिर दिखते हैं उन सभी का निर्माण पाल वंश के बाद का है। पाल वंश के काल में जैन साहित्य का भी लेखन हो गया था। लेकिन वेद और वैदिक संस्कृति से जुड़ी हुई कोई भी पुस्तक नहीं मिली है। यानि आज जो भी वैदिक सभ्यता होने की भ्रांतियां फैलाई जा रही हैं उन सभी को मौखिक और काल्पनिक रूप से ही सत्यापित करने का कार्य लोग कर रहे हैं।

लेकिन इस काल के बाद से तथाकथित विद्वान लेखकों की कल्पना को भी मैं साक्ष्यों के साथ सहयोग करता चलूंगा!

इस काल के बाद से देखिए कि कैसे पूर्व की बौद्धिक संस्कृति आज की वैदिक संस्कृति में रूपांतरित होते हुए हुबली और पद्मा के रूप में स्थापित होती है। इस नई स्थापित संस्कृति में शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ का समागम होता है, जिसे आज का हिंदू धर्म या वैदिक धर्म कहते हैं।

मूलतः वैदिक संस्कृति स्पष्ट रूप से तीन पंथों का सम्मिश्रण है, कोई भी जानकार व्यक्ति इसे स्पष्ट रूप से जानता है। लेकिन आज के बाद आप भी जान जाएंगे कि वो तीन कौन से पंथ हैं।

पहला, शैव पंथ है, जिसके संस्थापक और शंकराचार्य अन्य दोनों से अलग होते हैं और उनका मंदिर भी अलग होता है। उस मंदिर में सिर्फ लिंग की प्रधानता है, जो सभी से अलग होती है। आज आप पूर्वकाल यानि मध्य काल के जितने भी वने मंदिरों को देखेंगे उनमें हर मंदिर के गर्भ में सिर्फ लिंग स्थापित दिखेगा।

दूसरा, वैष्णव पंथ है। इसके भी संस्थापक और शंकराचार्य अन्य दोनों से अलग होते हैं। मध्य काल (मुगल काल) में बने सभी मंदिरों को देखेंगे तो उनमें मंदिर के गर्भ में अवतारवाद के रूप में जितने भी देवी-देवता का प्रारूप है वो हर मंदिर में वारी-वारी से स्थापित दिखेगा।

तीसरा, शाक्त पंथ है। यह विल्कुल ही अलग प्रकार की शक्ति-पीठ के रूप में विकसित पंथ है। पाल काल के वाद में वने शक्ति मंदिरों को देखेंगे तो उनमें मंदिर के गर्भ में शक्ति के रूप में किसी महिला का रूप या पिंडी का रूप मिलेगा। इनके अनुयायियों का आचार-विचार भी उन दोनों से काफी भिन्न होता है। इसे आज लोग सिद्ध पीठों के रूप में जानते हैं।

गुप्त वंश के अंत में और हर्पवर्धन वंश के काल में भारत के अंदर वौद्ध महायान परंपरा में एक वहुत ही स्पप्ट परिवर्तन देखने को मिलता है, जिसका साक्ष्य आज भी मौजूद है। वह परिवर्तन है महामानव गौतम बुद्ध के अनुयायियों द्वारा मार्गदाता को "अवलोकितेश्वर बुद्ध" के रूप में स्थापित करने की परंपरा का उदय होना। उस समय इस अवलोकितेश्वर को महामानव मार्गदाता गौतम बुद्ध का सबसे लोकप्रिय बोधिसत्त्व रूप कहा जाता था। उस समय से इस बोधिसत्त्व रूप की मान्यता वन गई थी कि इस रूप में अवलोकितेश्वर बुद्ध अपनी असीम करुणा से कोई भी रूप धारण करते हुए समस्त प्राणियों का दुख दूर करने आते हैं।

स्रोत : महायान बौद्ध ग्रंथ 'सद्धर्मपुण्डरीक'।

इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि भारत में मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति का निर्माण लोग अलग-अलग अवतार वाली मुद्राओं में करने लगे। इस 'अवलोकितेश्वर बुद्ध' की प्रधानता दिनोंदिन बढ़ने लगी थी। आज गुप्त काल और हर्षवर्धन काल की खुदाई में प्राप्त बुद्ध की अनेक मूर्तियों की बनावट में इस प्रकार का आकार आप स्पष्ट देख सकते हैं। इसके लिए आप लोग अपने



चित्र संख्या (51)

किसी नजदीकी संग्रहालय में जाकर इस काल की प्राप्त बुद्ध की मूर्ति को अवलोकितेश्वर मुद्रा में देख सकते हैं। **देखें चित्र संख्या (51) में।**

आज वैदिक या ब्राह्मणी काल्पनिकता की जितनी भी पूर्वकालीन बनी हुई मूर्तियों को देखते हैं वे सभी के सभी इसी अवलोकितेश्वर बुद्ध वाली मूर्ति को अपहृत करते हुए ब्राह्मणों द्वारा अपने लाभ हेतु आपके सामने लाई गई हैं। क्योंकि भारत में इस प्रकार की अलग-अलग मुद्राओं वाली किसी की मूर्ति इसके पहले नहीं मिली है। इन्हीं मूर्तियों के बाद से वैदिक परंपरा वाले शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ वाले संप्रदाय की उत्पत्ति हुई है, जिसका साक्ष्य के साथ वर्णन आपको आगे मिलेगा।

भारत में महायान परंपरा से वज्रयान परंपरा का अभ्युदय हुआ है। महायान परंपरा का आरंभ भारत के स्वर्ण काल के समय में हुआ था इस वजह से उसका विस्तार एशिया महादेश के कोने-कोने में पहुंच गया। परंतु वज्रयान परंपरा का अभ्युदय स्वर्ण काल के अंतिम चरण में हुआ था इस वजह से इस वज्रयान का प्रभाव भारत के इर्द-गिर्द तिब्बत, लेह-लद्दाख तक ही सिमट कर रह गया था।

यह वज्रयानी परंपरा क्या है?

आइए पहले इसको जानें! वस्तुतः सामान्यतौर पर कह सकते हैं कि महायान बौद्ध परंपरा में एक शाखा के रूप में उदित होते हुए नए मार्ग का निर्माण करना, जिसमें मार्गदाता गौतम बुद्ध के बताए आष्टांगिक मार्ग पर चलते हुए अवतारवाद वाले **अवलोकितेश्वर** यानी **मार्गदाता गौतम बुद्ध को**

ईश्वर के अवतार वाली अवधारणा को महत्त्व दिए जाने से है।

कुछ समय पश्चात ही इसी वज्रयान परंपरा से तंत्रयान परंपरा का उद्भव होता है। इस तंत्रयान परंपरा में विपस्सना जैसी लंबी साधना विधि की जगह पर सरल और सुलभ **'उच्च टंकार युक्त ध्वनि वाले मंत्रों की साधना और जाप'** को प्रमुखता से स्थान दिया गया और ऊंची टंकार युक्त ध्वनि के साथ-साथ कुछ तंत्र-मंत्र युक्त ऋचाओं की रचना भी की गई।

इन सभी के उच्चारण से शरीर में कंपन उत्पन्न होता था इसलिए साधक कहते थे कि इससे काफी लाभ होता है। परंतु यह लाभ लोगों को हुआ या नहीं, इसका तो पता नहीं चला, लेकिन पूर्वकाल की स्वस्थ विद्या **विपस्सना** विलुप्त जरूर हो गई और उसकी जगह पर **ऊंचे टंकार** वाले **तंत्र-मंत्र** का समावेश हो गया।

वज्रयान, तंत्रयान और अवलोकितेश्वर बुद्ध! ऐसे तो अवलोकितेश्वर बुद्ध मूर्ति का निर्माण महायान परंपरा से ही थोड़ा बहुत शुरू हो गया था, लेकिन भारत में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व के बाद से महायान कमजोर पड़ने लगा और वज्रयान परंपरा मजबूती के साथ उभरती हुई आठवीं-नवमीं शताब्दी तक संपूर्ण भारत में अपनी पकड़ बना ली थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व के रूप में असीम करुणा का रूप धारण कर जातक कहानियों के साथ चामत्कारिक कहानियों की भरमार होने लगी थी, जिसका साक्ष्य आज आपको वज्रयानी परंपरा के अंदर बहुतायत में मिलेगा।

स्रोत : बौद्ध ग्रंथ 'सद्धर्मपुण्डरीक' में अवलोकितेश्वर बुद्ध की चमत्कारपूर्ण बातों का वर्णन मिलता है।

मार्गदाता गौतम बुद्ध ने हमेशा अपने आपको एक मानव के रूप में सबके सामने रखा था, लेकिन महायान के अंतिम चरण और वज्रयान के प्रथम चरण में इनको अवतार और चामत्कारिक बातों से जोड़ते हुए एक अलौकिक शक्ति का प्रतिरूप दिखाया जाने लगा, जिसे आज की ब्राह्मणी वैदिक परंपरा का शुभारंभ होना कहते हैं। यानि अवतारवाद की परिकल्पना इसी काल से शुरू हुई। आज अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की जितनी भी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं उनमें प्रथम बुद्ध को कमल के फूल पर दिखाया गया है, दूसरे बुद्ध के हाथ में शंख और कमल के फूल के साथ दिखाया गया है, तीसरे बुद्ध की जो मूर्ति मिली



चित्र संख्या (52)



चित्र संख्या (53)

है उसमें उनके हाथ में वज्र और आष्टांगिक चक्र भी दिखाया गया है।

लेकिन इसी अवलोकितेश्वर बुद्ध के बाद से भारत में बोधिसत्त्व शब्द का विकास ज्यादा हुआ था। बोधिसत्त्व यानी मार्गदाता गौतम बुद्ध की बताई गई दस पारमिताओं का जो भी पूर्ण पालन करते हुए अपने अंदर मनोसात कर लेगा, उसे बोधिसत्त्व का दर्जा प्राप्त हो जाएगा और आगे चलकर वह बोधिसत्त्व बुद्धत्व को प्राप्त कर लेगा। उस समय इस प्रकार की मान्यता बहुत ही प्रचलित थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस मार्ग के अनुयायी भी बोधिसत्त्व की प्राप्ति का प्रयास करने लगे थे। आगे उन सभी के अनुयायी लोग भी अपने-अपने बोधिसत्त्व प्राप्त लोगों की विभिन्न प्रकार की मुद्राओं में मूर्तियों का निर्माण करने लगे। जैसे– हाथ में जलपात्र की मुद्रा, हाथ में कमल फूल मुद्रा, हाथ में वज्र-शक्ति मुद्रा, हाथ में धम्म-चक्र की मुद्रा, हाथ में शंख की मुद्रा, अनगिनत हाथ की मुद्रा, कमर से तिरछी मुद्रा, गले से मुड़ी हुई मुद्रा, नितंब से तिरछी मुद्रा। इस प्रकार की मुद्रा को **चित्र संख्या (52) में** आप देख सकते हैं।

इसके बाद से ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्ति में आज की ब्राह्मणी संस्कृति की देवी-देवता वाली बनावट की झलक देखने को मिलने लगी थी। अधिकांश अवलोकितेश्वर बुद्ध की मूर्तियों के निचले भागों पर एक ऋचा

'ओम मणि पद्मे हुम्' लिखा हुआ मिलता है। परंतु आज इसी **'ओम'** को लेकर वैदिक परंपरा वाले नासा और सूर्य से अपने आपको जोड़ते नहीं थकते हैं। लेकिन इस **'ओम'** को कहां से लिए हैं यह आज तक वैदिक अनुयायी वाले नहीं बताते हैं। वैदिक मतानुयायियों से एक प्रश्न है कि यदि उन्होंने अवलोकितेश्वर बुद्ध से **'ओम'** की चोरी नहीं की है तो फिर यह बताएं कि इस ओम को सर्वप्रथम इन्होंने कब और कहां से प्राप्त किया था? इस ओम पर कुछ लिखित अवशेष को क्यों नहीं दिखाते हैं? द्वितीय तथ्य यह है कि महायान और वज्रयान परंपरा में एक धम्म-चक्र की प्रधानता है, जिसका भारत के बाहर भी सभी बौद्ध राष्ट्रों में काफी महत्त्व है। उस धम्म-चक्र को आज कोई भी देख सकता है, उस पर भी हर राष्ट्रों की लिपि-भाषा में **'ओम मणि पद्मे हुम्'** लिखा हुआ मिलेगा। आप लोग **चित्र संख्या (52) में** अवलोकितेश्वर बुद्ध और **(53) धम्म-चक्र** में **'ओम मणि पद्मे हुम्'** लिखा हुआ देख सकते हैं।

उस समय ऐसी मान्यता थी कि **'ओम मणि पद्मे हुम्'** लिखे गए धम्म चक्र को जितनी बार घुमाओगे उतनी बार इस मंत्र के जाप का फल मिलेगा। इन्हीं सब मंत्रों की शक्ति वाली मान्यता से आगे वज्रयान से तंत्रयान यानी शाक्त पंथ यानी शक्ति की उपासना वाले संप्रदाय का उदय होता है, जो आज शक्ति पीठों के नाम से मशहूर है। इन शक्ति पीठों में तंत्र-मंत्र व सिद्धि साधना का महत्त्व बहुत ज्यादा दिखता है। इनमें आज भी पूर्वकाल के स्थापित कुछ स्थान हैं जहां बुद्ध की मूर्ति का साक्ष्य मिलता है। उन सभी स्थलों की चर्चा मैं आगे विस्तार से चित्र के साथ करूंगा।

पूर्वकाल का **'धर्म'** यानी भारत में 850 ईस्वी से पूर्व का **'धर्म'** **(पालि भाषा में धम्म)** प्रकृति के गुण-स्वभाव अथवा कुदरत के कानून, (निसर्ग के नियम) या सृष्टि के विधान को कहते थे। इस बात की पुष्टि नौवीं शताब्दी से पूर्व मिले अनगिनत लिखित अभिलेखों (पालि लिपि में) से होती है। उन सभी अभिलेखों पर धर्म की लिखित व्याख्या इस प्रकार की गई है। **'धारेती'ति धम्मो'** यानी **'धारण करे सो धर्म है'** ए धारण क्या करें! **'अत्तनो सभावं, अत्तनो लक्खनं, धारेती'ति धम्मो'** अथवा जो अपने स्वभाव को धारण करता है, जो अपने लक्षण को धारण करता है, उसे ही धर्म कहते हैं। अब अगर कोई अपना स्वभाव और लक्षण अच्छा धारण किया है तो उसे **'सुधर्म'** (धार्मिक) धारण करने वाला बोला जाता था और अगर कोई अपना स्वभाव और लक्षण बुरा धारण किया है ता

उसे **'अधर्म'** (अधार्मिक) धारण करने वाला बोला जाता था। लेकिन **'धर्म'** को किसी विशेष सांप्रदायिक शब्दों से अलंकृत करते हुए नहीं लिखा जाता था। इसलिए 850 ईस्वी से पूर्व के भारत में इस धर्म (धम्म) को किसी भी विशेष नाम वाले संप्रदाय से जोड़ते हुए कहीं पर भी (जैसे : **'बौद्ध धर्म', 'गौतम धर्म', 'वैदिक धर्म', 'सनातन धर्म'** या **'हिंदू धर्म'**) लिखा हुआ प्राप्त नहीं होता है। इसके लिए आप गुप्त काल, कुषाण काल या मौर्य काल या फिर किसी भी प्राचीन काल के सम्राटों द्वारा लिखित अभिलेख या किसी भी शिक्षण संस्थान से प्राप्त लिखित पत्र को देख सकते हैं। उस समय के जितने भी लिखित साक्ष्य मिलते हैं उन पर सिर्फ **'धम्म'** ('धर्म') लिखा मिला है। अगर किसी को भी **'बौद्ध धर्म'** लिखा मिला हो तो उस साक्ष्य को जरूर बताएं!

इस विषय को गौर से समझने की जरूरत है। आखिर ऐसा क्यों लिखा मिलता है? चाहते तो सम्राट अशोक से लेकर सम्राट हर्षवर्धन तक के सभी लोग 'बौद्ध धर्म' भी लिखवा सकते थे, क्योंकि इन सभी के काल में संपूर्ण भारत इसी मत का अनुयायी था। लेकिन उन सभी सम्राटों ने ऐसा क्यों नहीं किया?

इसके दो कारण स्पष्ट हैं—

पहला और मुख्य कारण यह है कि 850 ईस्वी से पूर्व के काल में **एक ही धम्म (धर्म) की संस्कृति थी** और वह संस्कृति सार्वजनिक (सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध अथवा सर्वधर्म समभाव) थी अर्थात सबों के लिए थी। उसको कोई भी अपने अंदर मनोसात कर सकता था। इसी वजह से इस काल में जितने भी विदेशी लोग भारत आए थे वे अपने अंदर इस सार्वजनिक बुद्धि वाली परंपरा को मनोसात करते हुए धम्म में विलीन हो गए। वे सभी लोग इसके अंदर में कुदरत के कानून अनुसार पंचशील का पालन करते हुए अपनी जिंदगी व्यतीत करने लगे थे। इसके अंदर वाली प्रकृति के नियमानुसार शील-सदाचार में रहते हुए आम लोग अपनी वाणी और व्यवहार में मधुरता लिए हुए रहते थे। इसके अनुसार अपने अंदर नियति के नियम अनुसार अपनी सुखद, दुखद और अदुखद, असुखद संवेदना को काबू में रखते हुए राग और द्वेष रहित जीवन जीते थे।

लेकिन कुछ धूर्त लोगों ने इस सार्वजनिक धर्म (धम्म) को अपने क्षुद्र लाभ हेतु धीरे-धीरे एक समूह विशेष के संप्रदाय का रूप दे दिया। कारण, उनको इसमें

से निकली वज्रयानी, तंत्रयानी मत से अलग अपने शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ की स्थापना करते हुए अपनी भावी पीढ़ियों के लिए रोजगार जो सुनिश्चित करना था। जब तक कोई पूर्व के सार्वजनिक मार्ग को एक समूह विशेष का पंथ और संप्रदाय स्थापित नहीं कर देता तब तक उसके द्वारा स्थापित पंथ का वजूद नहीं खड़ा हो सकता था। इसी वजह से पूर्व की सभ्यता में स्थापित सार्वजनिक मार्ग (धम्म) को साजिश के द्वारा नष्ट करते हुए 850 ईस्वी के बाद से कुछ धूर्त लोगों ने अपने पंथ-संप्रदाय को स्थापित करना शुरू कर दिया था।

दूसरा, कुदरत से जो भी हमें प्राप्त होता है वह सार्वजनिक और इकलौता होता है। लेकिन इंसान अपने निजी लाभ हेतु बाद में सबों को अलग-अलग बताना शुरू करता है। पूर्व का धर्म या धम्म भी इकलौता था, लेकिन 850 ईस्वी के बाद से जैसे-जैसे धूर्त लोग पैदा होते गए वैसे-वैसे उस धर्म में से अपने संप्रदाय को अलग करते हुए पूर्व के सार्वजनिक धर्म (धम्म) को भी एक नया नाम और रूप देते हुए **'बौद्ध धर्म'** बना दिया। कारण धूर्तों को अपने अव्यावहारिक संप्रदाय को धर्म के रूप में पूर्वकालीन साबित जो करना था! इन धूर्तों ने आज अपने को **'गोविल्स'** के नियम अनुसार कुछ सौ वर्षों में असाक्ष्य युक्त वैदिक को भी धर्म के रूप में स्थापित कर दिया है और साथ में पूर्व की शील, समाधि वाली कुदरतन संस्कृति को **'बौद्ध धर्म'** का नाम देकर प्रचारित भी कर दिया है। जबकि पूर्वकाल में इस बौद्ध धर्म का कोई नाम नहीं था, **बल्कि इसे बुद्धि वाले गुण धर्म के साथ जिंदगी जीने की परंपरा कहते हुए सिर्फ 'धम्म या धर्म' कहा जाता था।**

इसे आप एक उदाहरण से समझें : जैसे सबसे पूर्व में रहे एक वैज्ञानिक (थॉमस एल्वा एडिसन) ने मनुष्य की सुविधा हेतु 'बल्व' (रौशनी हेतु) की खोज की थी। अब उस बल्व का क्या नाम होगा? सिर्फ बल्व! लेकिन उस बल्व से प्रभावित समाज पर कुछ लोभियों की नजर टिक जाती है और वह इस बल्व से प्रकाशित समाज से अपने और अपनी भावी पीढ़ी के स्वार्थ-सिद्धि हेतु अपने नाम का बल्व वाला संप्रदाय बनाते हुए उसका प्रचार-प्रसार करने लगते हैं। जैसे फिलिप्स, क्रॉम्पटन, सोनी, बजाज वाली बल्व कंपनियां। पूर्व का थॉमस एल्वा एडिसन एक खोजकर्ता था, जिसने समाज को अंधेरे से बचाने हेतु बल्व की खोज की थी, लेकिन बाद वाले कंपनी के संस्थापक फिलिप्स, क्रॉम्पटन, सोनी, बजाज जैसे लोगों ने अपने संस्थान में बनने वाले बल्व से अपनी

स्वार्थसिद्धि करने की सोच रखी थी। उनके अंदर अपनी मुनाफाखोरी की सोच थी। ठीक उसी प्रकार से भारत की 850 ईस्वी से पूर्व वाले रोशनी युक्त मार्ग को अनेक मार्गदाताओं ने समाज में व्याप्त दुख-विकार के मुक्ति हेतु खोजा था। लेकिन 850 ईस्वी के बाद वाले धूर्तों ने उसे अपने क्षुद्र लाभ हेतु अपहृत करते हुए उस बल्ब की कंपनी जैसे संस्थापक बनकर व्यवसाय (मार्केटिंग) शुरू कर दिया। धूर्तों ने अपने स्थापित पंथ को पूर्व के सार्वजनिक मार्ग को एक पंथ का रूप देते हुए उसे बौद्ध धर्म का नाम दे दिया। क्योंकि, इनको पूर्व की खोज पर अपने स्वार्थ युक्त नाम से मार्केटिंग जो करनी थी।

इसे कुछ इस प्रकार भी समझ सकते हैं—

जैसे पूर्वकाल में लिपि-भाषा का ज्ञान होने के बाद से प्रकृति से प्राप्त रंग और प्रकृतिप्रद किसी नुकीली वस्तु (कलम) से लिखने की संस्कृति की शुरुआत हुई होगी। उस लिखने वाली वस्तु को कलम का आरंभिक रूप कहते हैं। लेकिन उस कलम का कोई नाम नहीं था, उसका कोई संस्थापक नहीं था। उसे सभी लोग सिर्फ कलम के नाम से जानते थे। लेकिन जब उस कलम पर क्षुद्र स्वार्थी और लोभी प्रवृत्ति वाले लोगों की नजर टिक जाती है तो उस कलम को "कंडे का कलम" नाम देते हुए अनेक कलम के संस्थापक लोग लाभ लेने को आतुर हो जाते हैं। जिसके परिणामस्वरूप उस कलम के नाम पर अनेक कंपनियां स्थापित होने लगती हैं। आज हर कंपनी वालों ने अपने-अपने नाम पर कलम बनाने शुरू कर दिए हैं। जैसे लिंक कलम, जेटर कलम, अग्नि कलम, किंग्सन कलम आदि-आदि।

यानी खोजकर्ता का कोई स्वार्थ नहीं होता है, लेकिन बाद में इससे जुड़े लोगों का सिर्फ और सिर्फ क्षुद्र स्वार्थ और लोभ ही होता है।

इसको इस प्रकार के उदाहरण से भी समझ सकते हैं।

जैसे उदाहरण नंबर एक— किसी भी स्थान पर जब एक मकान का निर्माण होता है तो उस मकान का नाम और नंबर की जरूरत नहीं पड़ती है लेकिन जैसे ही उस जगह पर दो या दो से अधिक मकानों का निर्माण हो जाता है तो फिर सभी मकानों को नाम और नंबर की जरूरत पड़ जाती है।

उदाहरण नंबर दो— किसी स्थान पर जाने हेतु एक ही मार्ग हो तो वहां के लोगों को उस मार्ग का नाम रखने या उस मार्ग को किसी नाम से संबोधन

करने की जरूरत नहीं पड़ती है। उसे सिर्फ मार्ग से संवोधित किया जाता है, लेकिन जैसे ही उस स्थान पर दो या दो से अधिक मार्ग स्थापित हो जाते हैं तो उन सभी मार्गों का नाम रखते हुए उन सभी को अलग-अलग नामों से संबोधन करना जरूरी हो जाता है।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि भारत में 850 ईस्वी से पूर्व एक ही मार्ग की सभ्यता-संस्कृति थी, एक ही धर्म था, एक ही घर था जिस वजह से पूर्वकाल में कहीं भी **'बौद्ध धर्म'** लिखने की आवश्यकता ही नहीं थी। अगर उस काल में भी इस बुद्धि वाले मार्ग के अलावा कोई और मार्ग होता तो निश्चित ही सभी सम्राटों के अभिलेख पर 'बौद्ध धर्म' जरूर लिखा मिलता। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं मिलता है। यानी शील, समाधि, प्रज्ञा से युक्त 'धम्म' ही इकलौती संस्कृति और मार्ग था जिसकी वजह से उसके पहचान को अलग करने की जरूरत ही नहीं थी।

ये शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ 850 ईस्वी के बाद के बने हुए संप्रदाय हैं। अब आप लोग यह जानकारी प्राप्त करेंगे कि कैसे ये संप्रदाय स्थापित होते हैं या लोग कैसे अपने स्वार्थ में इन्हें स्थापित किए।

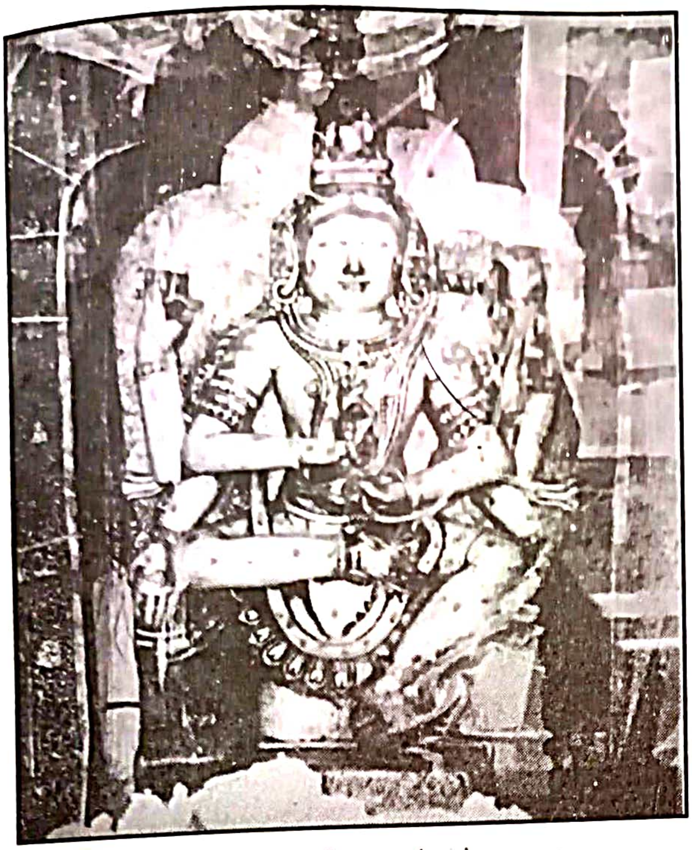
शैव पंथ बनाने की प्रेरणा कैसे और कहां से मिली है, इसका जीता-जागता साक्ष्य एक **अवलोकितेश्वर बुद्ध** की मूर्ति है और इसे देखकर आप भी इस प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

'अवलोकितेश्वर त्रिलोकीनाथ'

उर्फ

प्रथम शैव पीठ

हिमाचल प्रदेश के लाहौल स्पीति जिले से 37 किलोमीटर की दूरी पर आज एक 'त्रिलोकीनाथ' गांव है। इस गांव का पूर्व नाम तुंदा था। इस गांव में एक 'अवलोकितेश्वर बुद्ध' की मूर्ति आज भी विराजमान है जिसको दसवीं शताब्दी में वहां के स्थानीय शासक दीवानजा राणा ने एक व्यवस्थित मंदिर का रूप देते हुए स्थापित किया था। इन सभी बातों की जानकारी मंदिर से प्राप्त शिलालेख के द्वारा आज मालूम होती है। उस त्रिलोकीनाथ गांव में जो अवलोकितेश्वर बुद्ध की मूर्ति है उसकी प्रतिमा आप **चित्र संख्या (54) में** देख सकते हैं।



चित्र संख्या (54)

आप लोग तो इस चित्र को देख लिए होंगे। वैसे बता दूं कि इसके पहले कहीं भी वैदिक संस्कृति की कोई मूर्ति नहीं मिली है। भारत में वज्रयानी परंपरा द्वारा निर्मित यह पहली मूर्ति है जिसमें एक आकृति गौतम बुद्ध के प्रतिरूप में बैठी है और वह आकृति स्वयं अपने माथे पर साक्षात गौतम बुद्ध को विराजित किए हुए है। इस मूर्ति की बनावट को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयानी परंपरा के अनुयायी लोग अपनी मानसिकता में गौतम बुद्ध को बैठाते हुए अपने-अपने बोधिसत्त्व की मूर्ति का निर्माण भी कराने लगे थे। इसी का परिणाम है कि इस काल के बाद से भारत में मार्गदाता गौतम बुद्ध के स्थान पर बुद्ध के विभिन्न अनुयायी अलग-अलग अपने नाम से पंथ को बनाने लग गए थे।

इसी समय अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व वाली परंपरा के कुछ तथाकथित दिग्भ्रमित अनुयायी लोगों के मानसपटल पर मार्गदाता गौतम बुद्ध के ज्ञान से हटकर अलग प्रकार के एक अलौकिक ईश्वर रूपी काल्पनिक अवतार का चित्रण होते हुए 'शैव पंथ' (शंकर भगवान या शिव लिंग) का अंकुरण हो गया था। इसी कल्पना को मनोसात करते हुए आगे वज्रयानी बौद्ध परंपरा में त्रिलोकी अवलोकितेश्वर बुद्ध मूर्ति का निर्माण किया गया। जिनके शरीर में छः हाथ तथा अवतरित पुरुष के माथे पर स्वयं मार्गदाता गौतम बुद्ध ध्यानमयी मुद्रा में विराजमान हैं। नीचे अवतरित पुरुष को छः हाथों के साथ कमल फूल पर बैठे हुए दर्शाया गया है। उनका एक हाथ भूमि स्पर्श मुद्रा में है, तो दूसरा हाथ शिक्षा देने की मुद्रा में है, बाकि हाथों को ध्यानमयी मुद्रा में रखा गया है। परंतु आज इस मंदिर के कर्मकांडी पुजारी द्वारा स्थापित मूर्ति में महामानव गौतम बुद्ध की मुद्रा वाले प्रदर्शित हाथों को कपड़े से ढक दिया गया है, ताकि

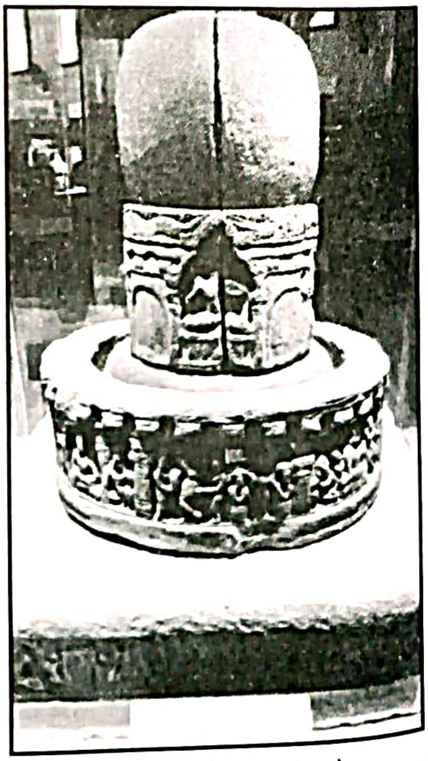
इस मंदिर को आज शिव पीठ कहा जाए। आज भी इस मंदिर में बौद्ध और शिव परंपरा (ब्राह्मणी परंपरा) वाले दोनों अनुयायी यहां आते हैं, लेकिन भारत में अंग्रेजी काल से मनुवादियों द्वारा सही साक्ष्यों को छुपाते हुए गलत साक्ष्यों पर इतिहास लेखन की वजह से आज के लोग इस सच्चाई से अनभिज्ञ हैं, जिसकी वजह से भारत में बहुसंख्यक लोग उसी वैदिक कल्पना के पक्षधर होकर छः हाथ वाले शिव पर झूम रहे हैं। क्योंकि वैदिक सनातनी मार्ग के संस्थापक लोगों को इसी काल्पनिकता के फैलाव से आज मान-सम्मान मिल रहा है। अब कोई अपनी कल्पना द्वारा प्राप्त मान-सम्मान को आज की साक्ष्य युक्त सच्चाई से क्यों खोए, परंतु उन्हें मान-सम्मान देने वाले समाज को यह सच्चाई जरूर बताई जानी चाहिए।

भारत में इसी प्रकार की मूर्तियों से तथाकथित वैदिक वालों की परंपरागत मूर्ति का मिलना शुरू होता है जो मार्गदाता गौतम बुद्ध की अवलोकितेश्वर वाली मुद्रा का है। लेकिन आज के तथाकथित वैदिक सनातनी परंपरा के समर्थक लेखक अवलोकितेश्वर को गायब करते हुए इसमें अपने तथाकथित वैदिक ईश्वर वाली परंपरा को जोड़ना शुरू कर देते हैं।

स्रोत : https://en.m.wikipedia.org/wiki/Trilokinath_Temple_at_Tunde

नोट : आज इस त्रिलोकीनाथ मंदिर को भारत का प्रथम शैव पीठ भी कहते हैं।

बुद्ध स्तूप की चौकी
अर्थात
प्रथम शिव लिंग



चित्र संख्या (55)

आज के वैदिक मतानुयायीगण सिंधु सभ्यता से मिले लिंगनुमा पत्थरों को शिव लिंग से जोड़ते हैं। परंतु सच्चाई यह है कि उस काल में प्रजनन के रूप में लिंग अथवा योनि का महत्त्व जरूर था, लेकिन शिव लिंग अथवा योनि का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। उस समय से अब तक नदी पहाड़ों से मिले किसी भी गोलाकार पत्थर को आज के शिव लिंग से जोड़ते हुए

अपनी डफली बजाना अलग बात है, लेकिन आज के शिव लिंग की बनावट वाले साक्ष्य के रूप में ईसा पूर्व में प्राप्त उस शिव लिंग का चित्र दिखाते हुए डफली बजाओ तो जानें! यह किसी भी मनुवादी लेखक के वश का रोग नहीं है। लेकिन मैं आप लोगों को एक शिव लिंग की तस्वीर दिखा रहा हूं, जो बिल्कुल ही आज के शिव लिंग से मेल खाती है। यह शिव लिंग मथुरा के पास में गौकर्णेश्वर टीला की खुदाई से प्राप्त हुआ है। पुरातत्वज्ञाता द्वारा इसके निर्माण का वर्ष चौथी सदी बताया गया है। यह आज भी मथुरा के संग्रहालय में रखा है, जिस् पर साफ शब्दों में लिखा है **'बुद्ध स्तूप की चौकी।'** स्रोत–मथुरा संग्रहालय। जिसे आप लोग **चित्र संख्या** (55) **में** देख सकते हैं।

788 ईस्वी में केरल के अंदर एक शंकर नाम के बालक का जन्म होता है। आज के भारतीय इतिहास में इस शंकर को आदिशंकर के नाम से सभी लोग जानते हैं। ये आदिशंकर इसी अवलोकितेश्वर मुद्रा वाली बुद्ध की मूर्ति से प्रभावित होकर अपना एक अलग संप्रदाय बनाते हैं। जिसका नाम वे 'शैव पंथ' रखते हैं। यह शैव पंथ ब्रह्म 'अद्वैतवाद' सिद्धांत का प्रतिपालन करते हुआ कार्य करता है। जिसमें माना जाता है कि **'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या'** है यानि इस सृष्टि को बनाने वाला सिर्फ अलौकिक ब्रह्म है, बाकि सभी जानकारियां मिथ्या हैं। यानी पूर्व के सृष्टि निर्माण से लेकर सभी बातों की प्रकृति प्रदत्त वाली मान्यता के स्थान पर अब **'अलौकिक ब्रह्म'** प्रदत्त मान्यता का रूप दिया जाने लगा। अवलोकितेश्वर बुद्ध का साक्ष्य आपके सामने है, जिसको आदिशंकर ने अपने शैव पंथ से जोड़ते हुए स्थापित किया था। यद्यपि आदिशंकर ने ही भारत की चारों दिशाओं में स्थापित बौद्ध पीठों पर कब्जा करते हुए अपने **'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या'** को **'चार शैव पीठ'** में रूपांतरित करने का कार्य किया था और इनके जन्म से पूर्व उन सभी चार पीठों पर बौद्ध विश्वविद्यालय के साथ-साथ बौद्ध मठ होने का आज भरपूर साक्ष्य मिलता है। फिर भी आदिशंकर को **'अद्वैत वेदांत'** का प्रणेता और भारतीय नकली पुरातन परंपरा को पूरे भारत में फैलाने का श्रेय प्राप्त है। भारत के चारों कोनों में चार पीठ और सभी के साथ एक-एक वेद को जोड़ने का श्रेय आज के वैदिक लेखक इनको देते हैं। साथ ही हर वेदों के अलग-अलग नामों के साथ हर पीठ के शंकराचार्य को अलग-अलग पदनाम (सरनेम) से संबोधित करने की प्रथा को भी इन्होंने स्थापित किया था, जो आज भी बदस्तूर सुचारू ढंग से चल

रही है। इससे स्पष्ट होता है कि इस वेद का संस्थापक आदिशंकर या इसके बाद का कोई गुमनाम व्यक्ति है।

1) श्रृंगेरी (चिकमंगलोर, कर्नाटक)– यजुर्वेद और पदनाम सरस्वती, भारती।

2) शारदा (द्वारका, गुजरात)– सामवेद और पदनाम तीर्थ, आश्रम।

3) ज्योतिर्मठ (बद्रिकाश्रम, उत्तराखंड)– अथर्ववेद और पदनाम गिरी, सागर।

4) गोबर्धनमठ (पूरी, उड़ीसा)– ऋग्वेद और पदनाम आरण्य।

आदिशंकराचार्य को उनके अनुयायी अलौकिक ब्रह्म रूप शिव यानी जगत का कल्याण करने वाले जैसा चित्रण करते हुए साक्षात अलौकिक ब्रह्म शिव का अवतार मानते थे। इसलिए इन्होंने अपने हाथों से बारह ज्योतिर्लिंग की स्थापना की।

लेकिन आपको इन बारह ज्योतिर्लिंग पर बहुत ही आश्चर्य तब होगा जब इसकी लिखित चर्चा सभी वैदिक सनातनी ग्रंथों सहित रामायण, महाभारत में भी मिलेगी।

नोट : यानी की इसके पहले कोई द्वादश लिंग नहीं था और कोई पीठ (धाम) भी नहीं था और कोई वैदिक ग्रंथ भी नहीं था।

लेकिन आज तो यहां के वैदिक अनुयायियों की मान्यता है कि यह बारह ज्योतिर्लिंग, चार पीठ और वैदिक साहित्य भारतीय सभ्यता और संस्कृति में सिंधु सभ्यता से भी पूर्व की है!

नोट : ये वही चार पीठ (धाम) हैं जिसका वर्णन रामायण में है।

उल्लेखनीय है कि आज अपनी प्राचीनता को दर्शाने हेतु वैदिक मत के कुछ समर्थक लेखकों ने वैदिक साहित्य में चार पीठों का काल्पनिक चित्रण कई हजार वर्ष पूर्व से किया है, जबकि साक्ष्य आपके सामने है।

आदिशंकर के कार्य क्षेत्र का जो मुख्यालय रहा था उस स्थान का नाम आज केदारनाथ है। आज केदारनाथ मंदिर के पीछे आदिशंकर की समाधी स्थापित है, आज कोई भी केदारनाथ जाकर उस समाधी का अवलोकन कर सकता है। यह किस काल की बनी है इसे भी जानने का प्रयास करें! क्योंकि आज के कुछ वैदिक अनुयायी आदिशंकर को ईस्वी सन के पूर्व का बताते हैं परंतु समाधी की संरचना पाल काल (आठवीं-नौवीं सदी) की है। अब कोई यह

बताए कि क्या आदिशंकर का जीवन हजार वर्ष से ऊपर रहा था?

केदारनाथ एक बौद्ध स्थल था जिस पर आदिशंकर ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। बाद में उसी जगह पर आदिशंकर के अनुयायियों ने आदिशंकर की मृत्यु के बाद उनकी समाधी बना दी। इस केदारनाथ और बौद्ध स्थल पर साक्ष्ययुक्त चर्चा आगे मिलेगी।

आज के लिखित ब्राह्मणी साहित्य में उस केदारनाथ के ऊपर चर्चा है कि इस केदारनाथ मंदिर की स्थापना द्वापर युग में पांडवों ने करवाई थी। भाई! पांडव और द्वापर युग? ये कब का काल है? क्या इसका कोई साक्ष्य मिला है? कुछ लोग कहते हैं कि इस स्थान का निर्माण स्वयं आदिशंकर ने करवाया था? कुछ लोग कहते हैं कि त्रिलोकीनाथ स्वयं प्रकट होकर निर्माण करवाए थे?

लेकिन आज उत्खनन से प्राप्त अभिलेख में जो लिखित साक्ष्य मिला है वह उसकी सच्चाई पर प्रकाश डालता है और कुछ अलग ही कहानी कहता है। फिर भी आज के वैदिक अनुयायी अपनी काल्पनिकता के पीछे-पीछे भाग रहे हैं। इन सभी साक्ष्यों को आप विस्तार से केदारनाथ मंदिर के साथ पाएंगे।

शैव पंथ के अंदर आज सबसे बड़ी बात यह देखने को मिलती है कि राजपूत काल (लगभग 800-1200 ई.) में जितने भी स्थापित शिवलिंग हैं उन सभी लिंगों में बुद्ध की आकृति आज भी देखने को मिलती है। यह अलग बात है कि उस प्रकार के सभी लिंगों को आज उस मंदिर में नियुक्त पंडा-पुजारियों द्वारा छुपा दिया गया है, जिसमें प्रथम वैदिक अनुयायियों का प्रसिद्ध मंदिर **'नेपाल का पशुपतिनाथ मंदिर'** है। इस तरह के और भी जगहों पर शैव पंथियों के मंदिर में लिंग स्थापित हैं जिनमें बुद्ध की आकृति है, जिसको मैं साक्ष्य के साथ स्थान का नाम बताते हुए दिखा रहा हूं।

आदिशंकर द्वारा शैव पंथ की स्थापना के बाद कई अन्य लोग इससे जुड़े, जिनमें जैमिनी और कुमारिल भट्ट का नाम प्रमुखता से आता है। आगे जैमिनी और कुमारिल भट्ट ने ही भारतीय इतिहास को दिग्भ्रमित करने के लिए अपने आपको ईसा पूर्व में स्थापित करते हुए अनेक वैदिक कथाओं वाले ग्रंथों का लेखन अज्ञात लेखक और अज्ञात काल के नाम से किया था। लेकिन उन सभी कथाओं वाले ग्रंथ कुषाण काल, गुप्त काल में नहीं मिलकर पाल वंश के बाद में मिलना शुरू हुए हैं जिससे आज काफी संदेह उत्पन्न हो गया है। जैमिनी

और कुमारिल भट्ट द्वारा लिखित वैदिक ग्रंथ अगर पाल वंश से पूर्व नालंदा विश्वविद्यालय या किसी भी विश्वविद्यालय को मिल जाता तो उस पर पता नहीं आज कितना भाष्य लिखा हुआ मिलता। लेकिन आज नालंदा जैसे सभी विश्वविद्यालयों से प्राप्त साक्ष्यों में इन सभी वैदिक ग्रंथों की संस्कृति का कोई उल्लेख नहीं है। इन सभी वैदिक ग्रंथों पर संदेह तब और गहरा जाता है जब इन सबों का लिखित साक्ष्य संस्कृत भाषा में हाथ से बने कागज और भोज पत्र पर मिलता है। अब आज के सभी पुरातात्विक ज्ञाता जानते हैं कि संस्कृत भाषा और हाथ से बने कागज के साथ भोज-पत्रों का प्रयोग किस काल से शुरू हुआ है। पुरातात्विक खोज के अंतर्गत आज संस्कृत लिखावट युक्त भोजपत्र या हाथ से बने कागज की जो भी पांडुलिपि मिलती हैं वह सभी राजपूत काल और मुस्लिम काल की सत्यापित पांडुलिपि हैं।

आदिशंकर द्वारा शैव पंथ स्थापित करने के बाद आंध्र प्रदेश के अंदर 1017 ईस्वी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ। जो **'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या'** की अवधारणा से अलग अपने अन्य मत को स्थापित करते हुए पूर्व के अवलोकितेश्वर बोधिस त्त्व से प्रभावित होकर **'अवतारवाद'** की अवधारणा पर **'वैष्णव पंथ'** की स्थापना करते हैं। रामानुजाचार्य जी का कार्य-क्षेत्र प्रमुख रूप से आज के 'बद्रीनाथ' को माना जाता है। वज्रयानी परंपरा में जो वहां बुद्ध की मूर्ति स्थापित थी, उसी को रामानुजाचार्य ने **'विष्णु'** का अवतार मानते हुए विष्णु मंदिर के रूप में स्थापित किया थां। तेरहवीं सदी में जन्म लेकर मध्वाचार्य ने रामानुजाचार्य के वैष्णव पंथ को काफी आगे बढ़ाया। आगे इन सभी बातों को साक्ष्य के साथ-साथ उन तमाम पूर्व कालीन वज्रयानी स्थलों को उद्धृत करूंगा, जो आज वैदिक संस्कृति के प्रमुख स्थल बनाकर सुशोभित किए जा रहे हैं।

अभी तक आप लोग अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व और वज्रयानी मार्ग से शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ के उद्‌भव से परिचित हुए। लेकिन आगे विस्तार से इनके अनुयायियों द्वारा पूर्व के बौद्ध मंदिरों का रूपांतरण करते हुए शैव, वैष्णव और शाक्त पंथों में बदलते देखेंगे, जिसको आज का ब्राह्मणी वैदिक रूप भी कहते हैं। मुस्लिम काल में इन तीनों पंथ शैव, वैष्णव, शाक्त पंथों में आपस में बनती नहीं थी। तीनों पंथों में हमेशा विवाद का साक्ष्य मिलता है।

वैदिक मान्यता की जितनी भी पांडुलिपि मिली हैं वह सभी पांडुलिपि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे में सुरक्षित हैं।

भंडारकर ओरिएंटल शोध संस्थान, पुणे स्थित एक संस्थान है। इसकी स्थापना 6 जुलाई, 1917 को पूना में मा. रामकृष्ण गोपाल भंडारकर की स्मृति में की गई थी। मा. भंडारकर भारत में प्राचीन विद्या के सुप्रसिद्ध अग्रगामी नेताओं में से एक थे। स्थापना के दिन ही रामकृष्ण भंडारकर ने अपनी पुस्तकों और शोध संबंधी पत्रिकाओं का वृहत् पुस्तकालय संस्थान को अर्पित कर दिया और एक वर्ष बाद बंबई (अब महाराष्ट्र) की सरकार ने प्राकृत और संस्कृत के बीस हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का अपना बहुमूल्य संग्रह संस्थान को दे देने का निश्चय किया। इसके सिवा उसने बंबई प्राकृत और संस्कृत ग्रंथमाला के प्रबंध का भार भी संस्थान को सौंप दिया।

भंडारकर ओरिएंटल शोध संस्थान, पुणे ने 28 हजार पांडुलिपियों में से मात्र 30 पांडुलिपि को ही ऋग्वेद से संबंधित माना है, जिसमें सायण द्वारा लिखित वेद पर टीका भी है। 30 पांडुलिपि कश्मीर, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि जगहों से प्राप्त की गई थीं। ये पांडुलिपियां विभिन्न जगहों से प्राप्त करते हुए एल्फिस्टन कॉलेज बंबई लाई गईं। वहां से 1878 में डक्कन कॉलेज पुणे को भेज दिया गया। बाद में इन्हें भंडारकर इंस्टीट्यूट में रख दिया गया। भोजपत्र वाली पांडुलिपियां अत्यंत खराब दशा में हैं, जबकि कागज वाली पांडुलिपियों की स्थिति कुछ अच्छी है।

ये शारदा लिपि, देवनागरी तथा देवनागरी-परिषठामात्र में लिखी गई हैं। इनमें सबसे पुरानी पांडुलिपि 1464 ईस्वी की है जिस समय भारत में मुसलमानों का शासन था। मैक्समूलर ने इनमें से जिस पांडुलिपि को पढ़कर किताब लिखा वह "सायण का भाष्य" था।

सायण का भाष्य– सायण ऋषि का काल चौदहवीं सदी (मृत्यु 1387 ईस्वी) है। उन्होंने वेदों पर भाष्य (टिका) लिखे थे। ये विजय नगर (कर्नाटक) साम्राज्य में मंत्री रहे थे। वेदों पर टिका एकमात्र इन्हीं की है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे।

इनमें एक पांडुलिपि भोजपत्र पर शारदा लिपि में तथा अन्य 29 कागज की पांडुलिपियां नागरी (देवनागरी) लिपि में लिखी हैं। उपरोक्त 30 पांडुलिपियां तीन नाम– 1. ऋग्वेद संहिता, 2. ऋग्वेद संहिता-पद पाठ, 3. ऋग्वेद संहिता भाष्य– से हैं। 30 पांडुलिपियों में 16 में सायण का वेद पर भाष्य या टीका

है तथा पांच में पद पाठ हैं, इनमें से जो एक भोजपत्र पर शारदा लिपि में है वह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

शारदा लिपि– यह लिपि उत्तर-पश्चिम भाग (अफगानिस्तान तक) में प्रचलित थी। विशेषकर हिमाचल प्रदेश एवं कश्मीर में यह पश्चिमी ब्राह्मी लिपि (कुटिल लिपि) से 9वीं सदी में उत्पन्न हुई। यह मुख्य रूप से मध्यकाल में प्रचलित थी। एक हजार ईस्वी के आस-पास आए अरवी यात्री अलबरूनी ने इस लिपि का उल्लेख किया है। बाद में इससे गुरुमुखी और नागरी लिपि उत्पन्न हुई। वर्तमान की कश्मीरी भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है।

इन्हीं में से एक को पढ़कर प्रो. मैक्समूलर ने सायण के ऋग्वेद पर टीका की सहायता से 1849 ईस्वी में ऋग्वेद नामक पुस्तक को तैयार किया था। साथ ही "वैदिक संबोधन मंडल" पुणे ने भी इनकी सहायता से ऋग्वेद पुस्तक तैयार की है।

1. ऋग्वेद पर सायण की टीका वेद पर प्रथम टीका है और प्राचीन भी है, जो 14वीं शताब्दी की है।
2. पद पाठ का अर्थ है– मुख्य पाठ के छोटे-छोटे भाग।

स्रोत : http://www.unesco.org/new/en/communication-and-information/memory-of-the-world/register/full-list-of-registered-heritage/registered-heritage-page-7/rigveda/

http://www.unesco.org/new/fileadmin/MULTIMEDIA/HQ/CI/CI/pdf/mow/nomination_forms/india_rigveda.pdf

साथ ही वैदिक मान्यता की जितनी भी पुस्तकें आज तक प्राप्त हुई हैं वह सभी कागज और संस्कृत लिपि में रचित हैं, जबकि विश्व में कागज का प्रथम आविष्कार चीन ने ईस्वी सन के कई सौ वर्षों बाद में किया था। फिर कुछ सौ वर्षों वाद भारत में यह कला पहुंची। अब आज कोई यह सत्यापित करे कि कागज का आविष्कार चीन द्वारा होने से पूर्व भारत के वैदिक ब्राह्मणों ने कागज का आविष्कार करते हुए उस पर अपने वैदिक ज्ञान को कैसे लिख दिया? अगर वैदिक अनुयायी कहते हैं कि कागज का आविष्कार चीन से पहले ही भारत में हो गया था तो फिर आज कागज के जन्मदाता के रूप में चीन का नाम हटाकर पूरे विश्व में भारत का नाम आना चाहिए! भले ही वह नाम

वैदिक ब्राह्मणों का ही क्यों नहीं हो, लेकिन होगा तो भारत देश का!

नोट : क्योंकि आज के समय में सभी वैदिक लेखक लोग इस ईस्वी सन के पूर्वकाल में ही काल्पनिक पात्रों का जन्म करवाते हुए उनके द्वारा कागज पर लेखन करा देते हैं। जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र (काल्पनिक पात्र चाणक्य, क्योंकि चाणक्य का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता है।), पणिनि का संस्कृत व्याकरण, वाल्मीकि का संस्कृत रामायण और वेदव्यासकृत वेद, गीता, महाभारत। क्या ईसा पूर्व कागज पर लिखा हुआ कोई और अभिलेख आज तक प्राप्त हुआ है? फिर ये लोग आज क्यों ऐसा सत्यापित करने पर तुले हैं? चलो थोड़ी देर के लिए मान लेता हूं कि ये लोग कागज पर अपना अभिलेख लिखे होंगे, फिर तो यह बताएं कि इन सभी अभिलेखों को किस स्थान के उत्खनन से आज प्राप्त किए हैं? क्योंकि उत्खनन से अगर नहीं मिला तो क्या पूर्व के वैदिक अनुयायी लोग इसको लिखते हुए किसी अभिलेखागार में सुरक्षित रखे थे कि आजाद भारत में इन साक्ष्यों के द्वारा लोगों को सत्यापित करना है कि वैदिक सभ्यता पूर्व की है? इन सभी ज्ञानियों के अलावा ईसा पूर्व के किसी भी सम्राट ने अपने अभिलेखों को कागज पर क्यों नहीं लिखा था? क्या कागज बनाने की विद्या ईसा पूर्व के किसी भी सम्राटों के समय प्रचलित नहीं थी?

क्या कोई ऐसा वैदिक अनुयायी है, जो इस कागज को ईस्वी सन से पूर्व काल के भारत में आविष्कारित होने का साक्ष्य दे सकता है?

दूसरी बात, यदि वैदिक संस्कृति की बातें कागज पर नहीं लिखी गईं तो फिर किसी ताम्रपत्र, शिलापत्र या किसी पूर्व के प्रचलित अभिलेखों पर क्यों नहीं लिखी गईं? ये सब कागजी वैदिक साक्ष्य नौवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच के ही क्यों मिलते हैं? भारत में वैदिक संस्कृति से जुड़ी हुई जिस भी देवी-देवता की मूर्ति स्थापित मंदिर मुस्लिम काल से पूर्व की निर्मित मिलती है उन सभी में पूर्व के अवलोकितेश्वर मुद्रा वाले बुद्ध या वज्रयानी परंपरा वाले बुद्ध का रूपांतरित स्वरूप देखने को क्यों मिलता है? भारत में वैदिक वर्णागत समाज का उद्भव, जिसमें राजपूतों (क्षत्रिय) की उत्पत्ति 950 ईस्वी के बाद से ही क्यों मिलती है? इसके पहले के जितने भी सम्राट हुए थे उन्होंने वैदिक परंपरा के तहत अपने आपको राजपूत (क्षत्रिय) या ब्राह्मण के रूप में किसी अभिलेख में क्यों नहीं संबोधित कर लिखवाया था?

इन सब सवालों में जब वैदिक अनुयायी उलझते हैं तो कहते हैं कि पूर्व काल के वैदिक सभ्यता में देवी-देवता नहीं होते थे, इसलिए पहले इनकी कोई मूर्ति नहीं बनी थी! फिर ये वैदिक देवी-देवता की मूर्तियां और मंदिर अचानक से कब, कैसे और कहां से उत्पन्न हो गईं? इस पर सवाल तो बनता है। क्या कोई जवाब देगा?

वैदिक अनुयायियों का तर्क होता है कि वैदिक ज्ञान बहुत ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण था, इसलिए उसको छुपा कर रखा जाता था। खास-खास लोग इसको श्रुति-स्मृति द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे बढ़ाते हुए ले जाते थे। भाई! महत्त्वपूर्ण ज्ञान और छुपाकर रखना? क्या आपको यह बात हजम होती है! महत्त्वपूर्ण ज्ञान हो और उस समय के विश्वविख्यात विश्वविद्यालय में नहीं जाए! क्या वह महत्त्वपूर्ण ज्ञान कोई दुल्हनिया थी जिसको घूंघट में रखते हुए बंद कमरे में रखने की प्रथा थी? चलो थोड़ी देर हेतु उसे दुल्हनिया ज्ञान ही मान लेते हैं और उसको खास लोगों द्वारा छुप-छुपाकर श्रुति-स्मृति द्वारा आगे बढ़ाने की प्रथा भी मान लेते हैं। परंतु उस बहुत ही महत्त्वपूर्ण वैदिक ज्ञान रूपी सुंदर वैदिक दुल्हनिया को अचानक से मुस्लिम शासन काल में क्यों निकाल दिए? उस ज्ञान को मौर्य या गुप्त काल में क्यों नहीं निकाले? उस वैदिक दुल्हनिया रूपी ज्ञान को एकदम से उस अज्ञात खास व्यक्ति ने राजपूत-मुगल-ब्राह्मणी गठजोड़ काल में ही क्यों निकाला, क्या वैदिक ज्ञान का मुगलों से कोई विशेष संबंध था?

दूसरी बात इन वैदिक अनुयायी वाले भाइयों से कि, वैदिक बातों और ज्ञान को 2500 वर्ष बाद तक भी श्रुति-स्मृति के माध्यम से मुगल काल तक लेकर आ गए, लेकिन उस वैदिक ज्ञान को श्रुति-स्मृति द्वारा सुनकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी लाने वाला वह ज्ञानी व्यक्ति बीच के रहे पचासों प्रमुख सम्राटों की मुख्य बातों को कैसे भूल गया?

कोई ज्ञानी व्यक्ति पैंतीस मंजिल के बने मकान की सीढ़ी से घटते हुए क्रम (35, 30, 25, 20, 15, 10, 5) में सीढ़ी-दर-सीढ़ी नीचे उतरे और वह पैंतीस मंजिल की बनी बाहरी आकृति को भी नहीं देखे! क्या ऐसा कभी हो सकता है? यदि फिर भी कोई कहे की उसने नहीं देखा है तो इसका अर्थ है कि वह झूठ बोल रहा है और किसी स्वार्थवश सबको धोखा दे रहा है।

या

इसको इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि कोई व्यक्ति कलकत्ता से दिल्ली तक के सभी 35 शहरों की सभ्यता-संस्कृति की जानकारी लेते हुए अपने घर दिल्ली पहुंचता है, लेकिन यह क्या! वह व्यक्ति जब अपने घर को पहुंचता है तो सिर्फ कलकत्ता की सभ्यता-संस्कृति की कहानी को बताता है, लेकिन बीच में मिले शहरों वाली सभ्यता-संस्कृति की बातों को भूल जाता है! क्या ऐसा संभव हो सकता है? क्या वह कलकत्ता से सीधा आकाश मार्ग द्वारा दिल्ली पहुंच गया था?

या

किसी व्यक्ति के पास क्रमानुगत 35 पुस्तकें हैं। वह क्रमानुसार 1 से पढ़ना शुरू करते हुए बारी-बारी से अंतिम 35वीं पुस्तक को पढ़ जाता है। उसके बाद वह बोले कि मुझे बीच वाली 33 पुस्तकों के पठन का कुछ भी याद नहीं है। यह क्या! क्या ऐसा संभव हो सकता है? नहीं न! लेकिन वैदिक अनुयायियों के साथ ऐसा ही होता है। वह 2500 वर्ष पूर्व की बातों को याद रखते हैं, लेकिन बीच के वर्ष वाली बात उन्हें याद ही नहीं है।

या

अब आपके सामने कोई व्यक्ति किसी नल के पानी को एक पाइप द्वारा 35 फीट की दूरी पर ले जाना चाहता है। उसके लिए वह नल में 35 फीट लंबी पाइप को जोड़ते हुए नल के टेप को खोल देता है। अब आप लोग बताओ कि नल से जो पानी 35 फीट लंबी पाइप से होकर गुजरेगा, वह पानी पाइप के शुरू से होते हुए 35 फीट के अंत तक सभी को गीला करते हुए गुजरेगा या बीच वाले भाग को सूखा ही छोड़ देगा? क्योंकि वैदिक वालों की पाइप लाइन बीच में सूखी है।

नोट : आप सभी पाठकगण से अनुरोध है कि थोड़ी देर के लिए अंग्रेजों द्वारा उद्भेदित और लिखित भारत के इतिहास को भूल जाएं। अब आप लोगों को भारत का इतिहास कैसा दिख रहा है?

आज अगर हम लोग वैदिक साहित्य के भरोसे रहते और भारत में अंग्रेज प्राचीन इतिहास को सामने नहीं लाते तो बीच के रहे सैकड़ों सम्राटों वाले युग के स्थान पर मनुवादियों द्वारा लिखित उनकी श्रुति-स्मृति वैदिक पुराण वाले

साहित्य को ही पढ़ते रहते। इनके इतिहास में कितनी सच्चाई है यह आप लोग उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों को देखकर या पुरातात्विक इतिहास के अध्ययन से ही समझ गए होंगे।

भारत के पुरातात्विक उत्खनन में मिले साक्ष्य आज चीख-चीख कर कह रहे हैं कि 850 ईस्वी से पूर्व त क किसी भी समय में या किसी भी प्रकार की कोई वैदिक लिपि, वैदिक ग्रंथ या वैदिक वर्णागत सभ्यता के साथ-साथ वैदिक बनावट का कोई तिनका भी प्राप्त नहीं हुआ है। हां, अगर कुछ प्राप्त हुआ है तो वह है ब्राह्मणी-राजपूत-मुगल गठजोड़ काल में लिखी गई पुस्तकें। उस समय के सभी लेखकों ने उन सभी पुस्तकों को लिखते समय अपने को अज्ञात नामों से संबोधित करते हुए अज्ञात काल में जैसे द्वापर, त्रेता और सतयुग में स्थापित करते हुए लिखने का काम किया था। ब्राह्मण-राजपूत-मुगल गठजोड़ काल की सभी पुस्तकों को अंग्रेजी काल में हुए अनेक मनुवादी लेखकों ने उनमें भरपूर मजबूती (मनोनुकूल भाष्य) भरते हुए अंग्रेजों के छापाखानों से सुसज्जित और सुंदर रंगीन चित्रकारी द्वारा मुद्रित करवाने का काम किया था, जिस कारण आज की पीढ़ी सबसे ज्यादा गुमराह हो रही है। इस कारण से भी आज उन्हीं सब वैदिक पुस्तकों में लिखित बातों को लेकर आज के मनुवादी लेखक उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों का तारतम्य वैदिक पुस्तकों से बिठाने में लगे रहते हैं।

एक अन्य तथ्य यह भी है कि पूर्वकाल के अधूरे उत्खनन की वजह से या किसी और कारण की वजह से किसी काल में कोई साक्ष्ययुक्त सभ्यता नहीं मिली थी, तो भी ये लोग उस काल में भी अपना लाभ लेने के लिए आज की शैव, वैष्णव और शाक्त पंथ वाली संयुक्त वैदिक सभ्यता को उसमें बिठाते हुए अपनी मनुवादी शक्ति का बेजा इस्तेमाल करने पर लगे रहते हैं।

भाई साहेब, जैसे उत्खनन में प्रारंभिक मानव से लेकर पाषाण सभ्यता में पत्थर का औजार सहित सिंधु सभ्यता, मौर्य सभ्यता, कुषाण सभ्यता, गुप्त सभ्यता जैसी कई अन्य सभ्यताओं का साक्ष्य के तौर पर अपनी मुद्रा (सिक्का), अपनी लिपि, अपना नगर, अपना अभिलेख, अपना बर्तन या मृदभांड, प्रमुख लोगों के स्मारक या उनकी आकृति, अपने सम्राटों के नाम, समय-समय पर आए यूनानी, पारसी, चीनी यात्रियों के विवरण के साथ-साथ उस समय प्रचलित सभ्यता-संस्कृति से जुड़ा हुआ कुछ-न-कुछ साक्ष्य जरूर

मिला है, लेकिन सिंधु सभ्यता और मौर्य सभ्यता के बीच में वैदिक अनुयायियों द्वारा स्थापित वैदिक सभ्यता का साक्ष्य आज तक के उत्खनन से प्राप्त क्यों नहीं होता है? क्यों वैदिक अनुयायी लोग सिर्फ तथाकथित मनुवादी लेखक के द्वारा लिखित पुस्तकों को आधार बना कर भारतीय समाज में रह रहे भोले-भाले लोगों की भावनाओं से खेलने पर आमादा हैं!

इसका कारण आज स्पष्ट हो गया है कि इन पुस्तकों द्वारा स्थापित वैदिक परंपरा को सुचारू ढंग से चलाने पर मनुवादी परिवारों का जीवन-यापन के साथ-साथ मान-सम्मान और राजनीतिक पहचान भी कायम रहता है।

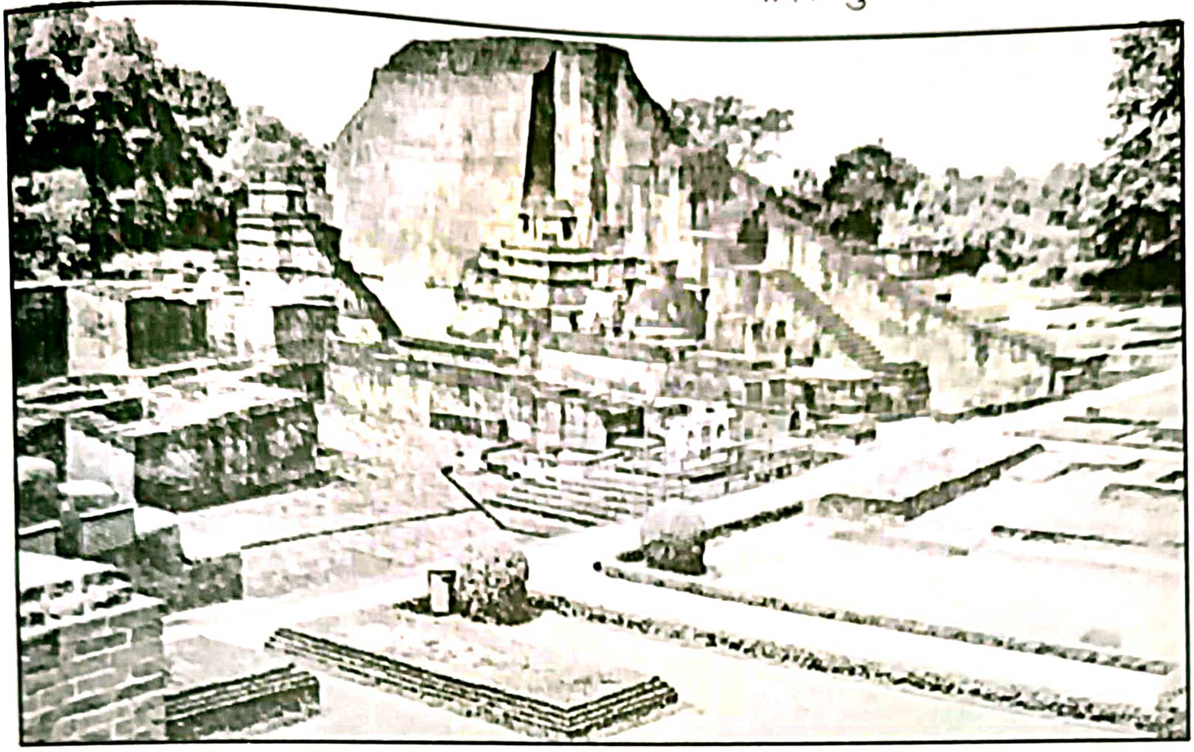
(भाग-E)

950 ईस्वी के बाद से मुगल काल तक

आइए, साक्ष्यों के साथ देखें कि 950 ईस्वी के बाद से उत्पन्न हुआ ब्राह्मणी-राजपूत गठजोड़ ने पूर्वकालीन सम्राटों द्वारा निर्मित बुद्ध मार्ग के साथ-साथ उन तमाम बौद्ध स्थलों में स्थापित 'अवलोकितेश्वर बुद्ध या बोधिसत्त्व' वाली बौद्ध मूर्तियां या बौद्ध प्रतीकों वाली सम्यक पहचान को नष्ट करते हुए उन्हें अपनी एक नई काल्पनिक पहचान में कैसे रूपांतरित कर दिया है। आज उसी पहचान को सभी लोग वैदिक पहचान और वैदिक संस्कृति भी कहते हैं। साथ ही जिस पहचान को ब्राह्मण-राजपूत गठजोड़ रूपांतरित नहीं कर पाया उन सबों को मुगलों के कंधे पर बंदूक रखते हुए नष्ट करना और करवाना शुरू कर देता है।

नालंदा विश्वविद्यालय

यह सम्यक संस्कृति में उच्च शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विख्यात केंद्र था। वर्तमान बिहार राज्य में पटना से 88.5 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व और राजगीर से 11.5 किलोमीटर उत्तर में एक गांव के पास अलेक्जेंडर कनिंघम द्वारा खोजे गए इस महान विश्वविद्यालय के भग्नावशेष इसके प्राचीन वैभव का बहुत कुछ अंदाज करा देता है। यहां 10,000 छात्रों को पढ़ाने के लिए 2,000 शिक्षक थे। प्रसिद्ध चीनी विद्वान यात्री ह्वेनसांग और इत्सिंग ने कई वर्षों तक यहां सम्यक संस्कृति व दर्शन की शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने अपने यात्रा वृत्तांत व संस्मरणों में नालंदा के विषय में काफी कुछ लिखा है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि सहस्रों छात्र नालंदा में अध्ययन करते थे और इसी कारण नालंदा प्रख्यात हो गया था। दिनभर अध्ययन में बीत जाता था। विदेशी छात्र भी अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। इत्सिंग ने लिखा है कि विश्वविद्यालय



चित्र संख्या (56)

के विख्यात विद्वानों के नाम विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर श्वेत अक्षरों में लिखे जाते थे। इस विश्वविद्यालय में भारत के विभिन्न क्षेत्रों से ही नहीं, बल्कि कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, इंडोनेशिया, बर्मा, मलेशिया, लंका जैसे अन्य देशों से भी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। नालंदा के विशिष्ट शिक्षा प्राप्त छात्र बाहर जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे। यह विश्व का प्रथम पूर्णतः आवासीय विश्वविद्यालय था। अत्यंत सुनियोजित ढंग से और विस्तृत क्षेत्र में बना हुआ यह विश्वविद्यालय स्थापत्य कला का अद्‌भुत नमूना था। इसका पूरा परिसर एक विशाल दीवार से घिरा हुआ था, जिसमें प्रवेश के लिए एक मुख्य द्वार था। उत्तर से दक्षिण की ओर मठों की कतार थी और उनके सामने अनेक भव्य स्तूप और मंदिर थे। इन सभी स्तूपों में भगवान बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियां बनी हुई हैं। केंद्रीय विद्यालय में सात बड़े कक्ष थे और इसके अलावा तीन सौ अन्य कमरे थे। इनमें व्याख्यान हुआ करते थे। कमरे में सोने के लिए पत्थर की चौकी होती थी। दीपक, पुस्तक इत्यादि रखने के लिए आले बने हुए थे। प्रत्येक मठ के आंगन में एक कुआं बना था। आठ विशाल भवन, दस मंदिर, प्रत्येक मंदिर में भगवान बुद्ध की मूर्ति, अनेक प्रार्थना कक्ष तथा अध्ययन कक्ष के अलावा इस परिसर में सुंदर बगीचे तथा झीले भी थी। **देखें चित्र संख्या (56) में।** लेकिन सम्यक काल की इतनी भव्य और

ज्ञानप्रद विश्वविद्यालय को बख्तियार खिलजी ने धावा बोल कर नष्ट क्यों किया? (नष्ट करने के समय पर कुछ लोगों की मान्यता 1199 ईस्वी है, तो कुछ लोगों की मान्यता 1203 ईस्वी है)

उस तुर्की को इस सम्यक ज्ञान-स्थली से क्या नफा-नुकसान था?

बख्तियार खिलजी तुर्क से चलकर दिल्ली आता है, तत्पश्चात वह नालंदा आता है तो इसका विरोध करने सेन वंश का कोई शासक प्रशासक क्यों नहीं आता है?

तुर्की से नालंदा कोई सटा क्षेत्र भी नहीं था, उसके बीच में कई छोटे-छोटे राजपूत रजवाड़ों का राज्य था। उन सबों को तो विरोध करना चाहिए था?

बख्तियार खिलजी मूल रूप से वर्तमान के दक्षिणी अफगानिस्तान के एक तुर्की जनजाति खलाज के परिवार में जन्मा था। भला एक परदेशी को नालंदा विहार जलाने में रुचि क्यों हो सकती थी? उन तुर्क लुटेरों को तो सिर्फ धन लूटने में रुचि रहती थी।

दरअसल बात यह है कि स्थानीय शासक और उसके जमींदार और चमचे जो कि सम्यक (बौद्ध) परंपरा के विरुद्ध थे, उन लोगों ने बख्तियार खिलजी को नालंदा महाविहार पर आक्रमण करने, जलाने और हजारों शांतिप्रिय बौद्ध भिक्खुओं की हत्या करने के लिए प्रेरित किया था। बौद्ध पुस्तकों को जलाने से उसे कोई फायदा नहीं था। फायदा सिर्फ वहां के ब्राह्मणी परंपरा के शासक और अनुयायियों को था।

आज के बिहार और बंगाल वाले भाग पर बारहवीं शताब्दी के मध्य तक "पाल वंश" के अंतिम शासक "गोबिंद पाल" की सत्ता थी। इसके तुरंत बाद से इस क्षेत्र की सत्ता "सेन वंश" ने गोबिंद पाल को पराजित करते हुए अपने कब्जे में कर लिया था। "सेन वंश" (ब्राह्मण जाति का शासक था) ने अपने कार्यकाल में ब्राह्मणी मान्यता के अनुसार सबसे ज्यादा मंदिर बनवाने या पूर्व की खड़ी बौद्ध मठ को ब्राह्मणी मत अनुसार रूपांतरित करवाने का काम किया था।

अब आप लोग स्वयं सोचें कि उस समय नालंदा क्षेत्र का शासक लक्ष्मण सेन ब्राह्मणी वंश का था। महाविहार छः माह तक जलता रहा, लेकिन उसे बुझाने का प्रयास नहीं किया। बौद्ध भिक्खु तो मार ही दिए गए थे, स्थानीय

जमींदार और राजा द्वारा आग बुझाने से लेकर आचार्य, प्राचार्य या बौद्ध भिक्खु को भी बचाने के प्रयास की चर्चा कहीं नहीं मिलती है।

अतः अब आप लोग स्पष्ट हो गए होंगे कि महाविहार को क्यों जलाया गया था!

अब इस सेन वंश के कार्यकाल में कोई विश्वविख्यात ज्ञान-स्थली को तोड़ने विदेश से आता है या उसे बुलाया जाता है, इसके बारे में अब ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है।

वैसे तबकात-ए-नासिरी पुस्तक के लेखक मिन्हास उस सिराज (1210 के आसपास) लिखते हैं कि बख्तियार खिलजी को एक जानलेवा बीमारी हो गई थी। उसकी बीमारी को ठीक करने का दावा एक ब्राह्मण वैद्य ने किया और शर्त के रूप में महाविहार को जलाने की मांग रखी। जब उसकी दवाई से बख्तियार ठीक हो गया तो, शर्त पूरी करने के लिए बख्तियार खिलजी ने नालंदा महाविहार को जला दिया।

ये तो हो गई प्रामाणिक बातों कि चर्चा, लेकिन इसी नालंदा विश्वविद्यालय पर निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करने वाले कई भारतीय इतिहासकार विश्व-प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय में आग लगाने के पीछे का जो कारण बताते हैं; उन लोगों के अनुसार एक बार बख्तियार खिलजी बहुत ज्यादा बीमार पड़ गया और उसके हकीमों ने इसकी काफी चिकित्सा की, लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। तब खिजली को नालंदा विश्वविद्यालय के आयुर्वेद शाखा के प्रधान राहुल श्रीभद्रजी से इलाज कराने की सलाह दी गई, लेकिन बख्तियार ने इलाज से पहले शर्त लगा दी की वह किसी भारतीय दवा का उपयोग नहीं करेगा और अगर वह स्वस्थ नहीं हुआ तो प्रधान वैद्य को मौत की नींद सुला देगा।

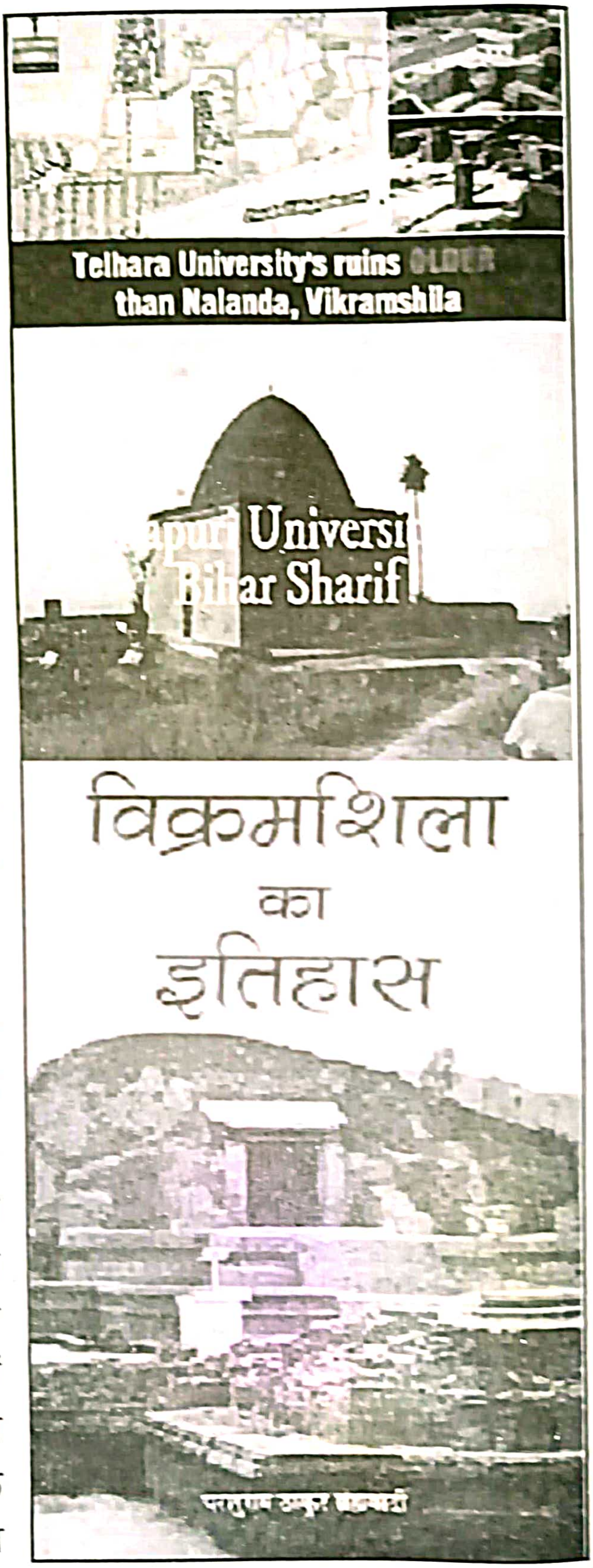
रात भर आचार्य इसके बारे में सोचते रह गए और प्रातः काल में उसके पास कुरान लेकर गए और कहा कि कुरान के इतने पन्ने रोज पढ़िए ठीक हो जाएंगे। वैद्यराज राहुल श्रीभद्र ने कुरान के कुछ पृष्ठों के किनारों पर एक औषधि का लेप लगा दिया था।

वह थूक के साथ केवल दस-बीस पृष्ठ चाट गया और स्वस्थ हो गया, लेकिन खिजली का घटियापन अब उबाले मारने लगा और अपने ठीक होने की खुशी छोड़ उसे जलन हुई की उसके हकीमों से इन भारतीय चिकित्सकों का

ज्ञान महान क्यों है, जिसके बाद इस धर्मांध मुस्लिम शासक ने बौद्ध धर्म और आयुर्वेद का अहसान मानने के बदले सन 1199 में नालंदा विश्वविद्यालय में ही आग लगवा दी।

यहां पर निश्चित एजेंडा के तहत लेखन करने वाले लेखक और उस मत के वाहक लोग यह बता दें कि नालंदा विश्वविद्यालय को जलाने की तो कहानी आप लोगों ने बना दी, लेकिन उसी नालंदा जिला में नालंदा विश्वविद्यालय के ठीक बगल में दो और विश्वविद्यालय थे, जिनका नाम उदवंतपुरी और तेल्हाड़ा विश्वविद्यालय था, जिसे **चित्र संख्या 57 में देखें।** उस विश्वविद्यालय को कौन और क्यों जलाया, इस पर भी तो कोई कहानी सुनाते।

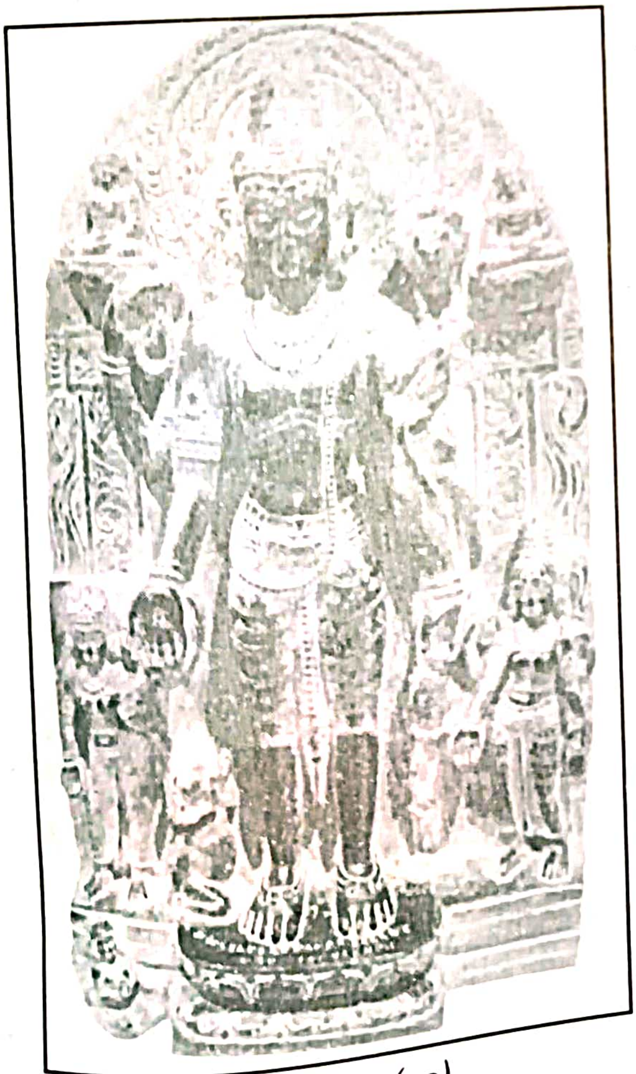
उसी प्रकार इसी बिहार राज्य के भागलपुर जिला में विक्रमशिला विश्वविद्यालय था, उस विश्वविद्यालय को कौन और क्यों जलाया, इस पर कोई कहानी सोचे हो या नहीं? सिर्फ एक विश्वविद्यालय नालंदा को जलने की कहानी तो बना दी, लेकिन



चित्र संख्या (57)



चित्र संख्या (58)



चित्र संख्या (59)

भारत में ऐसे और भी कई विश्वविद्यालय थे, जहां भगवान बुद्ध के मार्ग की शिक्षा दी जाती थी, उन सारे विश्वविद्यालयों को नष्ट करने कौन मुस्लिम अक्रांता भारत आया था। इसके लिए तुम कलम-कसाइयों को छोटी-मोटी कहानी की जगह पर एक लंबा धारावाहिक बनाना पड़ेगा! क्यों सही कहा न?

नालंदा विश्वविद्यालय जल गया, उस विश्वविद्यालय में रहा गुप्त काल या मौर्य काल का सभी लिखित-अलिखित साक्ष्य खत्म हो गया, लेकिन बात यहीं तक खत्म नहीं हुई। उस साजिश में जिस सेन वंश का हाथ था वर्तमान में उसके वंशज खंडहर में बचे हुए भू-भाग से प्राप्त असंख्य साक्ष्य को भी नष्ट करने में लगे हैं। इन सब साजिशों के साथ-साथ सेन वंश के वंशजों द्वारा मुख्य खंडहर की चहारदीवारी वाले क्षेत्र में मनुवादी न्यायालय और मनुवादी पदाधिकारियों से लिखित आदेश लेते हुए खंडहर के कुछ भूखंड पर कब्जा कर लिया गया है, जिस पर अस्थायी निर्माण द्वारा एक मंदिर का निर्माण कर लिया गया है। उस नवनिर्मित मंदिर में वैदिक कर्मकांडियों

द्वारा 'भैरो नाथ उर्फ तेलिया बाबा' के नाम से मूर्ति स्थापित की गई है, वह मूर्ति भगवान बुद्ध की है। उस मूर्ति को आप लोग **चित्र संख्या (58) में देखें।** नालंदा खंडहर से प्राप्त बहुत सी मूर्तियों को सामने बने हुए नालंदा संग्रलय में सुरक्षित रखा गया है, जिसे आज कोई भी देख समझ सकता है। आप लोगों ने ऊपर में अवलोकितेश्वर बुद्ध के बारे में काफी पढ़ा होगा, इस अवलोकितेश्वर मुद्रा वाली बुद्ध मूर्तियां नालंदा खंडहर से काफी संख्या मिली हैं जिसे **चित्र संख्या (59) में देख** सकते हैं।

आइए, मैं आपको गंगा से हुगली और पद्मा के जैसे इस वैदिक (शैव पंथ, वैष्णव पंथ, शाक्त पंथ) संस्कृति का भी पूर्व की बौद्धिक रूपी गंगा से चिह्नित स्थानों के साक्ष्य के साथ रूपांतरण का घालमेल कैसे होता है, उसको साक्ष्य और स्थान व काल के साथ दिखाता हूं। अब आप लोग साक्ष्यों के साथ देखें कि कैसे गुप्त काल में निर्मित बौद्ध स्थलों में स्थापित 'अवलोकितेश्वर बुद्ध या बोधिसत्त्व' वाली बुद्ध मूर्तियों और बौद्ध प्रतीकों का ब्राह्मणी-राजपूत काल में शैव संप्रदाय, वैष्णव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय द्वारा कैसे रूपांतरित होता है, जो आज वैदिक संस्कृति का भाग बना हुआ है—

साक्ष्य संख्या : 1

शैव पंथ द्वारा काविज मंदिर
'केदारनाथ मंदिर'

शैव पंथ की स्थापना में 788 ईस्वी में जन्मे आदिशंकर का नाम आता है, जिन्होंने अद्वैतवाद के सिद्धांत पर शैव पंथ का अभ्युदय करवाया था, जिसका प्रथम स्थान व कार्यक्षेत्र केदारनाथ मंदिर के साथ जुड़ा है। आज वैदिक अनुयायी लोगों की मान्यता है कि इस मंदिर का निर्माण महाभारत काव्य के पात्र पांडवों ने करवाया था। कुछ अन्य वैदिक मत वालों की मान्यता है कि त्रिलोकीनाथ स्वयं इस जगह पर प्रकट हुए थे? जबकि आदिशंकर के अनुयायियों की मान्यता है कि इस मंदिर को स्वयं आदिशंकर ने स्थापित किया था। लेकिन पुरातात्विक उद्भेदन द्वारा इस मंदिर का साक्ष्य कुछ और ही बातों की ओर इशारा करता है।

मध्य प्रदेश के ग्वालियर से उत्खनन में एक अभिलेख मिला है जो मालवा के राजा भोज द्वारा लिखित है। इस शिलालेख पर स्पष्ट लिखा है कि राजा

भोज ने अपने शासन काल 1134-1157 विक्रम संवत में इस केदारनाथ मंदिर का पुनरुद्धार करवाया था। *स्रोत : एपिग्राफिक इंडिया, वॉल्यूम 1*



चित्र संख्या (60)



चित्र संख्या (61)

दूसरा केदारनाथ मंदिर की जो मूल संरचना है उसकी सीढ़ी पर आज भी पालि लिपि में कुछ लिखित सामग्री देखने को मिलती है। यानी की इस मंदिर का निर्माण जिस भी सम्राट ने करवाया होगा उस समय की लिखावट की भाषा पालि रही होगी। अव तो आज सभी को पता है कि पालि भाषा पांडव काल की भाषा है या बौद्धिक काल की भाषा है!

लेकिन आज इस मंदिर पर संस्कृत भाषा वाले कब्जा करके बैठे हैं क्यों?

तीसरा, उस केदारनाथ मंदिर के पीछे में आदिशंकर की समाधी आज भी देखने को मिलती है। शैव पंथियों ने उस पालि सभ्यता में निर्मित मंदिर को अपने अधीन करते हुए आदिशंकर की मृत्यु उपरांत वहीं पर उनकी समाधी स्थापित की है और उस मंदिर पर कब्जा कर लिए। इसके साक्ष्य स्वरूप आज भी उस केदारनाथ मंदिर का मुख्य पुजारी **केरल का जंगम ब्राह्मण** ही होता है। समाधिस्थल पर शंकराचार्य की जो मूर्ति स्थापित है, उस मूर्ति को गौर से देखें, वह बुद्ध की वितर्क मुद्रा वाली आसन में बैठी है। जिसको आप लोग **चित्र संख्या (60) में देख** सकते हैं। एक जानकारी देना चाहता हूं कि समाधिस्थल और वहां पर स्थापित शंकर की पुरानी मूर्ति 2013 में आई भयावह प्राकृतिक त्रासदी (वाढ़) में नष्ट हो गई थी, जिसे पुनः 5

नवंबर, 2021 को वर्तमान प्रधानमंत्री द्वारा नए स्वरूप में पुनर्निर्माण कराते हुए स्थापित किया गया है।

चौथा, इस मंदिर में शरद ऋतु आ जाने पर पट बंद हो जाता है। अंग्रेजी महीना नवंबर में मंदिर का पट बंद करते हुए अप्रैल महीने में पुनः इस मंदिर का पट खुलता है। तब तक इस मंदिर में स्थापित मूर्ति को नीचे उखीमठ में ले जाकर रखा जाता है। इस मूर्ति को आज कोई भी देखकर जरूर बता देगा कि यह पांच चेहरों वाले बुद्ध की अवलोकितेश्वर मूर्ति है।

जिसको आप लोग **चित्र संख्या (61) में** देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 2

शैव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
तुंग नाथ मंदिर (उत्तराखंड)

उत्तराखंड में पंच केदारनाथ का अपना विशेष महत्त्व है। जिसमें पांच केदारनाथ का नाम आता है। जिसमें पहला केदारनाथ, दूसरा तुंगनाथ, तीसरा रुद्रनाथ, चौथा कल्पेश्वर नाथ और पांचवा मद्‌महेश्वर नाथ का मंदिर है।



चित्र संख्या (62)

केदारनाथ महादेव मंदिर की चर्चा तो आप लोग ऊपर देख ही चुके हैं। अब बारी है तुंगनाथ महादेव मंदिर की। यह मंदिर उत्तराखंड राज्य के रुद्रप्रयाग जिले में स्थित चंद्रशिला चोटी के नीचे काले पत्थरों से निर्मित सबसे रमणीक स्थल पर स्थापित मंदिर है। इस मंदिर का नाम तुंगनाथ है, जिसमें तुंग का अर्थ– सबसे ऊंचा स्थान होता है। जिस वजह से तुंगनाथ मंदिर भारत में बने सभी मंदिरों से सबसे ऊंचे स्थान पर निर्मित मंदिर है। जिसकी ऊंचाई समुद्र तल से 3680 मीटर है। पुरातात्विक दृष्टि से इस मंदिर का निर्माण ग्रेनाइट पत्थरों से 1000 वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। इस भव्य मंदिर को देखने के लिए प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में हजारों तीर्थयात्री और पर्यटक यहां आते हैं।



चित्र संख्या (63)

लेकिन सभी यात्रियों के अंदर जन्म से जो अंधभक्ति का प्रस्फुटन कराया जाता है, उसी अंधभक्ति में बंधकर आते हैं। जिस वजह से उस मंदिर की सच्चाई से आज तक कोई अवगत नहीं हो पाया है। उस मंदिर में जो मूर्ति स्थापित है, उस मंदिर को **चित्र संख्या 62 में** ध्यान से देखें। आगे की पंक्ति में तीन मूर्तियां स्थापित हैं। जिसमें दाहिने से पहली मूर्ति भगवान बुद्ध की है, जो भूमि स्पर्श मुद्रा में स्थापित है और बाएं से दो मूर्तियां अरहत की हैं जो ध्यान की मुद्रा में हैं। जिसे **चित्र संख्या 63 में देखें।**

तुंगनाथ मंदिर केदारनाथ मंदिर समिति द्वारा तय की गई तारीख पर खुलता है, जो हर साल लगभग वैशाख पंचमी के दौरान अप्रैल या मई के महीने में खोला जाता है और (तुंगनाथ मंदिर) दीवाली के बाद सर्दियों के मौसम में नवंबर महीने के दौरान बंद कर दिया जाता है। मंदिर बंद होने के बाद भगवान कि प्रतिमा को मुकुटनाथ में स्थानांतरित कर दिया जाता है, जो तुंगनाथ से 19 किलोमीटर की दूरी पर है और यहीं पर मुकुटनाथ में मंदिर के पुजारियों द्वारा भगवान की पूजा की जाती है।

साक्ष्य संख्या : 3

शैव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
'पशुपतिनाथ मंदिर' काठमांडू (नेपाल)

पशुपतिनाथ का नाम ही वज्रयानी बौद्ध परंपरा से निकला हुआ नाम है। बौद्ध संस्कृति में पशुपति का अर्थ होता था पशु जैसी सभी आवृत्तियों पर विजय पाना। यानी जो भी श्रेष्ठ पुरुष पंचशील को धारण करते हुए अपने

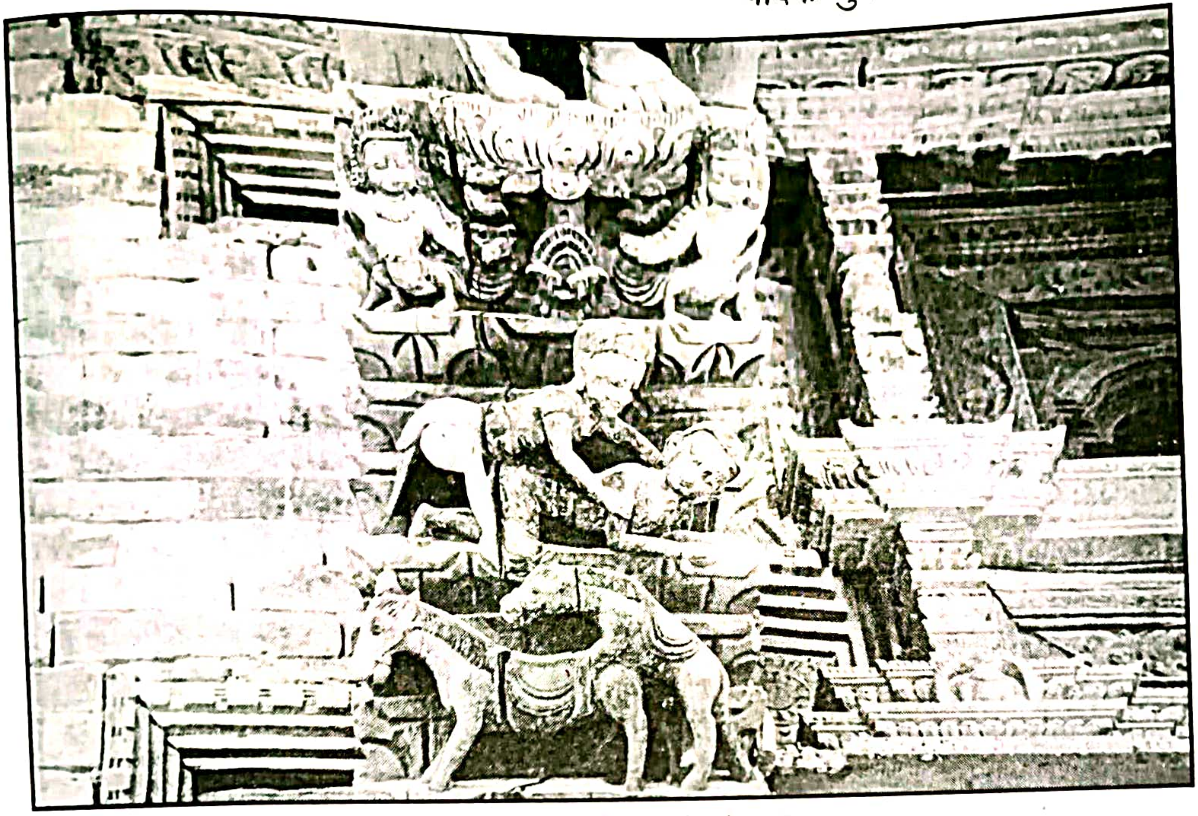
अंदर की पाश्विक आवृत्ति वाले सभी आचरण पर कावू पा ले या अपने अंदर की सभी पाश्विक काम-पिपासा जैसी कुरीतियों से मुक्त हो जाए, वैसे व्यक्ति को ही पशुपतिनाथ की उपाधि से संबोधित किया जाता था। लेकिन ये क्या! आज ब्राह्मणी परंपरा में जिसको पशुपतिनाथ से जोड़कर देखा जाता है वह तो काम-पिपासा का भंडार है। आज सभी ब्राह्मणी ग्रंथों में उस पशुपतिनाथ पर कैसा उल्लेख मिलता है, वह आप लोग भी जानते हैं। उनमें सिर्फ उस पात्र को काम-पिपासा को वढ़ाते हुए ही दिखाया गया है, जो आज वुद्धिजीवी वर्ग के लिए वहुत ही चिंतनीय विषयवस्तु है।



चित्र संख्या (64)

मैं नेपाल में अवस्थित पशुपतिनाथ मंदिर के वारे में चर्चा कर रहा था। वह मंदिर मार्गदाता गौतम बुद्ध की सात्विक आवृत्ति को देखकर उनके वज्रयानी अनुयायियों ने स्थापित किया था, आज भी उस मंदिर में मार्गदाता गौतम वुद्ध की चार मुख वाली आकृति स्थापित है। लेकिन उस आकृति को कोई पहचान नहीं ले इस वजह से आज ब्राह्मणी धर्म के ठेकेदार लोग अपने अनुयायियों को उसे पारस पत्थर कहकर उससे दूर रखते हैं, ताकि उस पत्थर की वनी आकृति को कोई देख नहीं ले। **देखें चित्र संख्या (64) में।**

लेकिन आदिशंकर के शैव मतावलंबी अनुयायियों ने बाद में उस मंदिर को अपने कब्जे में करते हुए अपना आधिपत्य जमा लिया था। जिसका साक्ष्य आज भी उस मंदिर में वनने वाली पुजारी परंपरा को देखकर कोई भी समझ सकता है। शैव पंथियों की चली आ रही परंपरा अनुसार पशुपतिनाथ मंदिर में कुल पांच पुजारी होते हैं जिनमें चार सहायक पुजारी स्थानीय या भारतीय भट्ट ब्राह्मण हो



चित्र संख्या (65)

सकते हैं, लेकिन उस मंदिर का एक मुख्य पुजारी दक्षिण भारत का ब्राह्मण ही बन सकता है। आखिर दक्षिण भारत के आदिशंकर के रिश्तेदार ब्राह्मण ही क्यों?

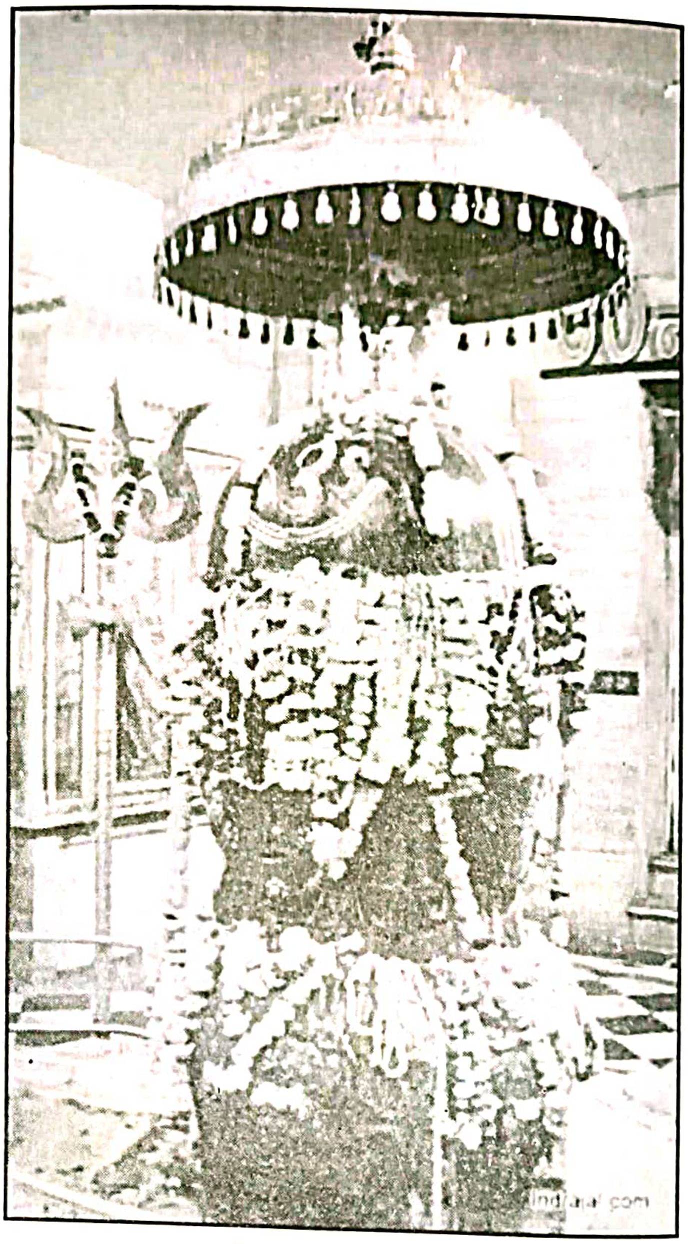
इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण के आदिशंकर से यह परंपरा आज तक निरंतर चली आ रही है। वज्रयानियों द्वारा निर्मित चार मुखी पशुपतिनाथ की आकृति को शैव पंथ के अनुयायी रहे मध्य काल (15वीं-16वीं शताब्दी) के राजा प्रताप मल्ल और भूपेंद्र मल्ल ने इस मंदिर के बाहरी भागों का पुनरुद्धार करवाया था, लेकिन वज्रयानियों के अंदर मार्गदाता गौतम बुद्ध के प्रति जो पशु आवृत्ति छोड़ने की अवधारणा थी, उस अवधारणा को शैव पंथियों ने उल्टा करते हुए इस मंदिर के बाह्य कलाकृति में पशु आवृत्ति की नक्काशी को ही दिखाया है, जो शैव परंपरा में देवदासी प्रथा के उदय का सूचक है। **देखें चित्र संख्या (65) में।**

साक्ष्य संख्या : 4

शैव पंथ द्वारा स्थापित शिव लिंग मंदिर
'पशुपतिनाथ मंदिर' मंदसौर (मध्य प्रदेश)

मध्य प्रदेश के शिवनी नदी के तट पर मंदसौर शहर बसा है। मंदसौर में काठमांडू के जैसे ही वज्रयानियों द्वारा निर्मित आठ मुखी मार्गदाता गौतम बुद्ध की आकृति प्राप्त हुई है। स्थानीय लोगों के अनुसार सन 1940 ईस्वी में उदा

जी नाम का धोबी शिवनी नदी में एक शिला पर कपड़ा धो रहा था। नदी कि जलधारा जैसे-जैसे कम हो रही थी वैसे-वैसे वह शिला भी पानी से बाहर आ रही थी। जब पूरी तरीके से वह शिला पानी से बाहर दिखने लगी तो वहां ब्राह्मणी परंपरा के पेशेवर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। सभी लोगों ने उस शिला पर बनी आकृति को काठमांडू के पशुपतिनाथ से जोड़ते हुए 'पशुपतिनाथ' मंदसौर की स्थापना कर दी। इससे भी बढ़कर चैतन्यदेव आश्रम मनपुरिया के अधिष्ठाता स्वामी प्रत्यक्षानंद महाराज ने पंचकुंडात्मक महायज्ञ करते हुए भोले-भाले नव-ब्राह्मणी अनुयायियों के अंदर इसकी महत्ता 5 हजार वर्ष पूर्व की बता दी,



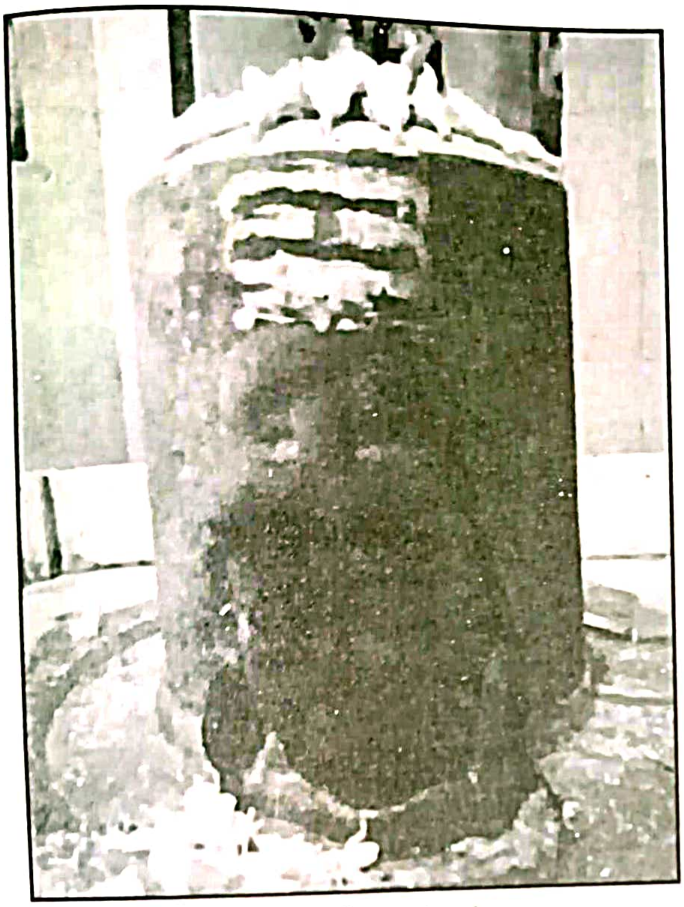
चित्र संख्या (66)

जबकि इस शिला पर मार्गदाता गौतम बुद्ध की आठ मुख वाली आकृति बनी हुई है, जिसकी ऊंचाई 7.5 फीट है। जिसे आज कोई भी जाकर देख सकता है। **देखें चित्र संख्या (66) में।**

साक्ष्य संख्या : 5

शैव पंथ द्वारा स्थापित शिव लिंग मंदिर
'लिलौटीनाथ मंदिर' उत्तर प्रदेश

लिलौटी नाथ का शिव मंदिर उत्तर प्रदेश के लखीमपुर जिले से नौ किलोमीटर की दूरी पर शारदा नगर में अवस्थित है। इस मंदिर में स्थापित मूर्ति पूर्वकालीन है, लेकिन इस मंदिर की बाहरी संरचना का निर्माण अंग्रेजी काल में स्थानीय जमींदार द्वारा करवाया गया था। इस मंदिर में विराजित मूर्ति की



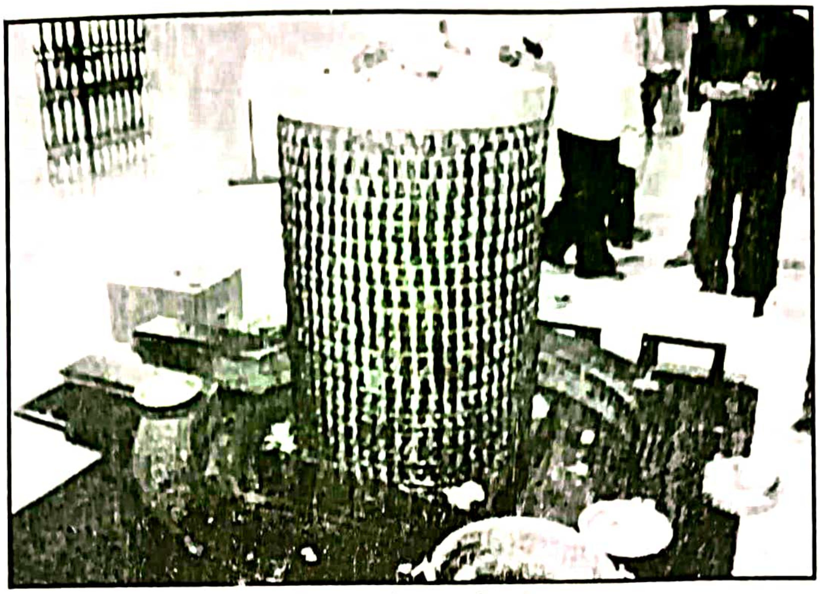
चित्र संख्या (67)

सच्चाई यह है कि अंग्रेजी काल में कुछ लोग जमीन की खुदाई कर रहे थे, तभी जमीन के नीचे से एक गोलाकार पत्थर प्राप्त होता है जिस पर किसी की आकृति बनी हुई थी। इस बात की जानकारी से पूरे शहर में यह चर्चा का विषय बन गया। तभी वैदिक संस्कृति के काल्पनिक मनु महाराज के वंशजों का आगमन हो जाता है। मनु महाराज के वंशज पत्थर पर बनी आकृति को काफी गौर से अवलोकन करने के वाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह मूर्ति महाभारत कालीन है, जो साक्षात भगवान शिव की है। इस शिव मंदिर को मुगल काल में किसी मुगल सम्राट ने नष्ट कर दिया होगा, जिसकी वजह से उस मंदिर में विराजित शिव भगवान जमीन के अंदर दव गए होंगे। लेकिन मनु वंशजों द्वारा बताई गई सभी बातों को भारत के वैदिक अनुयायी लोग भी सुन रहे थे। वैदिक अनुयायियों को तो मानो महाभारत काल के विलुप्त शिव भगवान मिल गए। वे लोग अपनी इस खुशी के आगे उस मनुपुत्र से यह भी पूछना भूल गए कि ज्ञानी महोदय मुगल काल से पूर्व भी भारत का स्वर्ण काल था। उस काल में इस महाभारत काल के शिव मंदिर की चर्चा क्यों कहीं नहीं आई थी? इस पत्थर में जिस भी भगवान की आकृति बनी है वह आकृति मार्गदाता गौतम बुद्ध से क्यों मिलती है? जिसे **चित्र संख्या (67)** में आप लोग भी देख सकते हैं!

साक्ष्य संख्या : 6

शैव पंथ द्वारा स्थापित शिव लिंग मंदिर
'इटखोरी का शिव मंदिर' झारखंड

इटखोरी का शिव मंदिर महादे नदी और बक्सा नदी के संगम पर अवस्थित



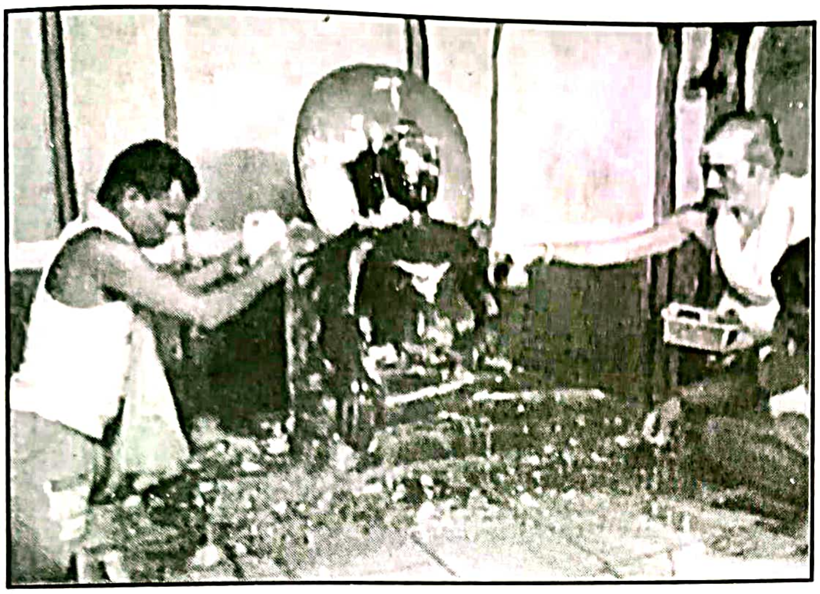
चित्र संख्या (68)

है। इटखोरी शहर झारखंड राज्य में चतरा जिला के अंतर्गत अवस्थित एक प्रखंड का नाम है। इटखोरी से उत्खनन में बड़ी मात्रा में बौद्धकालीन संरचना के अवशेष मिले हैं। लेकिन उन सभी प्राप्त साक्ष्यों की आज के वैदिक लोग अपने मनोनुकूल व्याख्या करते हुए उस अज्ञात वैदिक काल से तारतम्य मिलाते हुए झूम रहे हैं। प्राप्त साक्ष्यों में मार्गदाता गौतम बुद्ध की छोटी-छोटी आकृति बनी हुई एक गोलाकार पत्थर मिला है, जिसे आज के वैदिक अनुयायी लोग शिव लिंग बताते हुए जलाभिषेक की प्रथा आरंभ कराते हुए अपनी जीवकोपार्जन चला रहे हैं। जबकि वह एक मार्गदाता की मूर्ति है, जिन्होंने सभी से कहा था कि आप लोग कोई कर्मकांड करते हुए मुझसे कोई चमत्कार की उम्मीद नहीं करना। लेकिन इटखोरी के बुद्धिजीवी भारी संख्या में मिले बौद्धिक अवशेष के बाद भी कर्मकांड में लगे हैं। इस मंदिर में बुद्ध मूर्ति के साथ साथ बौद्ध स्तूप भी मिला है, जिसे आप लोग **चित्र संख्या (68) में** देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 7

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
'बैजनाथ धाम उर्फ देवघर'

वैदिक अनुयायियों के अनुसार पूरे भारत में बारह ज्योतिर्लिंग हैं, जिनमें एक ज्योतिर्लिंग का स्थान बैजनाथ धाम है। आज वैदिक ग्रंथों की कथा अनुसार इस लिंग की स्थापना रामकालीन युग में स्वयं लंकाधिपति राजा रावण के द्वारा की गई थी। आज तक श्रीराम के किला और नगर का कोई साक्ष्य नहीं मिला है, लेकिन उस काल में स्थापित शिवलिंग की कथा आज सबके सामने प्रचलित है। इसी से पता चलता है कि वैदिक अनुयायीगण अपने चक्षुज्ञान से कितना ज्यादा श्रुति-स्मृति की कथा से अभिभूत हैं।



चित्र संख्या (69)

देवघर मंदिर झारखंड राज्य में अवस्थित है। जहां जाने हेतु जसीडीह रेलवे स्टेशन से उतरकर सड़क मार्ग द्वारा 8.6 किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है।

अब **प्रश्न** उठता है कि **रामकालीन सतयुग** काल के **रावण द्वारा स्थापित** मंदिर में **मार्गदाता गौतम** बुद्ध की सबसे **विशाल** और पुरानी मूर्ति कैसे **स्थापित** हो गई?



चित्र संख्या (70)

देवघर मंदिर परिसर के चारों तरफ अलग-अलग देवताओं की मूर्तियां स्वतंत्र रूप से अलग-अलग मंदिरों में स्थापित हैं। सभी मंदिरों के बीच वाले मंदिर में शिवलिंग स्थापित है। उस शिवलिंग से सटे दाहिने तरफ बनी मंदिर में **'काल भैरव'** की मूर्ति स्थापित है। ये काल भैरव के रूप में किसकी मूर्ति स्थापित है? किसी ने आज तक क्या इस पर विचार करने का प्रयास किया है? या ऐसे ही भीड़ में अंधा बना हुआ भागता चला जा रहा है। यह काले रंग की चमकीले पत्थर से मथुरा कला में निर्मित मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति है, जो भूमि स्पर्श मुद्रा में सुशोभित होकर बैठी हुई है। दूसरा, इसी प्रांगण में मुख्य शिवलिंग के बाईं ओर बने मंदिर में **'आनंद भैरव'** की मूर्ति स्थापित

है। यह आनंद भैरव कौन हैं? ये आनंद भैरव मार्गदाता गौतम बुद्ध के अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व का रूप हैं जो अपने दाहिने हाथ में शक्ति का प्रतीक वज्र लिए हुए हैं।

देवघर प्रांगण में सभी मूर्तियों में इन दोनों मूर्तियों की बनावट सबसे विशाल और मथुरा कला में भारत के सबसे पूर्वकाल में निर्मित मूर्ति हैं। अब आप आज तय करें कि रावण कब भारत आया था? शिवलिंग को देवघर कब लाया था? मार्गदाता गौतम बुद्ध किस काल में लोगों को ज्ञान दिए थे? गौतम बुद्ध के कौन से अनुयायियों द्वारा गौतम बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हुआ था? भारत में सबसे पूर्व किनकी मूर्ति बनी थी?

आज पुरातत्व विज्ञान द्वारा प्रमाणित है कि सबसे पहले बुद्ध की मूर्ति बनी थी और भारत में मूर्तियों का बनना ईस्वी सन् के आस-पास गंधार कला में और कनिष्क के काल में मथुरा कला के अंतर्गत आरंभ हुआ था। उसके पूर्व में कुछ ही मूर्तियां प्राप्त होती हैं जिसकी बनावट भी प्राप्त मूर्तियों से भिन्न होती थी। आज उनका मिलना भी नगण्य मात्र में है। लेकिन फिर भी पूर्व की उस बनावट में कोई वैदिक देवी-देवता की आकृति नहीं मिली है।

अब आप लोग आज तय करें कि आपकी जिंदगी में सवाल बनकर मार्गदाता गौतम बुद्ध बैठे हैं या आपके अंदर की भोलापन वाली अंधभक्ति! आज आपकी इसी अंधभक्ति वाली सोच के कारण आपके ज्ञान और भावना से खेलते हुए कुछ तथाकथित लोग अपनी काल्पनिक कहानियों में उलझाकर रखते हुए अपनी जीवकोपार्जन चला रहे हैं। आप लोग **चित्र संख्या में 69 और 70 में** क्रमशः काल भैरव और आनंद भैरव की मूर्ति को देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 8

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
महामंडलेश्वर मंदिर (भभुआ) विहार

बिहार के भभुआ जिला अंतर्गत कैमूर पहाड़ी पर मुंडेश्वरी देवी का विख्यात मंदिर अवस्थित है। इस मंदिर के प्रांगण में शिवलिंग स्थापित है, जिसकी बनावट अशोक स्तंभ के जैसी है। इस स्तंभ की ऊंचाई वाले अग्रभाग पर पंचमुखी आकृति बनी है। इसी आकृति को महामंडलेश्वर महादेव का रूप कहा जाता है। इस आकृति की बनावट में से कहीं पर भी आपको आज के



चित्र संख्या (71)

शिव की पहचान नहीं मिलेगी, फिर भी इस परंपरा में रहकर अपना जीवकोपार्जन करने वाले ज्ञानी लोग अपने अंधभक्तों के अंदर अपने दिव्य-ज्ञान का प्रकाश फैलाते हुए उसे चामत्कारिक शिवलिंग बताते नहीं थकते हैं। वैदिक परंपरा के अनुयायियों की दृष्टि में यह मंदिर काफी प्राचीन है, लेकिन इसकी प्राचीनता कितनी है यह आज तक इस परंपरा में पढ़े-लिखे किसी भी बुद्धिजीवी को मालूम नहीं है। परंतु इस मंदिर के आस-पास काफी बिखरा हुआ प्राचीन काल का साक्ष्य मिला है, जो 'संगम काल' की याद दिलाता है। प्राप्त सभी साक्ष्यों को पटना के संग्रहालय में आज भी देखा जा सकता है।

इस मूर्ति का फोटो नीचे दे रहा हूं। जिसे आप लोग **चित्र संख्या (71) में** अपनी आंखों से देख लें। यह मूर्ति मार्गदाता गौतम बुद्ध की है।

साक्ष्य संख्या : 9

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिवलिंग मंदिर
कैलाशपुरी मंदिर

राजस्थान राज्य के उदयपुर शहर से 18 किलोमीटर उत्तर दो पहाड़ियों के बीच में एक कैलाशपुरी नाम का प्रसिद्ध मंदिर स्थापित है। इस कैलाशपुरी मंदिर में त्रिलोकी शिव का एक लिंग अवस्थित है, जिसमें चार मुख की आकृति बनी है। इस वजह से इस शिवलिंग को एकलिंगी के नाम से पूरे मेवाड़ में जाना जाता है। वर्तमान एकलिंगी मंदिर की बाहरी बनावट का निर्माण 15वीं शताब्दी में महाराणा रायमल ने करवाया था। लेकिन इस चार मुख वाली

काले पत्थर से बनी आकृति की बनावट को पुरातत्वज्ञाता द्वारा आठवीं शताब्दी की बताया जाता है, जो वज्रयानियों द्वारा निर्मित आकृति है। जिसे **चित्र संख्या (72) में आप लोग गौर से देखें।**

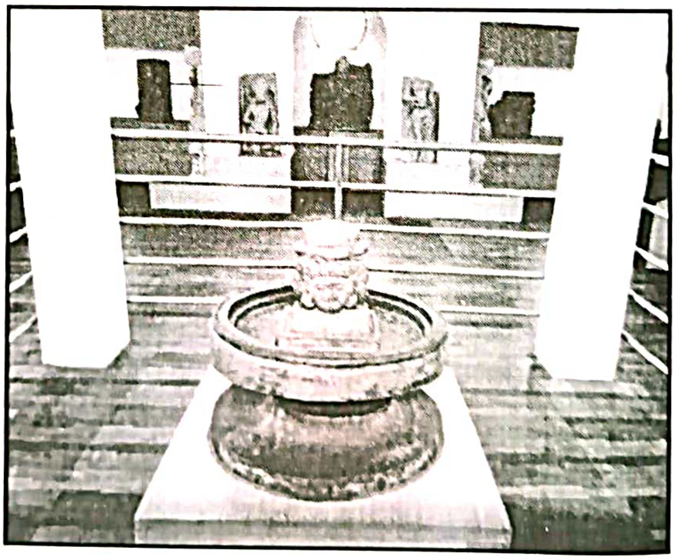


चित्र संख्या (72)

साक्ष्य संख्या : 10

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित
शिवलिंग मंदिर
गंधेश्वर महादेव मंदिर

छत्तीसगढ़ प्रदेश के महासमुंद जिला में महानदी तट पर सिरपुर नगर अवस्थित है। यह सिरपुर नगर पुरातात्विक स्थल के रूप में काफी मशहूर है। इस जगह से खुदाई में गुप्त कालीन बौद्ध साक्ष्य प्रचुर मात्र में मिलने की वजह से इस जगह का संबंध पूर्वकालीन बौद्ध सभ्यता से जुड़ जाता है। सिरपुर की खुदाई में बुद्ध की मूर्तियों का जो साक्ष्य मिला है उसमें बहुत सारा साक्ष्य अवलोकितेश्वर बुद्ध की मूर्ति से भी संबंधित है, इस वजह से आज के नववैदिक जीवकोपार्जन करने वाले या सामाजिक स्तर पर मान-सम्मान पाने वाले शैव और वैष्णव पंथी लोग अपनी-अपनी परिकल्पना से एक नए अवतारवाद की कहानी को गढ़ते हुए इसे दूसरी काल्पनिक संरचना का रूप देते जा रहे हैं। आज प्राप्त सभी साक्ष्यों को स्थानीय स्तर पर एक संग्रहालय का रूप देते हुए रखा गया है जिसे आगे वृहत अंतर्राष्ट्रीय संग्रहालय की रूप-रेखा देने की योजना है, लेकिन बौद्ध साक्ष्यों की



चित्र संख्या (73)

वजह से सभी मनुवादियों का पैर रुक जाता है। **देखें चित्र संख्या (73) में।**



चित्र संख्या (74)

वैदिक अनुयायियों हेतु सिरपुर में आज सबसे मुख्य गंधेश्वर महादेव का मंदिर है। जो महानदी के उत्खनन वाले स्थल पर निर्मित किया गया है। खुदाई से लिखित दो स्तंभ प्राप्त हुए हैं, लेकिन भारत सरकार में बैठे लोगों को इसके अनुवाद को प्रकाशित करने में काफी डर लग रहा है कि कहीं वैदिक इतिहास का सारा भेद ही न खुल जाए! इस जीर्ण-शीर्ण मंदिर का जीर्णोद्धार चौदहवीं शताब्दी में चिमनजी भोंसले ने करवाते हुए आगे की देखभाल हेतु इस मंदिर को कुछ जमीन दान दिया था, जो आज भी इसकी सच्चाई को बयान करता है कि इस मंदिर का निर्माण मुगल काल में हुआ है।

इस जगह से खुदाई में जो लिंगनुमा आकृति मिली है उसमें मार्गदाता बुद्ध की आकृति बनी है।

फिर भी आज के शैव पंथी भोले-भाले अनुयायी कर्मकांडियों की बातों में मदमस्त हैं। आप इस मंदिर को **चित्र संख्या (74) में** देख सकते हैं।

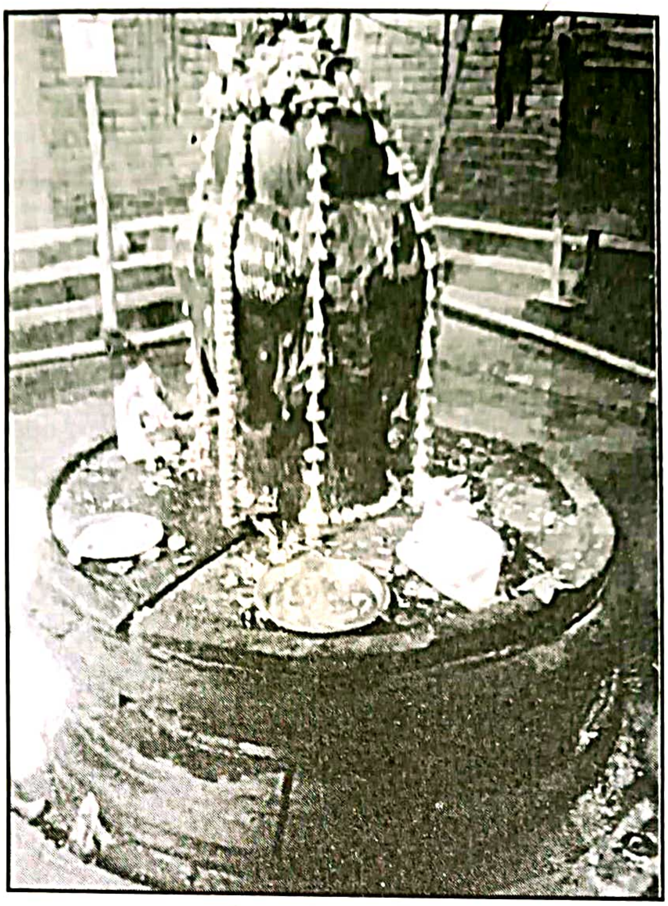
साक्ष्य संख्या : 11

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
चौमुखी महादेव मंदिर (वैशाली, बिहार)

वैशाली नगर (गढ़) से दो किलोमीटर की दूरी पर चौमुखी महादेव का मंदिर है। बात 1947 ईस्वी की है, इस जगह के स्थानीय लोग पीने हेतु पानी के लिए कुआं बना रहे थे। कुआं बनाने के दौरान जिस गड्ढे की खुदाई हो रही थी, उसी गड्ढे से एक चार मुखाकार वाला स्तंभ मिला, जिसकी चर्चा आग की तरह चारों ओर फैल गई। उस चार मुखाकार वाले स्तंभ की बनावट

देख कर तरह-तरह की चर्चा होने लगी। आस-पास के पंडित पुरोहित भी आ गए। इतने में वहां की इकट्ठी भीड़ ने पंडित से पूछा कि यह स्तंभ क्या है? लेकिन एक कहावत है कि जो जैसा होता है, उसे सब कुछ वैसा ही दिखता है।

पंडित ने झट से उत्तर दिया कि यह चौमुखी महादेव जी हैं। फिर क्या था स्थानीय लोग और स्थानीय सांसद के निधि सहयोग से वहां मंदिर बनना शुरू हो गया, जो वर्तमान समय में एक भव्य मंदिर बनकर तैयार हो गया है। जबकि यह गुप्तकालीन स्तंभ है जिस पर भगवान बुद्ध की आकृति बनी है। जिसको **चित्र संख्या 75 में देखें।**



चित्र संख्या (75)



चित्र संख्या (76)

आज भी उस मंदिर के पास में एक बोर्ड लगा है जिस पर गुप्तकालीन (सम्राट चंद्रगुप्त उर्फ विक्रमादित्य) लिखा हुआ है, जिसको **चित्र संख्या 76 में** कोई भी देख सकता है या उस स्थान का भ्रमण कर भी देख सकता है। अभी-अभी वर्तमान में सूचना मिली है कि सही बात उस मंदिर के पुजारी को मालूम हो गई है जिस वजह से पुजारी ने स्तंभ पर बनी आकृति (चेहरा) के साथ छेड़-छाड़ कर पहचान मिटाने का असफल प्रयास किया है।

साक्ष्य संख्या : 12

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
चतुर्भुज स्थान महादेव मंदिर (मुजफ्फरपुर, बिहार)



चित्र संख्या (77)

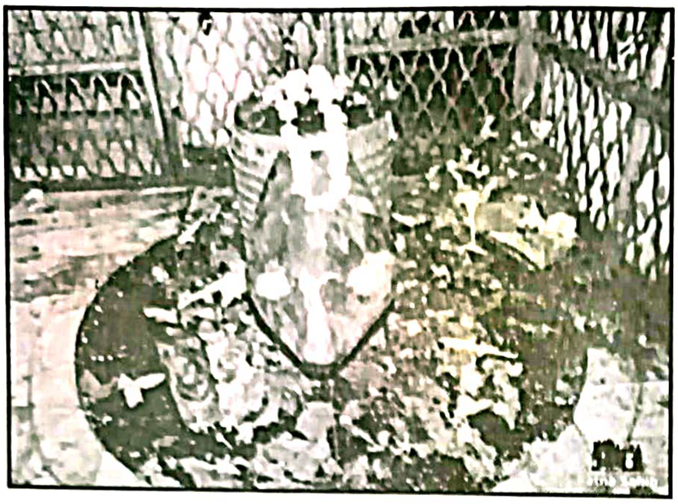
इस जगह का नाम चार भुजा वाली मूर्ति की वजह से चतुर्भुज स्थान प्रसिद्ध है। लेकिन आज यह स्थान मुजफ्फरपुर के रेड लाइट एरिया के कारण काफी बदनाम है। कहा जाता है कि 1303 ईस्वी में मुजफ्फरपुर के बगल में तुर्की नामक स्थान से तीन फुट लंबी एक शिला मिली थी जिसके अग्रभाग की चारों दिशाओं पर चार आकृति बनी थी। उस आकृति वाली शिला को मुजफ्फरपुर के इस स्थान पर स्थापित कर दिया गया था। जिसको शिवलिंग समझते हुए लोग अभी तक जलाभिषेक करते आ रहे हैं। लेकिन उस शिला को देखकर आज कोई भी कह सकता है कि शिवलिंग ऐसा नहीं होता है। इस स्थान का नाम भी उसी चार आकृति की वजह से चतुर्भुज स्थान पड़ा था। **चित्र संख्या** (77) **में** आप लोग भी देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 13

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
बैकंठ महादेव मंदिर फतुहां, पटना (विहार)

बिहार की राजधानी पटना से सटे पूर्वी छोर पर बैकंठपुर गांव स्थित है। मान्यता अनुसार इस गांव में रामकालीन काल का एक ऐतिहासिक मंदिर अवस्थित है। इस मंदिर में जो लिंग स्थापित है उस लिंग की खासियत है कि उसमें 108 छोटे-छोटे आकार में भगवान बुद्ध की आकृति बनी है, जिस आकृति को स्थानीय पंडा लिंग बताकर लोगों से जीवकोपार्जन करता है।

इसी बनावट का एक स्तंभ ईटखोड़ी से भी प्राप्त हुआ है, जिसको आप



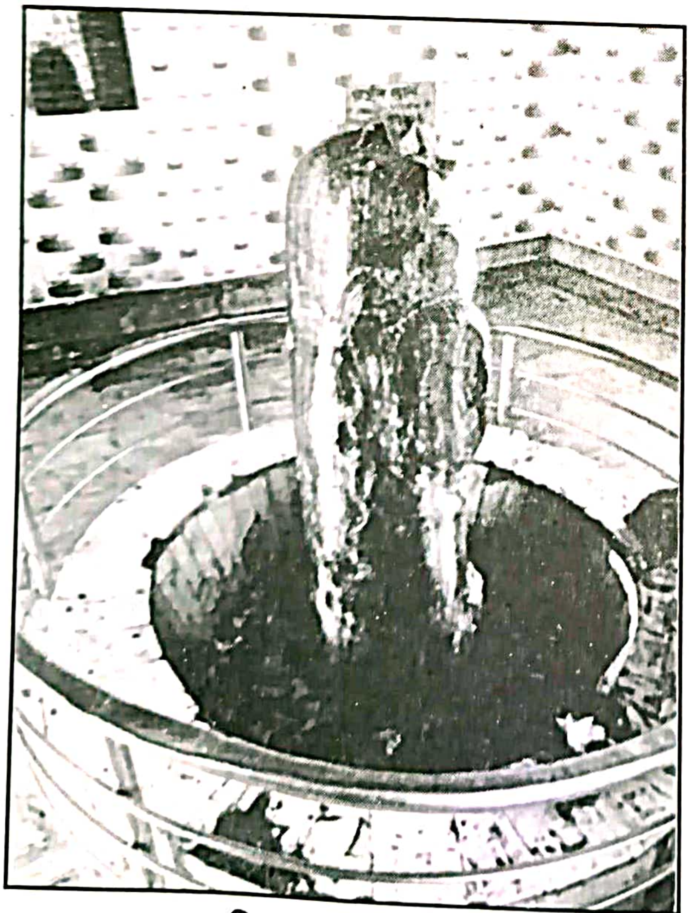
चित्र संख्या (78)

बिहार बैकंठपुर का महादेव मंदिर।

लोग इसी पुस्तक में देख भी चुके होंगे। इस आकृति में स्थानीय पंडितों द्वारा एक तरासी गई दूसरी आकृति का जोड़ बैठाया गया है। जिसे आज के समय में शिव-पार्वती के नाम से संबोधित किया जाता है, इस सारी घटना को चित्र में देख सकते है। **देखें चित्र संख्या (78)**

साक्ष्य संख्या : 14

शैव पंथ द्वारा परिवर्तित शिव मंदिर
वीर महादेव मंदिर, धनरूआ, पटना (बिहार)



चित्र संख्या (79)

यह स्थान बिहार राज्य के मसौढ़ी अनुमंडल में धनरुआ थाना में पड़ता है। यह स्थान पटना गौरीचक धनरुआ मसौढ़ी वाले मुख्य मार्ग से जाने पर मिलता है। पटना से इसकी दूरी लगभग 27 किलोमीटर है।

इस मंदिर का निर्माण आजादी के बाद का है, लेकिन इस मंदिर में स्थापित शिवलिंग बहुत ही पुराना है। इस लिंग के ऊपरी हिस्से पर चेहरे की आकृति बनी है, जिस आकृति को आप लोग देख सकते हैं। यह स्तंभनुमा बनावट है, जिसकी लंबाई लगभग पांच फुट ऊंची और मोटाई में एक फुट से ज्यादा प्रतीत होती

है। स्थानीय लोग आज भी इन्हें प्यार से बुढ़वा बाबा नाम से संबोधित करते हैं। दरअसल यह बुढ़वा बाबा का नामकरण भारत के धूर्त वर्ग ने किया है।

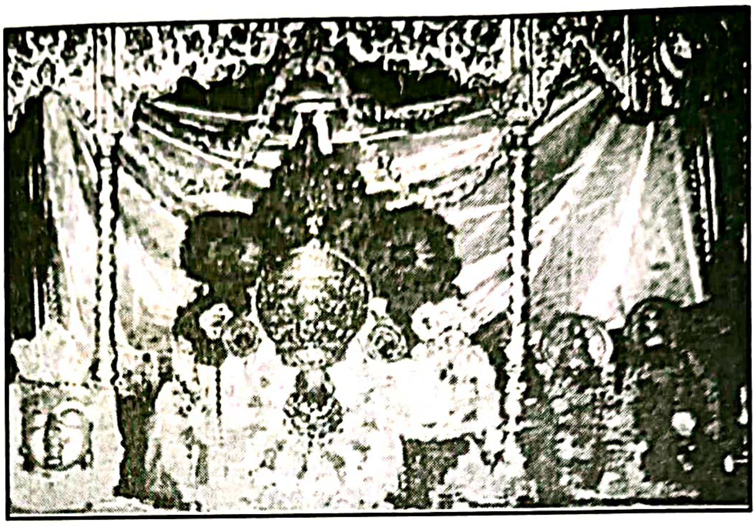
इस स्तंभनुमा बनावट की वास्तविकता यह है कि वीर ओरियारा के बगल में दरधा नदी के दूसरी ओर देवदह (देव डीह यानी पूर्वकाल में अरहत भिक्खु के रहने का स्थान) ग्राम है। इस ग्राम के पास में भगवान बुद्ध से जुड़ा हुआ काफी प्रमाण बिखरा था, जिसको बिहार सरकार ने वहां से उठाकर वर्तमान पटना के संग्रहालय में रखवाने का कार्य भी किया है। फिर भी इन्हीं प्रमाणों में से एक प्रमाण यह बनावट है। जिसको **चित्र संख्या 79 में देखें।** धूर्तों के वंशजों ने इस स्तंभ की पहचान छिपाने हेतु स्तंभ के ऊपरी हिस्से पर बने चेहरे की आकृति को काफी नुकसान पहुंचाया है। यह किसी गलती के कारण भी हो सकता है या कोई धूर्त इसे किसी विद्वेष की भावना से भी कर सकता है, ताकि इस स्तंभ पर बनी आकृति को कोई पहचान नहीं सके। दूसरी बात, इस स्तंभ के ऊपरी सिरे पर आकृति के बगल में बम्ही लिपि में लिखित तीन पंक्तियां हैं। जिसकी लिखावट काफी अस्पष्ट हो गई है, फिर भी इसे पढ़ने का प्रयास करता हूं। खैर, जो भी हो लिखावट को पढ़ना कठिन है, फिर भी इस लिखावट की पहली पंक्ति में पहला वर्ण 'व' (ő), दूसरी पंक्ति का पहला वर्ण 'ज' (ε) और तीसरी पंक्ति का पहला वर्ण 'द' (ɔ) लिखा है। यानी इस लिखावट की वर्णमाला से स्पष्ट होता है कि यह बम्ही लिपि युग का स्तंभ है। फिर भी धूर्त ब्राह्मण ने यह कहकर अनाड़ी वर्गों को प्रभावित किया कि यह बुढ़वा महादेव वावा है और यह वावा शंकरजी का रूप है। फिर क्या था, उस ग्राम के आस-पास के अनाड़ी (अनार्य) लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई और बूढ़ा महादेव बाबा को स्थापित करने हेतु तन-मन-धन की खुलेआम बोली लगने लगी।

आज वीर ओरियारा के उस स्थान पर बूढ़ा बाबा का मंदिर स्थापित है जहां शिवरात्रि के दिन अंधभक्त श्रद्धालुओं के साथ-साथ बहुत बड़ा फर्नीचर का मेला लगता है। **चित्र संख्या 76** को देख सकते हैं।

नोट : आज शिवलिंग स्थापित जितनी भी मंदिर या मूर्ति मिलती है अगर उस मंदिर या मूर्ति की बनावट राजपूतकाल के समय की या उसके पूर्व की है, तो उन सभी मंदिरों में लिंग की बनावट कुछ इस प्रकार की मिलती है।

साक्ष्य संख्या : 15

वैष्णव पंथ द्वारा परिवर्तित विष्णु अवतार मंदिर
बद्रीनाथ मंदिर



चित्र संख्या (80)

भारत में विष्णु के अवतार में अवतरित जितने भी मंदिर राजपूत काल या मुगल काल के हैं उन सभी मंदिरों में स्थापित मूर्ति मार्गदाता गौतम बुद्ध की **'अवलोकितेश्वर मुद्रा'** वाली है। आज जरूरत सिर्फ आपको ब्राह्मणी कल्पना से निकल कर उस सच्चाई को देखने की है। भारत के चार प्रमुख धामों में से एक धाम का नाम **'बद्रीनाथ धाम'** है। जिसे बद्रीनारायण मंदिर भी कहते हैं। इस मंदिर की मूर्ति ध्यान मुद्रा में है और साथ में कई अन्य मूर्तियां भी स्थापित हैं।

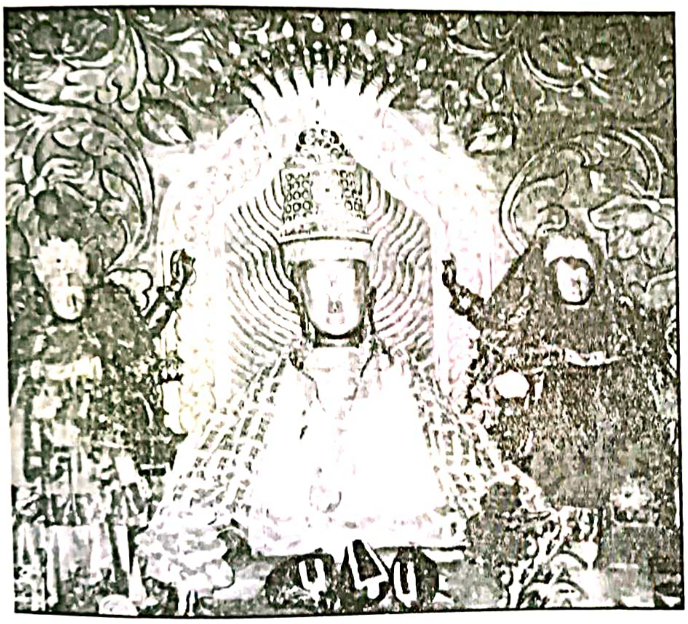
पूर्वकाल में इस जगह पर वज्रयानी परंपरा वाले लोग मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति को स्थापित किए हुए थे। लेकिन 8वीं शताब्दी में केदारनाथ के आस-पास आदिशंकर के बढ़ते प्रभाव का असर इस जगह पर भी पड़ गया था। जिसके परिणामस्वरूप वज्रयानी परंपरा वाले लोग मार्गदाता की मूर्ति को वहीं छोड़कर तिब्बत की ओर पलायन कर गए। उसके बाद आदिशंकर के अनुयायी लोग मार्गदाता की मूर्ति को अलकनंदा नदी के बगल वाले तप्त-कुंड में फेंक दिए थे।

आदिशंकर द्वारा स्थापित शैव पंथ के कुछ सौ वर्षों बाद ही उससे अलग एक वैष्णव पंथ की स्थापना का श्रेय रामानुजाचार्य को जाता है। रामानुजाचार्य का कार्य-क्षेत्र मुख्य रूप से केदारनाथ के बगल का रमणीक बदरी के पेड़ (बेर) का जंगल था। यह वही बदरी का जंगल है जिसमें पूर्वकाल में वज्रयानियों द्वारा स्थापित मार्गदाता की मूर्ति को शैव पंथियों ने फेंका था। बदरी के तप्त-कुंड में स्नान करते समय रमानुजाचार्य को मार्गदाता की मूर्ति मिलती है जिसे वह विष्णु का अवतार समझते हुए वहीं अलकनंदा नदी के किनारे स्थापित करते हैं,

जिसका नाम बदरी (बेर) के जंगलों से जुड़ता हुआ बद्रीनाथ रखा जाता है। जो आज बद्रीनाथ के नाम से जाना जाता है। आज बद्रीनाथ मंदिर की जो संरचना देखने को मिलती है उसका निर्माण रामानुज संप्रदाय के स्वामी वरदराज की प्रेरणा से पंद्रहवीं शताब्दी में गढ़वाल के राजा ने करवाया था। इस मंदिर में स्थापित मार्गदाता की मूर्ति को आप लोग **चित्र संख्या (80) में** देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 16

वैष्णव पंथ द्वारा परिवर्तित मुक्तिनाथ मंदिर
मुक्तिनाथ मंदिर



चित्र संख्या (81)

मुक्तिनाथ नेपाल राष्ट्र के मुस्तांग जिले में अवस्थित एक प्रसिद्ध और दर्शनीय पावन स्थल है। जहां, प्रकृति और अध्यात्म का सुंदर तालमेल मन को मोह लेता है। नेपाल के सात प्रमुख तीर्थ स्थलों में मुक्तिनाथ भी एक है। काली गंडकी नदी के पावन जल से प्रच्छादित, नीलगिरी और धौलागिरी की हिमाच्छादित शृंखलाओं से सुशोभित, हरी-भरी पहाड़ियों से सुसज्जित और तेज गति से बहती नदियों की जलधारा की ध्वनि से गूंजता मुक्तिनाथ क्षेत्र को मान्यता अनुसार भगवान विष्णु और आदिदेव महादेव के निवास स्थल के रूप में दर्शनीय और पूज्यनीय माना जाता है।

मुक्तिनाथ मंदिर जाने हेतु काठमांडू होते हुए पोखड़ा जाना होता है। उसके बाद पोखड़ा से मुक्तिनाथ की यात्रा प्रारंभ होती है। पैगोडा शैली में बनाया गया यह मंदिर 14 फीट ऊंचा और 8 फीट चौड़ा है। मान्यता अनुसार मंदिर के अंदर भगवान विष्णु, देवी लक्ष्मी और गरुड़ विराजमान हैं।

परंतु आप मंदिर में विराजित तीनों मूर्तियां को गौर से देखेंगे तो बीच में मार्गदाता गौतम बुद्ध की मूर्ति को कोई भी साफ-साफ पहचान सकता है। उस

मूर्ति में कान की बनावट लंबी है, जो सिर्फ बुद्ध की मूर्ति में ही पाई जाती है। मुख्य मूर्ति के एक ओर महिला बोधिसत्त्व और दूसरी ओर पुरुष बोधिसत्त्व की मूर्ति विराजित है। उसी का परिणाम है कि इस मंदिर में आज भी एक महिला पुजारी तैनात होती है, जो बौद्ध धर्मावलंबी होती है।

मुक्तिनाथ स्थल को बौद्ध मतावलंबी लोग अवलोकितेश्वर के रूप में पूजते हैं। इस मंदिर में स्थापित मार्गदाता की मूर्ति को आप लोग **चित्र संख्या (81) में** देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 17

वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
तिरुपति मंदिर

इस मंदिर का स्थापना काल दक्षिण के चोल वंश के काल से जाना जाता है। दक्षिण भारत में नौवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक परवर्ती चोल शासकों का प्रभुत्व छाया हुआ था। चोल शासकों ने अपने काल में करीब 1400 मंदिरों का निर्माण करवाया था। परंतु इनके द्वारा निर्मित सभी मंदिरों में 'अवलोकितेश्वर बुद्ध' की मूर्तियों की झलक मिलती है। इनके द्वारा निर्मित सभी मंदिरों की बाहरी बनावट की प्रसिद्धि चोल कला के रूप में आज भी विख्यात है।



चित्र संख्या (82)

चोल साहित्य में इस तिरुपति मंदिर को त्रिवेंगदम भी कहा गया है।

इस मंदिर में स्थापित मूर्ति को तिरुपति बालाजी या वेंकटेश्वर जी भी कहा जाता है। इस मूर्ति की बनावट पर गौर करें, अवलोकितेश्वर बुद्ध की जो आकृति आपने ऊपर देखी होगी बिल्कुल वैसी ही आकृति इस मूर्ति में भी है। एक हाथ में शंख है जिसका अर्थ अज्ञानता से उठाकर अच्छे कर्म और दूसरों की भलाई

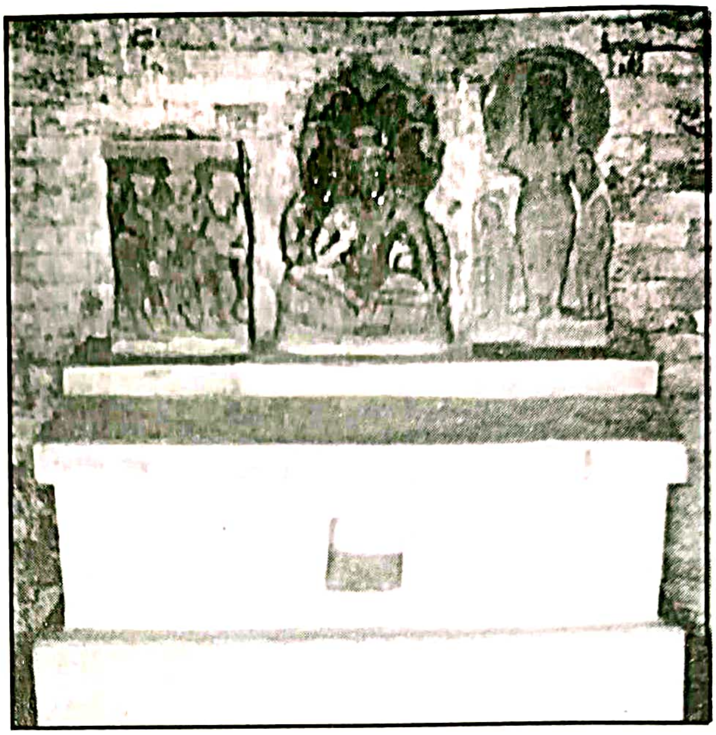
करना है, दूसरे हाथ में चक्र है जो धम्म-चक्र को बढ़ाते रहने की पहचान है, तीसरे हाथ में गदा पद्मधारी रखे हुए हैं, जो शक्ति का प्रतीक है। ऐसे इस मंदिर के निर्माण में चोल शासकों के अलावा होयसल और विजय नगर के राजाओं का भी काफी योगदान रहा है। तमिल राज्य के अंदर 1050 ईस्वी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ और उनकी शिक्षा-दीक्षा शैव पंथियों के आश्रम में हुई। परंतु इन्होंने उस अद्वैतवाद की शिक्षा 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' से असंतुष्ट होकर अपने एक अलग **'अवतारवाद'** की अवधारणा पर **'द्वैतवाद'** की नींव रखी, जिसे **'वैष्णव पंथ'** भी कहते हैं। इसके पहले पूरे भारत में कहीं पर भी वैष्णव या विष्णु के अवतारवाद वाली किसी भी कहानी का साक्ष्य नहीं मिलता है। इसी वैष्णव पंथ की स्थापना के बाद से **'अवलोकितेश्वर बुद्ध या बोधिसत्त्व'** प्राप्त जितने भी पूर्वकाल में बनी मूर्ति या मंदिर थे, उन सभी स्थलों पर इनके अनुयायी लोग अपना आधिपत्य जमाते हुए अपनी अवतारवादी मान्यता से वैष्णव पंथ में परिवर्तित करने का काम करने लगे थे। जन्मस्थान तमिलनाडु होने की वजह से इस मंदिर में भी स्थापित अवलोकितेश्वर बुद्ध की मूर्ति को विष्णु का अवतार घोषित करते हुए अपने वैष्णव पंथ के अधीन कर लिया गया था।

आप आज इस मंदिर में स्थापित मूर्ति को देख सकते हैं। इस मूर्ति के मुकुट के अंदर घुंघराले बाल यानि मथुरा कला में निर्मित मार्गदाता की मूर्ति को देख सकते हैं। मूर्ति के कान की बनावट भी मथुरा कला वाली लंबी है। बाकी नाक और मुख की बनावट को आप देख ही रहे हैं। आज इस मंदिर में पूर्वकाल से एक परंपरा चली आ रही है जिस परंपरा को आज सिर्फ बौद्ध अनुयायी ही जीवित रखे हुए हैं। वह परंपरा है सर मुंडन की! आज भी इस मंदिर में कर्मकांडियों द्वारा उस परंपरा को जीवित रखा गया है।

15वीं शताब्दी तक विजय नगर शासन के अभिलेख अनुसार इस मंदिर की ख्याति ज्यादा नहीं हुई थी, लेकिन मुगल और अंग्रेजी काल से इसकी ख्याति बढ़नी शुरू हुई जो आज अंधभक्तों के कारण ऊंचाई पर है। **चित्र संख्या** (82) **में** आप लोग भी बालाजी की मूर्ति को देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 18

वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
लक्ष्मण मंदिर 'सिरपुर' छत्तीसगढ़



चित्र संख्या (83)

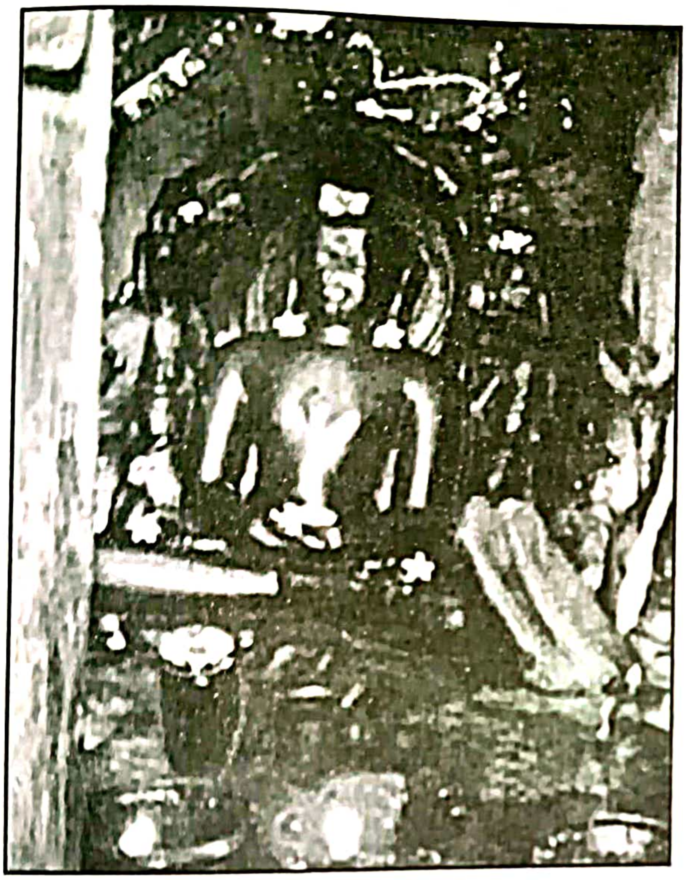
इस मंदिर का नाम लक्ष्मण मंदिर है, लेकिन इसमें लक्ष्मण की एक भी मूर्ति देखने को नहीं मिलेगी। यह लक्ष्मण मंदिर छत्तीसगढ़ राज्य के महासमुंद जिले में सिरपुर नगर में अवस्थित है। पुरातात्विक उत्खनन में इस जगह से काफी मात्र में गुप्तकालीन बौद्ध अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये सभी बौद्ध अवशेष अवलोकितेश्वर मुद्रा वाले मार्गदाता गौतम बुद्ध से जुड़े हैं। जिनमें लक्ष्मण मंदिर और गंधेश्वर महादेव का मंदिर प्रमुख है। ऊपर में आप लोग गंधेश्वर महादेव की कथा पढ़ चुके हैं।

लक्ष्मण मंदिर के नाम से आज जो प्रसिद्ध मंदिर है उसके अंदर **'अवलोकितेश्वर बुद्ध'** की मूर्ति है, जो आज विष्णु के नाम से जानी जाती है। इस मंदिर के उत्खनन में एक शिलालेख मिला है जिससे इस मंदिर के निर्माण की जानकारी प्राप्त होती है। प्राप्त शिलालेख में लिखा है कि इस मंदिर का निर्माण **हर्षगुप्त की विधवा रानी बासटा देवी** ने छठी शताब्दी में करवाई थी। ईंटों से निर्मित गुप्तकालीन यह पहला मंदिर मिला है। ह्वेनसांग ने भी अपनी यात्रा वृत्तांत में इस स्थल में निर्मित सभी बुद्ध मंदिरों की चर्चा विस्तार से की है।

इस मंदिर को तीन भागों में बांटकर निर्माण किया गया है। प्रथम भाग मंदिर का गर्भ-गृह है जिसमें अवलोकितेश्वर मुद्रा में मार्गदाता बैठे हैं, दूसरे भाग में मंदिर का निकासद्वार है जिसमें नक्काशी द्वारा मार्गदाता का अवलोकितेश्वर यानी अवतार वाली कई मुद्राओं में उनकी मूर्ति नक्काशी की गई है। तीसरा, इसके बाहर एक मंडपनुमा आकृति की बनावट मिली है जिसमें कई खंभों द्वारा लोगों को ध्यान साधना हेतु बैठने की व्यवस्था रही होगी। इन सभी खंभों पर मार्गदाता की आकृति मिलती है। **चित्र संख्या (83) में** आप सभी आकृति को **देख सकते हैं।**

साक्ष्य संख्या : 19

वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
अष्टभुजी देगुन गुरु मंदिर (छत्तीसगढ़)



चित्र संख्या (84)

छत्तीसगढ़ में सक्ती से 10 कि.मी. तथा खरसिया से 14 कि.मी. पर जांजगीर चांपा जिला में अड़भार नगर बसा है। जिसे 850 ईस्वी से पूर्वकाल में अष्टद्वार नगर कहा जाता था। लगभग 5 कि.मी. की परिधि में बसा यह नगर गुप्त काल में खगोलीय वैद्यशाला एवं बौद्धिक शिक्षा का केंद्र था। साक्ष्य के रूप में आज हर जगह बिखरे खंडित मूर्ति अवशेष को देखा जा सकता है। आज भी यहां के लोगों को घरों की नींव खोदते समय प्राचीन टूटी-फूटी मूर्तियां या पुराने समय के सोने-चांदी के सिक्के, प्राचीन धातु के कुछ-न-कुछ सामान अवश्य प्राप्त होते हैं।

आप लोग इस मंदिर में विराजित मुख्य मूर्ति के बगल में काले पत्थर से बनी हुई 'देगुन गुरु' की मूर्ति को देखें! साथ ही इस मंदिर में विखरे हुए अष्टकमल की आकृति वाली मुद्रासन भी देखें, जिस अष्टकमल पर गौतम बुद्ध की मूर्ति स्थापित होती थी। इसको आप लोग **चित्र संख्या (84) में** देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 20

वैष्णव पंथ द्वारा काविज मंदिर
उड़ीसा का सूर्य मंदिर

उड़ीसा का सूर्य मंदिर आज के सभी वैदिक अनुयायियों हेतु चामत्कारिक

मंदिर है। लेकिन इसके सही चमत्कार की जानकारी किसी को नहीं है। आइए इसकी चमत्कारी विशेषताओं को समझते हैं।

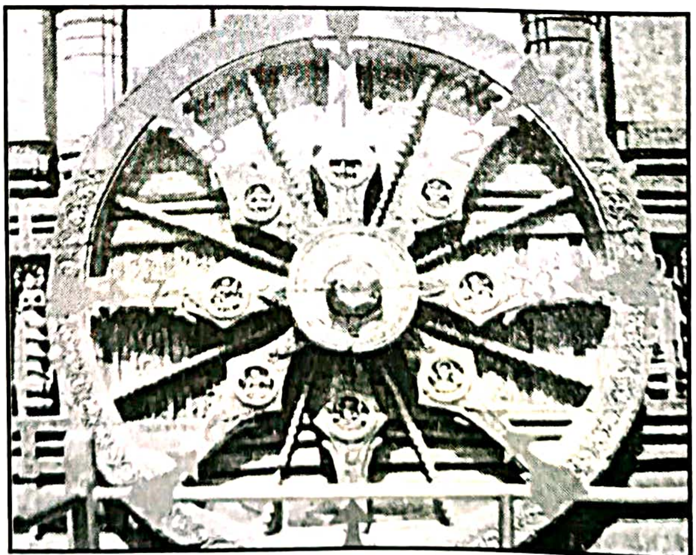
इस मंदिर की चामत्कारिक मूर्ति को काला पहाड़ नाम के एक मुस्लिम शासक ने तोड़ कर इसमें रखी मूर्ति को समुद्र में फेंक दिया था, लेकिन उस समय इसमें कोई चमत्कार नहीं हुआ था।



चित्र संख्या (85)

इस मंदिर का पुनरुद्धार तेरहवीं शताब्दी में गंग वंश के राजा **'नरसिंहदेव'** के द्वारा करवाया गया था।

अब आप इस मंदिर की बनावट को गौर से देखें! इस मंदिर की बनावट में दो प्रकार की शैली और दो काल के साथ दो प्रकार के पदार्थों का उपयोग साफ-साफ दिखेगा। पहली, काले पत्थर से बनी मूर्ति है जो गुप्तकाल की प्रतीत होती है और दूसरी बनावट तेरहवीं शताब्दी के आस-पास की दिखती हैं, जिसमें बलुआ पत्थर की मूर्ति है।



चित्र संख्या (86)

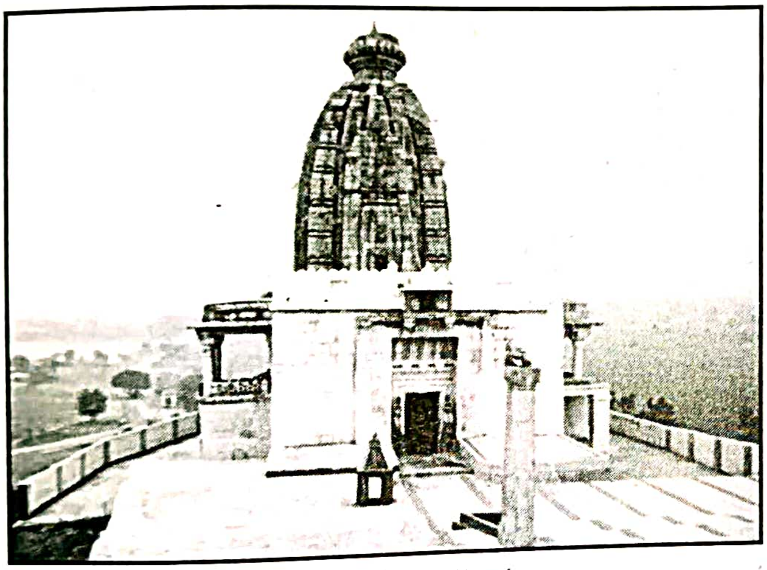
अब आप स्वयं तय करें कि नरसिंहदेव ने इसे बनाया था या पूर्वकाल की रही किसी अन्य स्थल के बनावट को बदलते हुए इन्होंने सिर्फ इस मंदिर का पुनरुद्धार किया था।

सबसे आश्चर्य वाली बात यह है कि इसमें 'आष्टांगिक मार्ग' के चक्रों

वाली बनावट की भरमार है, जिसे आज रथ का पहिया बोला जाता है। लेकिन इस चक्र की बनावट पर गौर फरमाएं तो यह आठ अंगों वाले मार्ग का प्रतीक चिह्न 'आष्टांगिक मार्ग' है। आप इन सभी साक्ष्यों को **चित्र संख्या (85, 86)** में देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 21

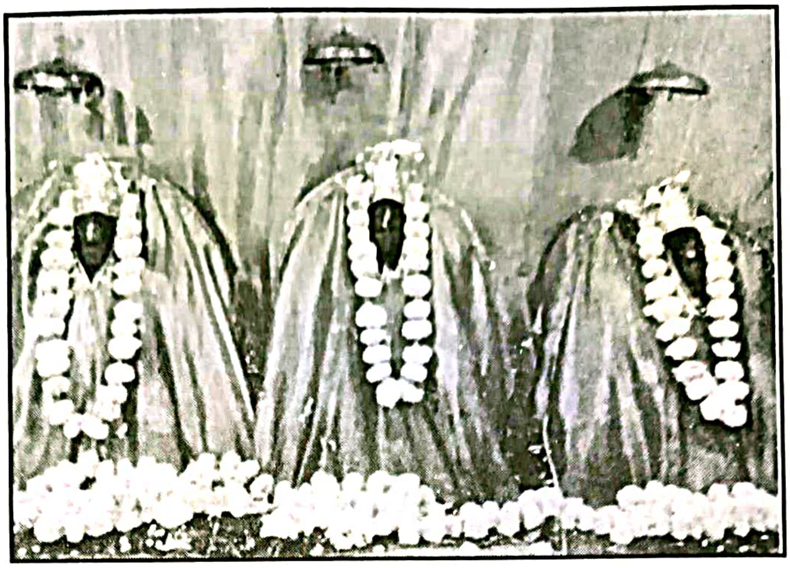
वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
देव का सूर्य मंदिर (बिहार)



चित्र संख्या (87)

देव का सूर्य मंदिर औरंगाबाद जिला (बिहार) के दक्षिण-पूर्व में 10 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। मंदिर का शिल्प उड़ीसा के कोणार्क सूर्य मंदिर से मिलता-जुलता है। देव सूर्य मंदिर दो भागों में बना है। पहला गर्भ-गृह जिसके ऊपर कमल के आकार का शिखर है और शिखर के ऊपर सोने का कलश है। दूसर भाग मुखमंडप है जिसके ऊपर पिरामिडनुमा छत और छत को सहारा देने वे लिए नक्काशीदार पत्थरों का बना स्तंभ है। तमाम हिंदू मंदिरों के विपरीत पश्चिमाभिमुख देव सूर्य मंदिर देवार्क माना जाता है। मंदिर के स्थापत्य रं प्रतीत होता है कि मंदिर के निर्माण में उड़ीया स्वरूप नागर शैली क समायोजन किया गया है। नक्काशीदार पत्थरों को देखकर भारतीय पुरातत्व विभाग के लोग मंदिर के निर्माण में नागर एवं द्रविड़ शैली के मिश्रित प्रभाव वाली वेसर शैली का भी समन्वय बताते हैं। पुरातत्वविद इस मंदिर का निर्माण काल आठवीं-नौवीं सदी के बीच का मानते हैं।

मंदिर के बाहर में एक पालि लिपि में लिखा शिलालेख मिला है फिर भी इस मंदिर के अनुयायियों द्वारा इस मंदिर का निर्माण साढ़े सात लाख वर्ष पहले का बताया जाता है, जबकि आज सभी को पता है कि पालि लिपि में



चित्र संख्या (88)



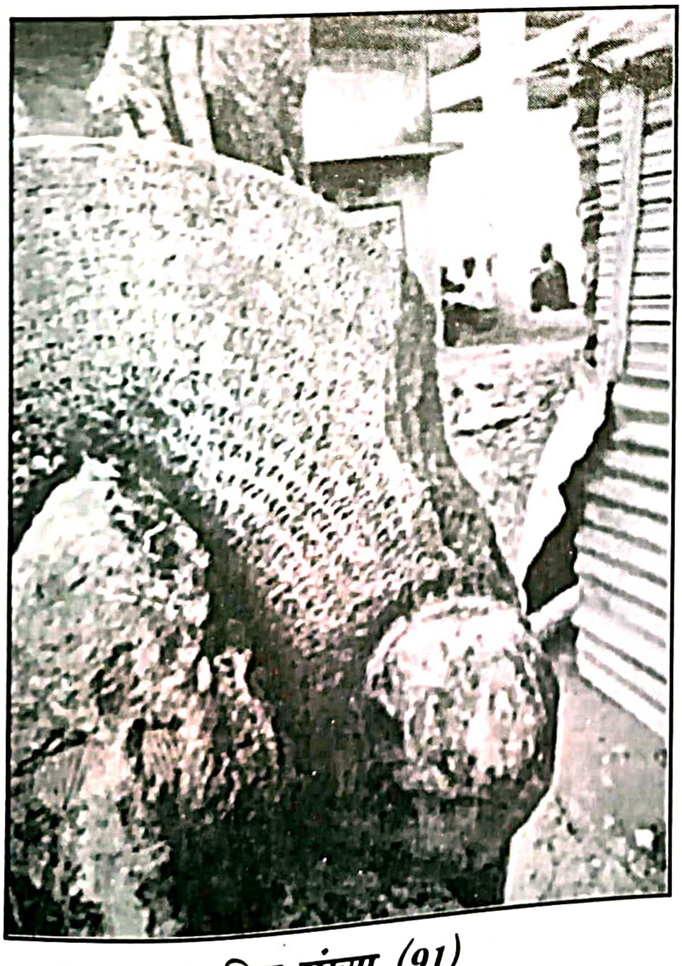
चित्र संख्या (89)

शिलालेख किस काल में लिखे जाते थे। पूर्वकाल में इस मंदिर के प्रांगण में एक स्तंभ हुआ करता था जो आज देखने को नहीं मिलता है। जिसे आप लोग **चित्र सं. (87) में** देख सकते हैं। जिसे आज नष्ट कर दिया गया है। इस मंदिर में तीन मूर्तियां स्थापित हैं।

आप इस मूर्ति को देख कर स्पष्ट बता सकते हैं कि यह मूर्ति भगवान बुद्ध की है। लेकिन आज मंदिर से अपना रोजगार चलाने वाली प्रजाति ने इस मूर्ति की मूल बनावट को कपड़े से छिपाकर सूर्य देवता का रूप दे दिया है और इसे एक त्रेतायुगीन काल्पनिक कहानी से जोड़ते हुए भक्तों के दिलोदिमाग में बैठा दिया है। आप मंदिर के पुराने चित्र और मंदिर की मूर्ति को **चित्र सं. (88) में** देख सकते हैं। साथ ही मंदिर की दीवार की बाहरी दिशा में सटी हुई एक मूर्ति है, उसको भी **चित्र सं. (89) में** देख सकते हैं।



चित्र संख्या (90)



चित्र संख्या (91)

साक्ष्य संख्या : 22

वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर बड़गांव का सूर्य मंदिर (बिहार)

नालंदा विश्वविद्यालय खंडहर से सटा एक गांव है, जिसका नाम 'बड़गांव' है। गांव का नाम पढ़कर कुछ समझ गए होंगे। नाम देखकर ही मालूम हो जाता है कि इस स्थान या गांव का पूर्वकालीन नाम बुद्ध गांव रहा होगा, जिसमें बाद में संबोधन की विकृति कहें या उच्चारण की विकृति कहें, इस गांव को बड़गांव से जाना जाने लगा। ऐसे इस गांव की जमीन की विशेषता रही है कि इस गांव की भूमि में या खेतों की भूमि में कहीं भी गड्ढा खोदो, वहां से भगवान बुद्ध की मूर्ति या भगवान बुद्ध से जुड़े हुए प्रमाणों का ही मिलना होता है। अभी तक उस गांव से प्राप्त सैकड़ों की संख्या में भगवान की मूर्तियों का अवैध व्यापार हो चुका है।

इसी गांव में एक जलाशय है, इस जलाशय के किनारे एक मंदिर है जो आज सूर्य मंदिर के रूप में विख्यात मंदिर है। बिहार में इस सूर्य मंदिर के प्रति लोगों

का बहुत ही ज्यादा अंधभक्ति वाला समर्पण है। अंधभक्ति शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि इस मंदिर में स्थापित मूर्ति को देखकर कोई भी पहचान जाएगा कि यह भगवान बुद्ध की मूर्ति है, लेकिन स्थानीय लोग आज भी अपनी आंखों को बंद करते हुए मार्गदाता से मुक्ति की अपील किए जा रहे हैं। **देखें चित्र संख्या 90 में।**

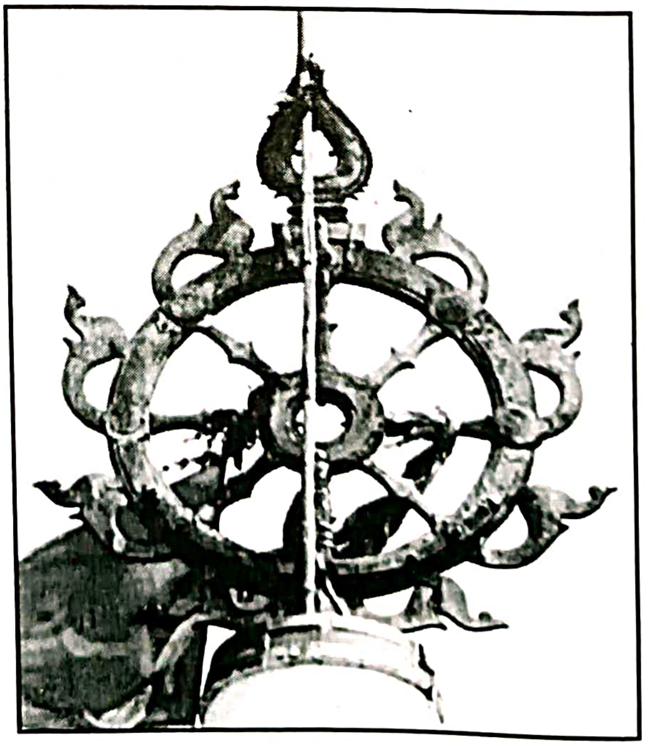
इस मंदिर के पास जो तालाब है, उस तालाब के किनारे भी काफी मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं।

उन मूर्तियों पर जो लिखावट है, वह लिखावट पालकालीन बम्ही-बंगला के संक्रमण काल वाली है। जिसे **चित्र संख्या 91 में देखें।** इसलिए उस लिखावट को देखकर दावे के साथ कहा जा सकता है कि यह पालकालीन लिखावट है, यानी मूर्तियों का निर्माण भी पालकालीन ही है। अब यह बात तो सभी को पता है कि पाल शासकों ने भगवान बुद्ध के ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु एक विश्वविद्यालय की स्थापना भी करवाई थी, जिस विश्वविद्यालय का नाम 'विक्रमशीला विश्वविद्यालय' था। अब आप स्वयं समझ सकते हैं कि इस बड़गांव में पालकालीन भगवान बुद्ध की मूर्तियों की स्थापना किस उद्देश्य से की गई होगी! लेकिन आज विश्व को ज्ञान देने वाले नालंदा के लोग, स्वयं अज्ञानता के दलदल में पड़कर अंधभक्ति में लीन हैं।

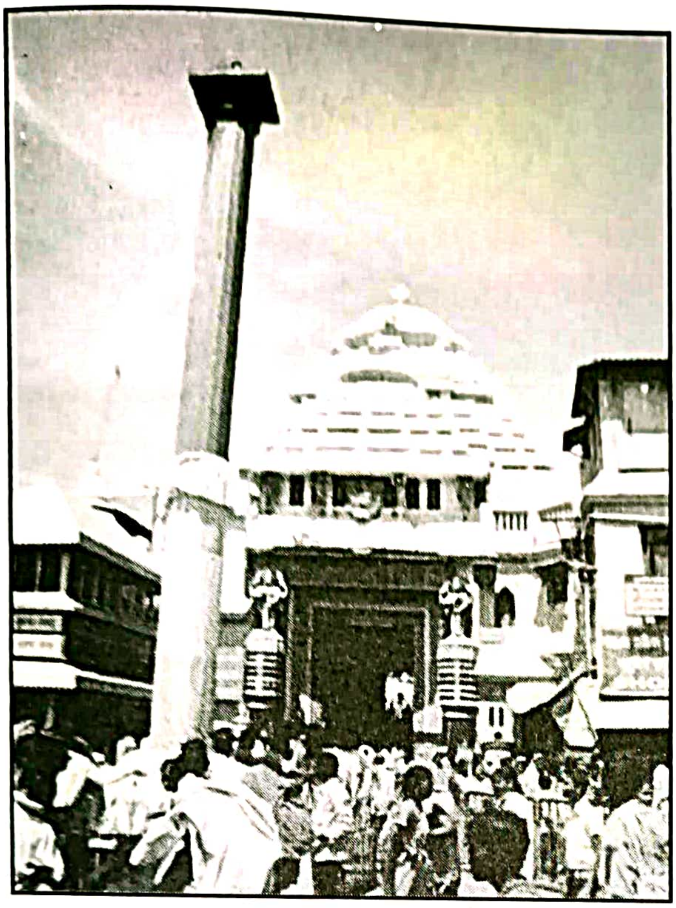
साक्ष्य संख्या : 23

वैष्णव पंथ द्वारा काबिज मंदिर
जगन्नाथ मंदिर

इस मंदिर का जीर्णोद्धार कलिंग राजा अनंतवर्मन चोडगंग देव ने 1174 ई. में करवाया था। यानी इसकी स्थापना पूर्वकाल की रही होगी जिसको इन्होंने अपनी वैष्णव परंपरा और संत रामानंद के अनुसार परिवर्तित करवाया था। इसलिए इस मंदिर पर गौडीय वैष्णव संप्रदाय के लोगों का विशेष प्रभाव है।



चित्र संख्या (92)



चित्र संख्या (93)

कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस मंदिर के स्थान पर पूर्व में एक बौद्ध स्तूप था। उस स्तूप में गौतम बुद्ध का एक दांत रखा था। बाद में इस **'दांत'** को सिरीलंका पहुंचा दिया गया। उस काल में बौद्ध धर्म के अवलोकितेश्वर मार्ग को वैष्णव संप्रदाय ने मनोसात कर लिया था। यह घटना दसवीं शताब्दी के लगभग की है।

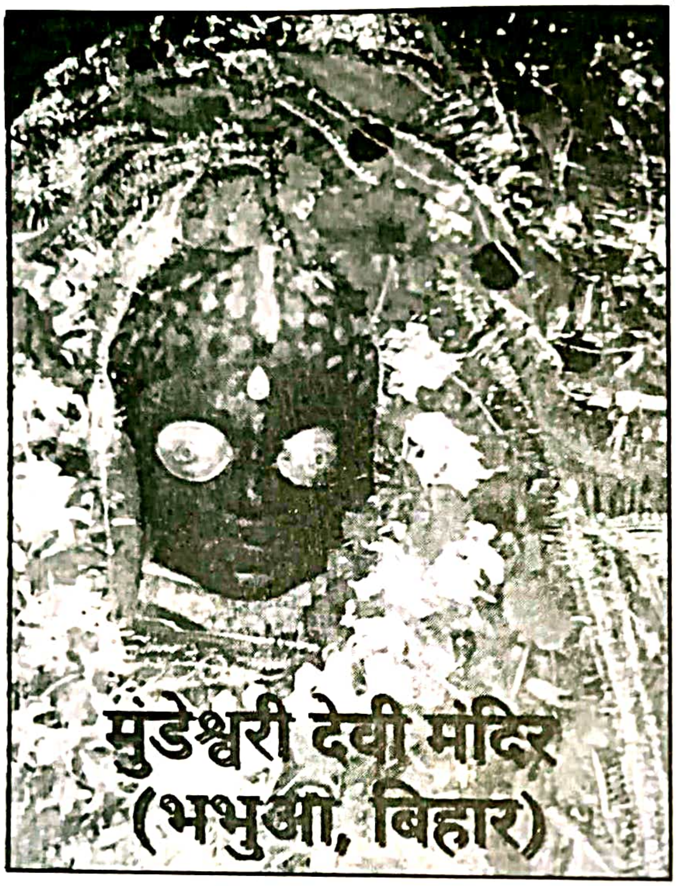
आइये उस वैष्णव मंदिर के बुद्ध मंदिर होने के साक्ष्य पर गौर करते हैं। सर्वप्रथम यह मंदिर वक्र रेखीय आकार का है, जिसके शिखर पर (गौतम बुद्ध का आष्टांगिक मार्ग) आठ अंगों वाले मार्ग का प्रतीक चक्र लगा है, जिस चक्र के साथ बुद्ध का प्रतीक हाथी का सिर भी लगा है। जिसे **चित्र संख्या (92) में देखें।** साथ ही इस मंदिर के प्रवेश द्वार पर दो सिंह विराजित हैं, जो सम्राट अशोक का रक्षित प्रतीक-चिह्न है। आज भी इस मंदिर के मुख्य द्वार के ठीक सामने सम्राट अशोक का एक लाट खड़ा है। इन सभी साक्ष्यों को आज भी **चित्र संख्या (93) में** देखा जा सकता है।

साक्ष्य संख्या : 24

शाक्त पंथ द्वारा काबिज मंदिर
मुंडेश्वरी देवी मंदिर (बिहार)

बिहार की कैमूर पहाड़ी पर अवस्थित 'मुंडेश्वरी देवी' मंदिर है। इस मंदिर की कोई प्रामाणिकता नहीं मिलती है, अगर मिलती है तो सिर्फ किंवदंती। लेकिन इस मंदिर की बाहरी संरचना गुप्तकाल जैसी बनावट और पत्थरों के सदृश्य है।

पहाड़ी के ऊपर मंदिर जाने के रास्ते पर बनी सीढ़ियों पर तमिल भाषा



चित्र संख्या (94)

में अंकित कुछ शब्द मिलते हैं और साथ ही तमिल संगम काल के कुछ सिक्के भी मिले हैं। यानी दक्षिण का 'संघ काल' जो वज्रयानी व्यवस्था का काल था, उसका साक्ष्य छोड़ता है। उसी मंदिर के आस-पास काफी मात्रा में टूटी हुई अवस्था में बिखरी मूर्तियां मिली हैं। जिसको आज पटना के संग्रहालय में देखा जा सकता है।

आज ब्राह्मणों द्वारा अपने अंधभक्तों को इस मंदिर की चामत्कारिक शक्ति से काफी डराया जाता है। लेकिन इस स्थान पर जिनकी मूर्ति लगी है वे सभी मनुष्यों को किसी भी प्रकार की चामत्कारिक शक्ति के वहम से दूर रहने को कहते थे। अब आप उस मुंडेश्वरी देवी मंदिर में विराजित मूर्ति को गौर से देखें! कुछ दिखा! मूर्ति के सिर को देखें! कुछ दिखा! इस मूर्ति में आपको कुछ दिखा तो समझो कि आप ब्राह्मणी आडंबर में आडंबर मुक्त होते हुए उस अंध परंपरा से निकलते हुए 'अपनी बुद्धि के शरण' में जा रहे हो। मुंडेश्वरी देवी की मूर्ति को **चित्र संख्या (94) में देखें।**

साक्ष्य संख्या : 25

शाक्त पंथ द्वारा काबिज मंदिर
भद्रकाली मंदिर

मां भद्रकाली मंदिर, ईटखोरी में महाने एवं बक्सा नदी के संगम पर अवस्थित है। ईटखोरी, चतरा जिला (झारखंड) में एक प्रखंड मुख्यालय है। ईटखोरी हजारीबाग से उत्तर में, चौपारण से लगभग 16 किलोमीटर पश्चिम में स्थित है।

अब आप भी इस माता की तस्वीर को देखें, इस आकृति में शुद्ध रूप से



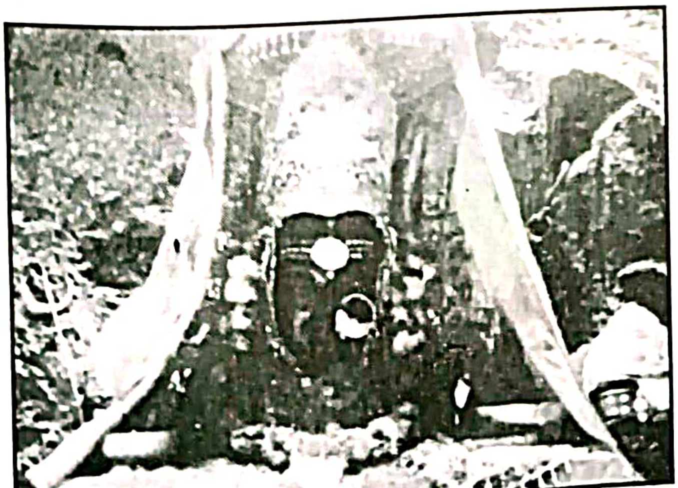
चित्र संख्या (95)

बुद्ध की आकृति है। फिर भी ब्राह्मण इस मूर्ति की आकृति को चुंदरी और मुकुट से छुपाते हुए अंधभक्तों को इसे भद्रकाली कहकर मूर्ख बना रहे हैं।

प्रमाण आपके सम्मुख है। यानी इस मंदिर के पंडा-पुजारियों को इन सभी बातों की जानकारी है, लेकिन वह पुजारी अपनी जीविकोपार्जन के स्वार्थ हेतु इस परंपरा के अनुयायियों को उल्लू बनाने में कोई लज्जा-संकोच नहीं कर रहे हैं। आप **चित्र संख्या (95) में** भद्रकाली को देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 26

शाक्त पंथ द्वारा काबिज मंदिर
किरीट शक्तिपीठ



चित्र संख्या (96)

भारत में कुल 51 शक्तिपीठ हैं, जिनमें प्रथम शाक्ति पीठ में **'किरीट शक्तिपीठ'** का नाम आता है। यह स्थल हावड़ा स्टेशन से 7.5 कि.मी. बड़नगर के पास हुगली नदी (गंगा) के तट पर अवस्थित है। ब्राह्मणी मान्यता अनुसार यहां माता का 'मुकुट' गिरा था।

अब आप माता के इस मुकुट को गौर से देखें और तय करें कि इस मुकुट के अंदर जो आकृति दिख रही है वह गौतम बुद्ध की आकृति है या किसी

किरीट नाम की कोई माता की है? आज लोगों के अंदर इतनी जानकारी प्राप्त होने के बाद भी ब्राह्मणों द्वारा कैसे दिग्भ्रमित किया जाता है उसका साक्षात नमूना आपके सामने है। **आप चित्र संख्या (96) में** मुकुट देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 27

वैदिक परंपरा द्वारा नवस्थापित
आंजनधाम



चित्र संख्या (97)

कर्मकांडी ब्राह्मणों के अनुसार भगवान हनुमान जी के जन्म का इतिहास झारखंड के गुमला जिले के उत्तरी क्षेत्र में अवस्थित आंजन ग्राम से जोड़कर देखा जाता है। सभी की ऐसी मान्यता है कि यहीं माता अंजनी ने भगवान हनुमान को जन्म दिया था। माता अंजनी के नाम से ही इस गांव का नाम आंजन पड़ा है। आंजनधाम गुमला शहर से 20 कि.मी. दूर जंगलों के बीच है। इस जगह पर हनुमान जी की जो बाल्यकाल की एक पौराणिक मूर्ति मिली है, उसे आज कोई भी देखकर बता सकता है कि यह मूर्ति मार्गदाता गौतम बुद्ध के बाल्यकाल की मूर्ति है। लेकिन इन सभी अंध-भक्तों को समझाए कौन!

1953 में अंध श्रद्धालुओं ने मिलकर अंजनी माता के साथ अन्य मूर्तियों को स्थापित करते हुए एक मंदिर का रूप दिया। **चित्र सं. (97) में** आप लोग पौराणिक मूर्ति को देख सकते हैं।

साक्ष्य संख्या : 28

वैदिक परंपरा द्वारा अपहृत
'ओम'

अभी तक आप लोग साक्ष्य के तौर पर शैव पंथियों द्वारा शिवलिंग, वैष्णव पंथियों द्वारा अवतार मंदिर और शाक्त पंथियों द्वारा शक्ति-पीठ के मंदिर देखे हैं। अव इन तीनों (शैव, वैष्णव, शाक्त पंथ) के मूल मंत्र में जिस 'मंत्र ध्वनि' का प्रयोग होता था, उस ध्वनि धातु की प्रामाणिकता देखें कि वह प्रथम बार कहां और किस रूप में पाई गई थी।

'ओम मणि पद्मे हुम'



चित्र संख्या (98)

भारत में स्थापित महायानी परंपरा के बाद से अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व द्वारा वज्रयानी, तंत्रयानी, शक्तियानी परंपरा का उदय होता है। इन तीनों में एक ध्वनि मंत्र का उपयोग मिलता है। इन तीनों मार्गों का उद्गम लगभग छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के बीच में 'महायान वौद्ध' परंपरा से निकलता है। इस ध्वनि मंत्र का संवंध अवलोकितेश्वर बुद्ध (करुणा के वोधिसत्त्व) से है।

आज कुछ जगहों पर यह मंत्र अवलोकितेश्वर बुद्ध के साथ शिलाओं पर भी लिखा हुआ मिलता है। उस समय की बौद्ध परंपरा में 'प्रार्थना चक्र' होता था जिस पर यह ध्वनि मंत्र 'ओम मणि पद्मे हुम' लिखा रहता था। धम्म-चक्र का प्राप्त साक्ष्य नीचे दे रहा हूं।

यह मंत्र भारत के साथ-साथ अन्य देशों के भी प्रार्थना चक्र पर लिखा हुआ मिलता है, जिस पर उस देश की भाषा में 'ओम मणि पद्मे हुम' लिखा हुआ देख सकते हैं।

जैसे:– तिब्बत :– ཨོཾ་མ་ཎི་པདྨེ་ཧཱུྃ། मंगोलिया :– [illegible], चीन :– 唵嘛呢叭咪吽, कोरिया :– 옴 마니 반메 훔, जापान :– オンマニパドメフン, बर्मा :– òUN ma ni̱ pa? mè hòUN, वियतनाम :– Án ma ni bát mê hồng, थाई :– โอม มณี ปัทเม หุม', फिलिपीन :– Um ma ni pa mi hon ।

प्रार्थना चक्र **चित्र संख्या** (98) में देखें।

घालमेल का निष्कर्ष

आप लोगों ने ऊपर साक्ष्यों के साथ प्राकृतिक हिमखंड रूपी स्तूप से निकलने वाली गंगोत्री में विपस्सना जैसी मंदाकनी और अलकनंदा जैसी आर्य सत्य के मिलने से बनने वाली कुदरती ज्ञान रूपी बौद्धिक गंगा को देखा। इसी कुदरती बुद्धि रूपी गंगा में लगभग हजार वर्षों के बाद से अवलोकितेश्वर रूपी परंपरा की उत्पत्ति होती है, जिसमें कुछ व्यक्ति अपने आपको अलौकिक ईश्वर समझने लगे। जिसका परिणाम इस बौद्धिक रूपी शील, समाधि, प्रज्ञा वाली गंगा में से इन लोगों ने अपने स्वार्थ में हुबली और पद्मा जैसे कई अन्य छोटे-छोटे शैव पंथ, वैष्णव पंथ और शाक्त पंथ का उद्गम करने लगे। जिसको आप लोगों ने साक्ष्यों के साथ ऊपर में देखा है। ये हुगली जैसे शैव पंथ और पद्मा जैसे वैष्णव पंथ ही आगे बंगाल की खाड़ी में मिलकर खारा पानी के जैसे छुआछूत वाला विध्वंसक वैदिक संप्रदाय बनता है, जो उस समुद्री खारे पानी जैसा किसी के पीने लायक, भोजन बनाने लायक या किसी के खेती करने जैसे अन्य कार्यों के लायक भी नहीं होता है। आज लोग उसको सिर्फ देख सकते हैं कि मेरी वैदिक समूह रूपी खाड़ी इतनी विशाल है।

इतने साक्ष्य देखने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति इस वैदिक संप्रदाय रूपी युग को 850 ईस्वी से पूर्व का मानता है तो यह सिर्फ उसकी मान्यता हो सकती है, लेकिन उस मान्यता को साक्ष्यों के साथ-साथ जान्यता में बदलने का काम आज तक किसी ने नहीं किया है।

वैसे यदि कोई बंधु-बांधव हैं जो इस वैदिक सभ्यता, वेद ग्रंथ, संस्कृत की ऋचाओं और ईश्वरीय मूर्तियों का कोई प्राचीनकालीन साक्ष्य दिखा सकते हैं तो उनका स्वागत है।

इन बातों पर आज अधिकांश बंधु कहते हैं कि मैं पुरातत्व का ज्ञाता थोड़े हूं कि इन सब बातों की जानकारी मेरे पास होंगी! बात सही है कि आप उसके ज्ञाता नहीं हैं, लेकिन यह भी नहीं है कि आप अज्ञानी हैं! इसके लिए बेहतर

तो यही होगा कि आप अपने निकटतम किसी राष्ट्रीय संग्रहालय में चले जाएं। अब आप उस संग्रहालय में 850 ईस्वी से पूर्व में उत्खनन से प्राप्त सभी साक्ष्यों को देखकर अपनी अनुभूति वाली प्रज्ञा को जाग्रत करें। फिर आप वताएं कि **क्या इस संग्रहालय में उत्खनन से प्राप्त कोई साक्ष्य वैदिक सभ्यता, वेद ग्रंथ, संस्कृत की ऋचाएं, ब्राह्मण वर्ण युक्त समाज या वैदिक देवी-देवता की मूर्ति आदि की प्राचीनता को दर्शाता है?**

नहीं न!

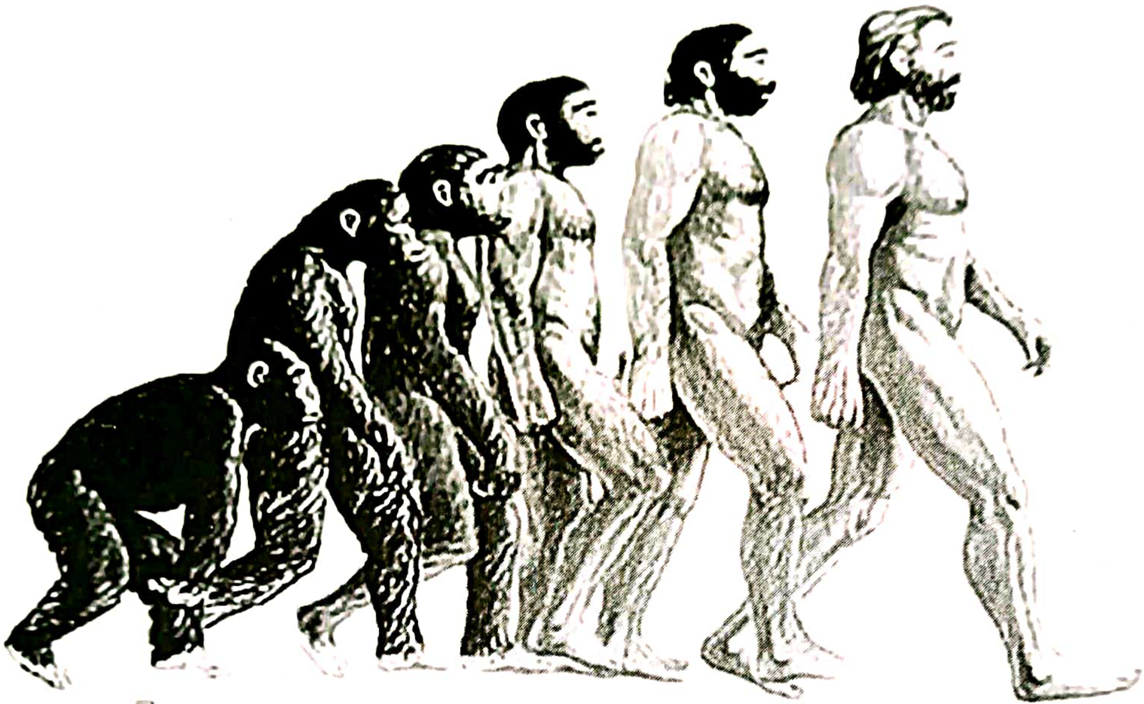
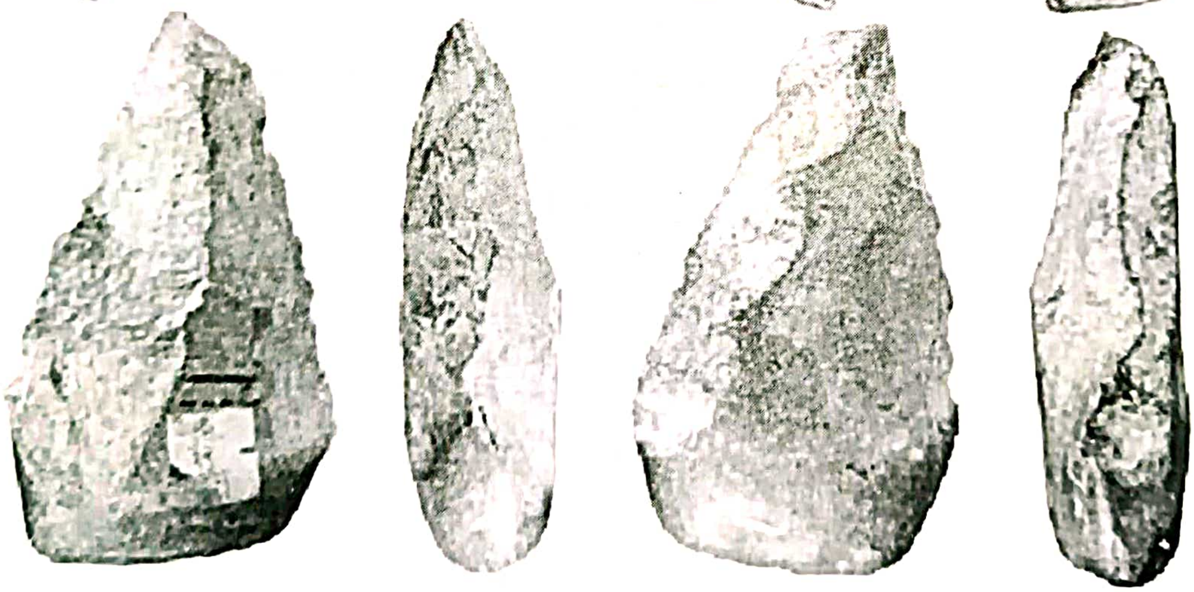
भारत के सभी संग्रहालय में रखे साक्ष्य आज चीख-चीख कर कह रहे हैं कि 850 ईस्वी से पूर्व में सिर्फ प्राकृतिक ज्ञान वाली बौद्धिक सभ्यता-संस्कृति ही थी, इसके अलावा अन्य कोई भी वैदिक सभ्यता-संस्कृति का साक्ष्य व प्रमाण नहीं है। साथ ही 850 ईस्वी से पूर्व की सभ्यता में सुप्रसिद्ध अनेक शिक्षण संस्थान और अनेक नामचीन सम्राटों का शासन हुआ करता था। उन सभी शिक्षण संस्थानों और सम्राटों द्वारा लिखित या लिखवाए गए अनेक अभिलेख आज खुदाई में प्राप्त हुए हैं। अब आप लोग उस प्राप्त अभिलेख में से कहीं भी या किसी भी जगह में ऐसा लिखा हुआ दिखा सकते हैं, जिससे आज यह प्रमाणित हो कि उस काल में भी वैदिक ग्रंथ और ब्राह्मण वर्ण जैसी कुछ सभ्यता संस्कृति मौजूद थी!

नहीं न!

फिर भी आज वैदिक परंपरा से लाभ प्राप्त भारतीय इतिहास के लेखक अपनी लेखनी द्वारा सकारात्मक अथवा नकारात्मक किसी भी तरह उस वैदिक ग्रंथ और ब्राह्मण वर्ण को सत्यापित करते आ रहे हैं। आज उसी का परिणाम है कि उन लेखकों द्वारा लिखित सभी किताबों से शिक्षित अधिकांश लोग ब्राह्मण वर्ण और वैदिक ग्रंथों की पुरातात्विक प्रामाणिकता को देखे बिना ही उसको मानते हुए अनुसरण करते चले आ रहे हैं।

भाई! उस लेखक को तो ऐसा लिखने से सामाजिक तौर पर मान-सम्मान प्राप्त हो रहा है, लेकिन उनके अनुयायियों को क्या मिल रहा है?

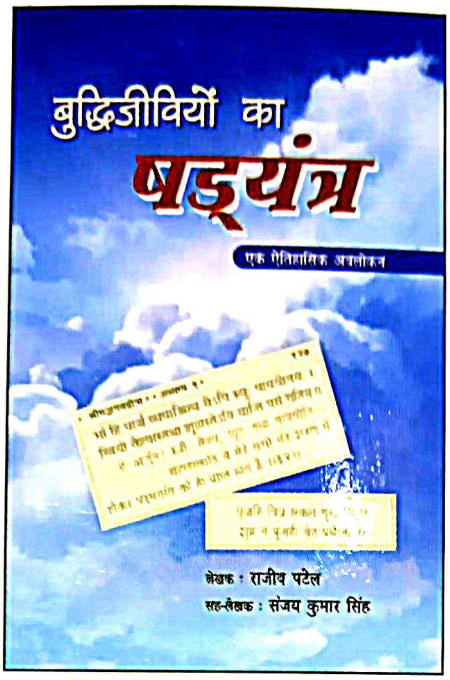
॥ भवतु सब्बमंगलं ॥

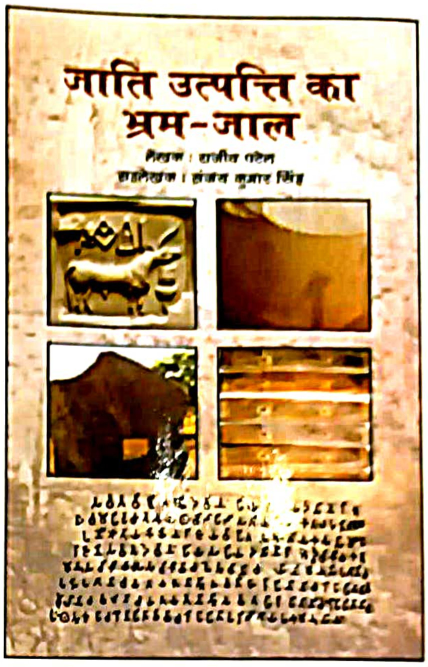
टिप्पणी

An Eye opening book. Every Indian especially the people of lower strata who were labelled as Shudras by the notorious Hinduism, should read this book. Hinduism better should be called as Brahminism.

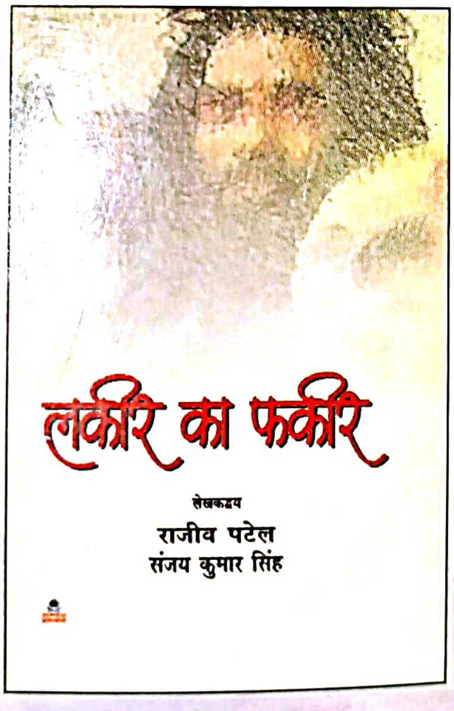
सम्यक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित लेखकद्वय की अन्य रचनाएं



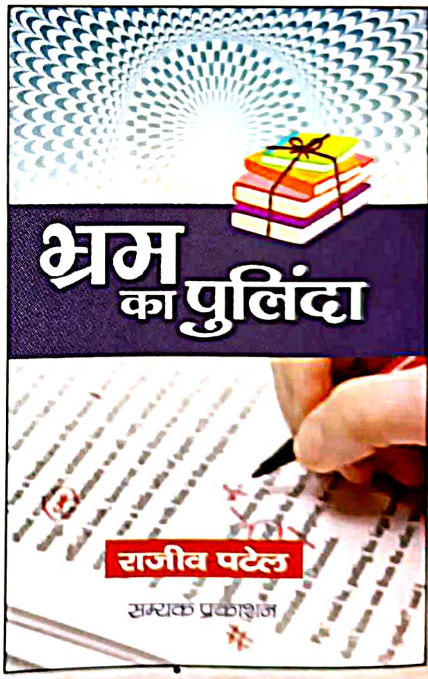
₹125



₹40



₹40



₹250

ISBN : 978-93-91503-06-2
9 789391 503062
₹ 250

सम्यक प्रकाशन
32/3, पश्चिम पुरी, नई दिल्ली–110063
मो. : 9810249452, 9818390161
Email : hellosamyak1965@gmail.com Web : www.samyakprakashan.in